आधुनिक राजनीति
की
चिन्त्य-धाराएँ

•

[संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण]

•

वेदव्रत शर्मा
एम ए., बी टी
अध्यक्ष राजनीति-विभाग
जे एस. हिन्दू डिग्री कॉलेज, अमरोहा



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी : १

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी–१

●

मुद्रक : मायापति प्रेस
मध्यमेश्वर, वाराणसी–१

●

संस्करण प्रथम (जनवरी १९६०)
द्वितीय (सितम्बर १९६१)

●

मूल्य : सात रुपए

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मेरा ध्येय द्विमुखी रहा है। प्रथम तो, राज्यशास्त्र के छात्रों को हिन्दी में आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं पर एक उत्तम पुस्तक प्रदान करना और इस रचना से न केवल छात्र-वर्ग ही लाभान्वित हो प्रत्युत जन साधारण भी लाभ उठा सकें, क्योंकि आज जबकि भारत में लोकतन्त्र की प्रतिष्ठा हो गयी है और शासनारूढ़ दल ने अपना लक्ष्य 'समाजवादी समाज की रचना' घोषित कर दिया है तो ऐसी स्थिति में यह सभी नागरिकों के लिए आवश्यक हो जाता है कि व राजनीति सम्बन्धी समस्त विचारों को भली-भाँति समझें। आज के इस मार्क्सवादी युग में जबकि साम्राज्यवादी प्राचीरें ढह रही हैं और शोषण की प्रक्रिया विलुप्त हो रही है तथा साम्यवाद या समाजवाद द्रुतगति से अपनी मान्यता हुआ मानव-समाज पर छाता जा रहा है, जिसके कारण पूँजीवादी राष्ट्र भयाक्रान्त एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये हैं। ऐसी तनावपूर्ण स्थिति में यह एक विचारणीय प्रश्न हो जाता है कि मानव-समाज का हित पूँजीवाद में है या मार्क्सवाद में या गाँधीवाद में या जनतांत्रिक समाजवाद में या अन्य किसी दर्शन में। अतः एक अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से भी यह आवश्यक है कि हम इन विवादास्पद वादों का अनुशीलन करें और कोई समुचित हल खोजें, जो मानव-समाज को उचित दिशा प्रदान कर सके। द्वितीय आज हिन्दी राष्ट्रभाषा क पद पर प्रतिष्ठित हो गयी है और विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्ययन एवं अध्यापन का माध्यम हिन्दी ही है। अतः प्रत्येक राष्ट्र-सेवी का हिन्दी वाङ्मय को समृद्धशाली बनाना भी एक पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है। मुझे विश्वास है, मेरी यह कृति इस दिशा से भी हिन्दी साहित्य कलेवर के परिवर्द्धन में सहायक सिद्ध होगी।

मैं उन सभी लेखकों का परम आभारी हूँ जिनकी पुस्तकों से मुझे इसके लिखने में सहायता मिली है।

अन्त में, मैं प्रिंसिपल श्री रमाशंकर नाथ जी त्रिपाठी, बुद्ध डिग्री कॉलेज, कुशी नगर (देवरिया) के प्रति भी कुछ लिख देना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। वस्तुतः मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हूँ। उनकी सतत प्रेरणा और निरन्तर प्रोत्साहन के कारण ही यह पुस्तक पूर्ण हो सकी है। प्रकाशक श्रीकृष्णचन्द्र जी बेरी का भी मैं बड़ा आभारी हूँ जिन्होंने इसके मुद्रण में इतनी तत्परता दिखायी।

आशा है, यह पुस्तक पाठकों को उपयोगी सिद्ध होगी।

—वेदव्रत शर्मा

१

आदर्शवाद (Idealism)

राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के अनेक 'नामकरण' किये गये हैं। कुछ विचारक इसे निरंकुश सिद्धान्त (Absolutist theory) के नाम से पुकारते हैं, तो अन्य दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical theory), और कुछ मनीषियों की दृष्टि में यह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) भी है किन्तु मैक आइवर (Mac Iver) ने तो इसे राज्य का रहस्यात्मक सिद्धान्त (Mystical theory) तक कहने में संकोच नहीं किया है।

वस्तुतः राजनीतिक दर्शन का यह प्राचीनतम सिद्धान्त है। आदर्शवाद वह दर्शन या सिद्धान्त है जिसका यह दावा है कि संसार में मौलिक यथार्थता केवल आत्मा अथवा मस्तिष्क है, एवं किसी पदार्थ का रूप रंग इस पर निर्भर करेगा कि अमुक व्यक्ति उस वस्तु को किस दृष्टि से देखता है तथा अपने मानस-पटल पर उसकी कल्पना का चित्र किस प्रकार अंकित करता है।

जो भी विभिन्न 'नामकरण' प्रस्तुत सिद्धान्त के अभिव्यंजनार्थ उपस्थित किये गये हैं, वस्तुतः वे इस सिद्धान्त की वास्तविक प्रकृति का चित्रण करते हैं। किसी सीमा तक उन्हें अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता परन्तु इसे राज्य के रहस्यात्मक सिद्धान्त की संज्ञा से विभूषित करना उसके प्रति घोर असहिष्णुता व्यक्त करना है। वास्तविकता तो यह है कि इस सिद्धान्त के विविध नाम इसकी विभिन्न धाराओं का स्पष्टीकरण करते हैं। उदाहरणार्थ बोसांके (Bosanquet) इसे दार्शनिक सिद्धान्त कहता है, हाब हाउस (Hob House) इसे आध्यात्मिक सिद्धान्त बतलाता है तथा इस सिद्धान्त के अनेक उग्रवादी समर्थक इसे निरंकुश सिद्धान्त का नाम देते हैं।

प्रस्तुत सिद्धान्त को आदर्शवाद का सिद्धान्त तो इस कारण कहा जाता है कि यह राज्य की परिभाषा तथा व्याख्या उसके आदर्श स्वभाव और गुण के अनुसार करता है अर्थात् राज्य का आदर्श क्या है और उसे क्या होना चाहिए, चाहे वह अपने ध्येय से दूर ही क्यों न हो? निरंकुश सिद्धान्त इसलिए कहा

: १ :

आदर्शवाद (Idealism)

राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के अनेक 'नामकरण' किये गये हैं। कुछ विचारक इसे निरंकुश सिद्धान्त (Absolutist theory) के नाम से पुकारते हैं, तो अन्य दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical theory), और कुछ मनीषियों की दृष्टि में यह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) भी है किन्तु मैक आइवर (Mac Iver) ने तो इसे राज्य का रहस्यात्मक सिद्धान्त (Mystical theory) तक कहने में संकोच नहीं किया है।

वस्तुतः राजनीतिक दर्शन का यह प्राचीनतम सिद्धान्त है। आदर्शवाद वह दर्शन या सिद्धान्त है जिसका यह दावा है कि संसार में मौलिक यथार्थता केवल आत्मा अथवा मस्तिष्क है एवं किसी पदार्थ का रूप रंग इस पर निर्भर करेगा कि अमुक व्यक्ति उस वस्तु को किस दृष्टि से देखता है तथा अपने मानस-पटल पर उसकी कल्पना का चित्र किस प्रकार अंकित करता है।

जो भी विभिन्न नामकरण' प्रस्तुत सिद्धान्त के अभिव्यंजनार्थ उपस्थित किये गये हैं, वस्तुतः वे इस सिद्धान्त की वास्तविक प्रकृति का चित्रण करते हैं। किसी सीमा तक उन्हें अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता परन्तु उसे राज्य के रहस्यात्मक सिद्धान्त की संज्ञा से विभूषित करना उसके प्रति घोर असहिष्णुता व्यक्त करना है। वास्तविकता तो यह है कि इस सिद्धान्त के विविध नाम इसकी विभिन्न धाराओं का स्पष्टीकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, बोसांके (Bosanquet) इसे दार्शनिक सिद्धान्त कहता है, हाब हाउस (Hob House) इसे आध्यात्मिक सिद्धान्त बतलाता है, तथा इस सिद्धान्त के जर्मन उग्रवादी समर्थक इसे निरंकुश सिद्धान्त का नाम देते हैं।

प्रस्तुत सिद्धान्त को आदर्शवाद का सिद्धान्त तो इस कारण कहा जाता है कि यह राज्य की परिभाषा तथा व्याख्या उसके आदर्श स्वभाव और गुण के अनुसार करता है अर्थात् राज्य का आदर्श क्या है और उसे क्या होना चाहिए, चाहे वह असलियत से दूर ही क्यों न हो ? निरंकुश सिद्धान्त इसलिए कहा

आधुनिक राजनीति

की

चिन्त्य-धाराएँ

•

[संशोधित एवं परिमार्जित संस्करण]

•

वेदव्रत शर्मा

एम ए., पी डी

अध्यक्ष राजनीति-विभाग

जे. एस. हिन्दू डिग्री कॉलेज, अमरोहा



हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी : १

द्वितीय संस्करण की भूमिका

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द लिखते हुए प्रसन्नता की अनुभूति स्वाभाविक है। पुस्तक का भारत के विभिन्न अंचलों में पर्याप्त अपेक्षित स्वागत हुआ है। छात्र, अध्यापक वर्ग एवं राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। मुझे विश्वास है, द्वितीय संस्करण जिसमें अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, सर्वोदय, राज्य सत्ता एवं अद्वैतवाद, कम्यून और वर्ग सिद्धान्त अध्यायों का समावेश और यत्र तत्र परिवर्तन एवं संशोधन हुआ है अपनी नवीन साज-सज्जा के साथ पाठकों को अधिकाधिक रुचिकर प्रतीत होगा।

—वेदव्रत शर्मा

अनुक्रम

१

आदर्शवाद (Idealism)

राज्य के आदर्शवादी सिद्धान्त के अनेक 'नामकरण' किये गये हैं। कुछ विचारक इसे निरंकुश सिद्धान्त (Absolutist theory) के नाम से पुकारते हैं, तो अन्य दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical theory), और कुछ मनीषियों की दृष्टि में यह एक आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory) भी है किन्तु मैक आइवर (Mac Iver) ने तो इसे राज्य का रहस्यात्मक सिद्धान्त (Mystical theory) तक कहने में संकोच नहीं किया है।

वस्तुतः राजनीतिक दर्शन का यह प्राचीनतम सिद्धान्त है। आदर्शवाद वह दर्शन या सिद्धान्त है जिसका यह दावा है कि संसार में मौलिक यथार्थता केवल आत्मा अथवा मस्तिष्क है, एवं किसी पदार्थ का रूप रंग इस पर निर्भर करेगा कि अमुक व्यक्ति उस वस्तु को किस दृष्टि से देखता है तथा अपने मानस-पटल पर उसकी कल्पना का चित्र किस प्रकार अंकित करता है।

जो भी विभिन्न 'नामकरण' प्रस्तुत सिद्धान्त के अभिव्यंजनार्थ उपस्थित किये गये हैं, वस्तुतः वे इस सिद्धान्त की वास्तविक प्रकृति का चित्रण करते हैं। किसी सीमा तक उन्हें अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता परन्तु इसे राज्य के रहस्यात्मक सिद्धान्त की संज्ञा से विभूषित करना उसके प्रति घोर असहिष्णुता व्यक्त करना है। वास्तविकता तो यह है कि इस सिद्धान्त के विविध नाम इसकी विभिन्न धाराओं का स्पष्टीकरण करते हैं। उदाहरणार्थ बोसांके (Bosanquet) इसे दार्शनिक सिद्धान्त कहता है, हॉब हाउस (Hob House) इसे आध्यात्मिक सिद्धान्त बतलाता है, तथा इस सिद्धान्त के जर्मन उग्रवादी समर्थक इसे निरंकुश सिद्धान्त का नाम देते हैं।

प्रस्तुत सिद्धान्त को आदर्शवाद का सिद्धान्त तो इस कारण कहा जाता है कि यह राज्य की परिभाषा तथा व्याख्या उसके आदर्श स्वभाव और गुण के अनुसार करता है अर्थात् राज्य का आदर्श क्या है और उसे क्या होना चाहिए, चाहे वह अपने ध्येय से दूर ही क्यों न हो? निरंकुश सिद्धान्त इसलिए कहा

जाता है, क्योंकि राज्य को सर्व-शक्ति-सम्पन्न मानता है तथा राज्य को व्यक्ति पर निरंकुश शक्ति प्रदान करता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त का विकास

आदर्शवाद का प्रभाव केवल राजनीति तक ही परिमित नहीं है, वरन् दर्शन, आचारशास्त्र, साहित्य और कलादि जीवन के विविध क्षेत्रों में होता है। राजनैतिक आदर्शवाद की उत्पत्ति दार्शनिक अद्वैतवाद से हुई है। अद्वैतवाद के अनुसार इस मायावी विश्व के मूल में केवल एक ही तत्त्व है और उसी के परिणाम-स्वरूप नाना नामरूपात्मक इस सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है, अतः इस मत को अद्वैत की संज्ञा प्रदान की गई है। परन्तु इस दृश्य जगत् का यह मौलिक तत्त्व क्या है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है, जिसके सम्बन्ध में राजनैतिक विचारकों में मतभेद है। कुछ चिन्तकों की धारणा है कि यह मौलिक तत्त्व जड़ पदार्थ (Matter) है। इनको हम जड़ाद्वैतवादी (Materialistic monists) कहते हैं। इस वर्ग में भारत देश के चार्वाक-पन्थी तथा पाश्चात्य दार्शनिक जिनमें हेकेल (Heckel), कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और अन्य वैज्ञानिक प्रमुख हैं, आते हैं। किन्तु इस मत के सर्वथा विपरीत अन्य विचारकों की दृष्टि में इस विश्व का मूल तत्त्व जड़ पदार्थ न होकर चेतन आत्मा है। वे चेतनाद्वैतवादी (Spiritualistic monists) कहे जाते हैं। वस्तुतः चेतनाद्वैतवाद ही आदर्शवाद की दार्शनिक आधारशिला है। इस विश्व का समस्त प्रपंच आत्मा या चेतन-तत्त्व से ही बना है। आत्मा सभी में निवास करती है, अतः सभी को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कम या अधिक मात्रा में आभास होता है। आत्मा सर्वथा पूर्ण और शक्तिमय है, किन्तु जब उसकी परिणति भौतिकता में हो जाती है तो संस्कार-विशेषवश उसका यह पूर्णत्व मलिन हो जाता है। इस मलिनता के कारण उसमें शक्तिहीनता नहीं आ जाती, अपितु उसकी अन्तःप्रवृत्ति सदा ही उस पूर्णत्व को फिर से प्राप्त कर लेने की ओर सतत प्रयत्नशील रहती है। पूर्णत्व की ओर निरन्तर प्रयत्नशील इस मानवीय अन्तःप्रेरणा को ही नैतिकता अथवा कर्तव्याकर्तव्य विवेक कहते हैं। आदर्शवाद के अनुसार राज्य हमारी नैतिक मनोवृत्ति का ही अनिवार्य परिणाम है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास हेतु राज्य की आवश्यकता होती है। इसीलिए राज्य कोई कृत्रिम संस्था न होकर मानवीय प्रकृति का स्वाभाविक एवं नित्य परिणाम है। अरस्तू के मत में, 'मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है' (Man is a political animal)। हम अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर राज्य को मान्यता प्रदान करते हैं। राज्य

के नियमों का पालन हम इस प्रकार करते हैं कि वे हमारी औचित्य-बुद्धि के अनुसार हैं। वह एक नैतिक संस्था है। उसका कर्तव्य हमारी आत्मोन्नति में सहायता पहुँचाना है। राज्य के प्रति जो हमारी निष्ठा एवं श्रद्धा है उसका एकमात्र कारण यह है कि वह व्यक्ति को पूर्णत्व की ओर ले जाता है। जीवन का परमोद्देश्य आत्मोन्नति (Self-realisation) ही है, अतः राज्य के लिए प्रत्येक प्रकार का त्याग और बलिदान करना चाहिए।

प्राचीन आदर्शवाद

किसी भी नाम से इस सिद्धान्त को सम्बोधित किया जाय, किन्तु इस आदर्शवादी विचारधारा का एक लम्बा इतिहास है जो कि पूर्णतया अज्ञात नहीं है। यह आदर्शवादी सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन में एक विशिष्ट स्थान रखता है और आधुनिक विचारधारा को इसने यथेष्ट रूप से प्रभावित किया है। यह यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू के युग में उनकी विचारसरणि के साथ उद्भूत हुआ जिनके विचारों ने भावी राजनीतिक चिन्तकों की पीढ़ी को प्रभावित किया। प्लेटो के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि रिपब्लिक' (The Republic) में राजनीतिक आदर्शवाद का सर्वप्रथम विवेचन हुआ है। प्लेटो के अनुसार, 'राज्य मानव-आत्मा की बाह्य छाया की मूर्ति है। 'राज्य किसी पत्थर या लकड़ी से नहीं उत्पन्न हुआ है अपितु वह मानवों के मस्तिष्क अथवा बुद्धि की उपज है।"[1]

प्लेटो की दृष्टि में आत्मा की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—बुद्धि (Reason) उत्साह (Spirit) और वासना (Appetite)। इन्हीं के अनुसार राज्य में भी तीन वर्ग हैं—दार्शनिक शासकों का (बुद्धि), रक्षक योद्धाओं का (उत्साह) और भोग्य वस्तुओं का (वासना) है। अतः राज्य आत्मा की बाह्य प्रतिमूर्ति है। प्लेटो के अनुसार राज्य में व्यक्ति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसके अधिकार और उसका नैतिक विकास सभी राज्य पर निर्भर करते हैं। व्यक्ति इनका उपभोग तथा अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य में रह कर तथा राज्य के द्वारा ही कर सकता है। प्लेटो के इन विचारों का प्रभाव अरस्तू पर भी पड़ा और उसने कहा—"राज्य स्वाभाविक है।' अरस्तू के सिद्धान्त में निरंकुशता के चिह्न देखने को मिलते हैं। उसके

1 'The State is nothing but human mind writ large' 'States do not come out of oak s or rocks it results from the activities of mind who live in them.'

कथनानुसार, "राज्य आत्मपूरित जीवन है। केवल राज्य में ही व्यक्ति श्रेष्ठ जीवन बिताने योग्य है तथा अपने अपने जीवन के पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। राज्य सभी गुणों का साझेदारी है।" अतः अरस्तू ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी कहा। उसने राज्य तथा समाज में भी कोई विभेद नहीं किया। इन दार्शनिकों की दृष्टि में राज्य एक आवयव इकाई (Organic unity) है। जिस प्रकार एक शरीर के विभिन्न भागों पर सम्पूर्ण की प्रधानता है, उसी प्रकार राज्य की प्रधानता अपने सभी सदस्यों पर है।

वस्तुतः आधुनिक आदर्शवादियों पर यूनानी दर्शन की अमिट छाप है। यूनानी दार्शनिकों ने उन्हें तीन प्रकार से प्रभावित किया—(१) राज्य को नैतिक दृष्टि से देखने तथा आचार या नीतिशास्त्र के द्वारा राजनीतिक सिद्धान्तों के विवेचन करने की प्रवृत्ति, (२) राज्य और समाज की एकरूपता की कल्पना और (३) राज्य एक आवयव है।

यूनानी युग में प्लेटो तथा अरस्तू का राज्य सम्बन्धी महान् आदर्श सार्वभौमरूप से स्वीकृत नहीं हो सका था जैसा कि जेम्स सेठ (James Seth) ने कहा है कि "यूनानी नीतिशास्त्र व्यक्तिवाद और विश्वबन्धुत्व की पुकार के साथ समाप्त हो गया।[1]

अरस्तू के बाद यूनानी विचारधारा लगभग दो हजार वर्षों तक दबी रही और उसका स्थान भौतिक सुखवाद, विरक्तिवाद और मध्यकालीन धार्मिकवाद आदि ने लिया। परन्तु १५ वीं शताब्दी में मैकेवली (Mechiavelli) ने पुनः निरंकुश राज्य की धारणा को प्रस्तुत किया और १७ वीं शताब्दी में हाब्स (Hobbes) तथा स्पिनोज़ा (Spinoza) ने भी इसका समर्थन किया।

आधुनिक आदर्शवाद

१८ वीं शताब्दी में रूसो (Rousseau) ने इस ग्रीक देन का पुनरुत्थान किया। वस्तुतः वह आधुनिक आदर्शवाद का जन्मदाता है। रूसो की सामान्य इच्छा (General will) का सिद्धान्त ही आदर्शवाद के विकास की पृष्ठभूमि है। रूसो के विचारों पर प्लेटो का असीमित प्रभाव पड़ा। प्लेटो के कारण ही वह अपने आपको लॉक (Locke) की व्यक्तिवादी विचार-धारा से विमुक्त करने में और समष्टिवादी सिद्धान्त को दृष्टिगम्य करने में समर्थ हो सका। अपनी प्रमुख कृति 'सोशल कान्ट्रेक्ट' (Social Contract) में रूसो ने राज्य

1 'Close with the cry of individualism and cosmopolitanism.

की धारणा एक नैतिक संगठन के रूप में की है और सामान्य इच्छा को प्रतिपादित किया है। रूसो की दृष्टि में, राज्य नागरिकों के वैधानिक अधिकारों के रक्षार्थ किया गया कोई वैधानिक संगठन न हो कर एक नैतिक संगठन है, जिसके द्वारा ही मनुष्य अपना नैतिकोत्थान कर सकता है। बिना राज्य के व्यक्ति मूकवत् पशु है। राज्य की सभ्यता उसके भौतिक धरातल को उन्नत करती है और उसे यथार्थ मानवता प्रदान करती है। राज्य मानव प्रेरणा के स्थान पर न्याय और उसकी क्षुधा के स्थान पर विधान को प्रतिष्ठित करता है। राज्य का प्रथम कर्तव्य व्यक्ति को भौतिक बन्धनों से वियुक्त कर, नैतिक-स्वातन्त्र्य का मार्ग प्रशस्त करना है। राज्य अपने नागरिकों को पूर्ण स्वाधीन करने के लिए विवश भी कर सकता है। ऐसी स्थिति में यदि राज्य की आज्ञा की व्यक्ति अवहेलना करता है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अपने स्वतन्त्र नैतिक संकल्प (Free moral will) के अनुकूल आचरण नहीं कर रहा है क्योंकि सामान्य इच्छा राज्य का संकल्प मात्र है। इस प्रकार रूसो ने नागरिक को राज्य या सामान्य इच्छा के पूर्णतः अधीन बनाया। किन्तु उसकी सामान्य इच्छा प्रजातन्त्रात्मक एवं स्वतन्त्रतावर्धक थी।

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में बहुत से दोष हैं। इन दोषों का निवारण भावी विचारकों ने किया और इसका श्रेय मुख्यतः आदर्शवादी दार्शनिकों को जाता है। रूसो के गम्भीर विचारों ने काण्ट (hant) तथा अन्य समकालीन चिन्तकों को यथेष्ट रूप में आकर्षित किया। काण्ट विशेषतः प्रभावित हुआ और इसी कारण रूसो की सामान्य इच्छा उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु हो गई। काण्ट ने ही आदर्शवादी सिद्धान्त को पूर्णत्व प्रदान किया। यद्यपि इसका श्रेय अधिकांश राजनीतिक विचारक उसके उत्तराधिकारी हीगेल को प्रदान करते हैं, किन्तु यह तथ्यपूर्ण नहीं है।

इंगलैण्ड में इस विचारधारा को कालरिज तथा कारलायल जैसे उच्चकोटि के साहित्यकार एवं कवि जर्मनी से लाये। इसका सदुपयोग ग्रीन (Green), बोसांके (Bosanquet) तथा ब्रेडले (Bradley) आदि ने अपनी रचनाओं में अपना कर किया। ब्रिटेन में आदर्शवाद का प्रभाव ब्रेडले के पश्चात् फिर क्षीण हो गया। यद्यपि आज भी इस सिद्धान्त को राज्य तथा उसकी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में उपयोगी नहीं समझा जाता, फिर भी इसके समर्थक संसार के प्रत्येक क्षेत्र में मिलते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त की दो प्रमुख धारायें

आदर्शवादी सिद्धान्त की दो प्रमुख शाखाएं हैं। प्रथम उग्रवादी जर्मन विचारक हैं, जिनका नेतृत्व हीगेल करते हैं। ये दार्शनिक राज्य की पूजा एक दैविक शक्ति के रूप में करते हैं और साधन की अपेक्षा राज्य को साध्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में, राज्य सर्वशक्तिमान् एवं परम है। उसका अपना व्यक्तित्व और उसकी अपनी इच्छा है, जिसमें सदस्यों के व्यक्तित्व और इच्छाएं दृष्टिगोचर होती हैं। इन जर्मन दार्शनिकों में काण्ट, फिक्टे (Fichte) हम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt) तथा हीगेल अधिक प्रमुख हैं।

दूसरे वर्ग में उदारपन्थी आदर्शवादी सम्मिलित हैं, जिनका मार्ग-दर्शन अंग्रेज आदर्शवादी दार्शनिक ग्रीन (Thomas Hill Green) करते हैं। इन विचारकों के मतानुसार राज्य का कर्तव्य केवल नकारात्मक (Negative) है। यद्यपि उसका रूप क्रियात्मक (Positive) है। राज्य का प्रधान कर्तव्य उन अवरोधों को दूर करना है जो व्यक्तित्व-विकास में बाधक हों। इन दार्शनिकों के अनुसार राज्य का और मानव का लक्ष्य एक ही है—सर्वोत्तम जीवन का साक्षात्कार और नागरिकों की नैतिक उन्नति। यह नैतिकोत्थान केवल व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा ही सम्भव है। अत इन उदारपन्थी आदर्शवादियों का मत है कि मनुष्यों की व्यक्तिगत आध्यात्मिक एवं नैतिकोन्नति में राज्य कोई सहायक नहीं हो सकता। अत राज्य का कर्तव्य नकारात्मक होना चाहिए और मनुष्य के उत्तम जीवन-यापन हेतु सुअवसर प्रदान करने चाहिए। प्रत्येक को सर्वांगीण विकास हेतु सर्व-सुलभ अवसर और स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इस पूर्ण-विकास के मार्ग में जो अवरोध हैं उन्हें हटाना राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य है। इन अंग्रेज उदारवादी आदर्शवादियों में ग्रीन, बोसांक्वे और ब्रैडले सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

आदर्शवाद और उदारवाद में अन्तर

उदारवादियों की दृष्टि में, राज्य एक आवश्यक विकार है जब कि आदर्शवादी इसे एक आदर्श संस्था मानते हैं। उदारवाद राज्य को एक साधन तो आदर्शवाद साध्य कहता है। उदारवादी राज्य के कार्यक्षेत्र को परिमित करते हैं तो आदर्शवादी पूर्ण स्वातंत्र्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे किसी प्रकार के हस्तक्षेप पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते। उदारवादियों का दृष्टिकोण स्वतंत्रता के सम्बन्ध में स्वेच्छापूर्वक जीवन-यापन करना है। आदर्शवादी इससे असहमति प्रगट करते हैं और स्वतंत्रता से तात्पर्य, उनके विचार में राज्यीय नियमों के

अनुसार जीवन व्यतीत करना है। मान्टेस्क्यू (Montesquieu) ने स्वातंत्र्य स्थापना में शक्ति-विभाजन का औचित्य सिद्ध किया किन्तु आदर्शवादियों ने अपना इससे भिन्न दृष्टिकोण रखा। लॉक की दृष्टि में जन-स्वीकृति राज्य की आधारशिला है। यह इसका प्राण है। किन्तु आदर्शवादी इसे निरपेक्ष की संज्ञा प्रदान करते हैं। प्रारम्भिक आदर्शवादी उदारवादी विचारधारा से प्रभावित तो हुए, किन्तु उन्होंने उसे नवीन रूप प्रदान किया। इसकी स्पष्ट झलक हमें काण्ट के दर्शन में दिखाई देती है। किन्तु फिश्टे का दर्शन अधिक आदर्शवादी है और उदारवादी कम। हीगेल तो पूर्णतः आदर्शवादी है। ग्रीन के दर्शन में इन दोनों विचारधाराओं का सामञ्जस्य हुआ है। इसी कारण उसे नवीन व्यक्तिवादी और नवीन आदर्शवादी कहा जाता है। ब्रैडले और बोसांके दोनों हीगेल के पद-चिह्नों पर ही चले हैं।

काण्ट (Immanuel Kant)

(१७२४-१८०४)

काण्ट आधुनिक आदर्शवाद का जन्मदाता है। उसकी माता बड़ी धार्मिक महिला थी, जिसका काण्ट पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वह बड़ी ही कुशाग्र बुद्धि वाला था। शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त वह कोनिग्सबर्ग (Koenigsberg) विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हुआ। उसका क्षेत्र दर्शन था। उसके दर्शन का प्रभाव राजनीति शास्त्र पर परोक्षरूप से पड़ा। नगर की जनता में उसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण यह था कि वह समय का विशेष ध्यान रखता था। उसकी लोकतन्त्र में अगाध निष्ठा थी और सामन्तशाही के प्रति घोर घृणा। उसकी दृष्टि में, मनुष्य साधन की अपेक्षा एक साध्य है। उसकी प्रमुख पुस्तक (Critique of Pure Reason) थी। अपने राजनीतिक गुरु रूसो के समान काण्ट भी, १८ वीं शताब्दी के व्यक्तिवाद और प्राकृतिक अधिकार तथा सामाजिक समझौता के सिद्धान्त से जो सामञ्जस्य १९वीं शताब्दी के आदर्शवाद और राज्य की नैतिक साधन धारणा में हुआ, उसका स्पष्टीकरण करता है; जैसा कि जॉन डिवी (John Dewey) ने कहा है, 'विशुद्ध अर्थों में काण्ट दार्शनिक चिन्तन के पुराने युग के अन्त का संकेत करता है। स्पष्टतः उससे आधुनिक चिन्तन का प्रारम्भ होता है।' [१]

काण्ट के समय में यूरोपीय दर्शन का बड़ा विचित्र रूप देखने को मिलता है। फ्रांस के बुद्धिवादी विचारकों की, जिनमें वाल्टेयर प्रमुख था, धारणा थी

1 "In a genuine sense Kant marks the end of the older age in philosophy He is the transition to distinctively modern thought." (John Dewey)

कि धर्म अन्धविश्वास मात्र है। इस प्रकार इन बुद्धिवादियों ने नास्तिकता के प्रचार एवं प्रसार में पर्याप्त योगदान दिया। लॉक, बर्कले (Burkley) और ह्यूम (Hume) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से सदैव सत्य का आभास नहीं होता, केवल संशयात्मक ज्ञान की ही अनुभूति होती है। उदाहरणार्थ सूर्य प्रतिदिन पूर्व में ही उदय होता है और इस आधार पर हमने यह धारणा बना ली कि वह भविष्य में भी पूर्व से ही उदित होगा। किन्तु इस विचार निर्माण में हमारे पास कोई ठोस, निश्चित तथा तर्कसंगत प्रमाण नहीं है। सूर्य का पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में निकलना या बिल्कुल उदय ही न होना सम्भव हो सकता है। फलतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुभव से जो हमें बोध होता है उससे केवल सम्भावनाओं का ही पता चलता है। एतदर्थ ज्ञान का कोई अन्य साधन न होकर एकमात्र इन्द्रियाँ ही हैं। अतः ह्यूम के मत में सभी कुछ संशयात्मक है। इस प्रकार संशयवाद की प्रादुर्भूति हुई। रूसो ने संशयवाद को भ्रान्त एवं त्याज्य बतलाया क्योंकि बुद्धिवाद नास्तिकता और संशयवाद का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः रूसो ने बुद्धि के अनुसरण की अपेक्षा भाव (Sentiment) तथा इच्छा (Will) के अनुसरण पर बल दिया। काण्ट ने यूरोपीय दर्शन की इन महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान कर सत्य और धर्म की निश्चितता को स्थापित किया। उसके मत में, ज्ञान की अनुभूति हमें इन्द्रियों से नहीं अपितु बुद्धि द्वारा होती है।

काण्ट का राजनैतिक दर्शन यथेष्ट रूप में मौलिक नहीं है। उसकी प्रेरक शक्तियाँ रूसो और मान्टेस्क्यू हैं, जिनका रचनात्मक प्रभाव उसके राजनीतिक चिन्तन पर पड़ा है। डनिङ्ग (Dunning) ने ठीक ही कहा है—"राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में काण्ट का सिद्धान्त ठीक वही सिद्धान्त है जो रूसो का था और जिसे उन्होंने अपनी शब्दावली में अपनी तर्क-नीति के साथ प्रकट किया है। इसी प्रकार उन्होंने सरकार की व्याख्या करने में मान्टेस्क्यू का अनुगमन किया है।"[1]

काण्ट की देन

(१) काण्ट की आदर्शवादी दर्शन के लिए जो सर्वश्रेष्ठ देन है वह उसका नैतिकता के दृष्टिकोण से राजनीति का विवेचन करना है। वस्तुतः प्रारम्भ में

1 His doctrine as to the origin and nature of the State is merely Rousseau's put into the garb of Kantian terminology and logic; his analysis of government follows Montesquieu in like manner"—Dunning

उनका यह दृढ़ मत था कि राजनीतिक चिन्तन नैतिक चिन्तन के निर्देशन में ही होना चाहिए। नैतिक दर्शन के अभाव में राजनीतिक दर्शन निरर्थक एवं महत्त्वहीन है।

(२) काण्ट की द्वितीय देन यह थी कि उसने भौतिकता से अधिक प्रधानता आध्यात्मिकता को दी। उसकी दृष्टि में एक वस्तु (पुस्तक) का ज्ञान उसकी बनावट की अपेक्षा उस प्रतिबिम्ब से होता है, जिसको देखकर हमारे मस्तिष्क में बनता है। हम अमुक वस्तु को पुस्तक क्यों कहते हैं ? इसका कारण यह है कि वह हमारे विचार के अनुसार पुस्तक के समान है और इसलिए नहीं कि वह है। काण्ट ने अपनी इस विचार-सरणि को कोपर्निकन-क्रान्ति (Copernican Revolution) की संज्ञा दी। वस्तुतः काण्ट ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने इस विचार का प्रतिपादन किया।

(३) काण्ट की तृतीय देन थी कि जीवन में विशुद्ध विवेक (Pure reason) का अनुभव की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। काण्ट से पूर्व ज्ञानार्जन में अनुभव तथा प्रयोग को प्रधानता प्रदान की जाती थी किन्तु काण्ट ने इस विचार को अमान्य ही नहीं बतलाया अपितु कहा कि ज्ञानार्जन हमें इन्द्रिय-जन्य अनुभव तथा प्रयोग से न हो कर बुद्धि द्वारा होता है। हमारी बुद्धि, जो कुछ हम इन्द्रियों द्वारा सुनते, देखते और स्पर्श करते हैं उसे, ग्रहण कर सुव्यवस्थित कर देती है और तभी हमें उस ज्ञान की अनुभूति होती है। जो कुछ भी हम मनन तथा अनुशीलन करते हैं वह सब कुछ देश, काल कार्य मात्रा और गुणादि की सीमा के अन्दर है। अतः देश (Space), काल (Time) और कारण-कार्य (Causation) हमारे लिए नित्य सत्य हैं। इस प्रकार हमारा ज्ञान भी संशयात्मक न हो कर हमारे लिए नित्य और सत्य है।

काण्ट ने बुद्धि के दो पक्ष स्वीकार किये हैं—प्रथम, 'विशुद्ध विवेक' (Pure reason) और द्वितीय 'व्यावहारिक विवेक' (Practical reason)। विशुद्ध विवेक द्वारा हमें दृश्यजगत् (Phenomenal world) का निश्चयात्मक बोध होता है किन्तु यह विशुद्ध विवेक देश काल, कारण-कार्य की सीमा से परिमित है। अतः वह दूरगामी नहीं है। दृश्य जगत् के गर्भ में क्या है, वह विशुद्ध विवेक द्वारा मालूम करना सम्भव नहीं है। आत्म परमात्मा जैसे विषय हमारे लिए रहस्यात्मक हैं क्योंकि हमारा विशुद्ध विवेक वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। तार्किक दृष्टि से भ्रम के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं हो पाता। किन्तु यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब विशुद्ध विवेक द्वारा हमें दूरगामी वस्तु का बोध नहीं हो पाता तो क्या इस सम्बन्ध में कोई अन्य विकल्प है अथवा नहीं ? काण्ट ने अनुसार

में कहा है—ऐसे सत्य का आभास हमें व्यावहारिक विवेक (Practical reason) द्वारा होता है। इस व्यावहारिक विवेक को ही इच्छा-शक्ति (Will) की संज्ञा प्रदान की गई है। वस्तुतः इसी स्थल पर काण्ट और रूसो के विचारों में सामंजस्य है। दोनों एक ही विचारधारा के हैं। रूसो ने कहा था कि हमारा वास्तविक पथ-प्रदर्शन भावों (Sentiment) द्वारा सम्भव है न कि तर्क विवेक या मस्तिष्क द्वारा।

(४) काण्ट की चौथी देन है—'सर्वव्यापक नैतिक नियम' (Universal moral laws)। मानव की प्रेरक शक्ति एवं संरक्षक ये नैतिक नियम ही हैं। ये नैतिक नियम ही इसे जीवित रखे हुए हैं, नहीं तो मनुष्य अपनी स्वार्थी एवं विनाशकारी आकांक्षाओं के कारण कभी का नष्ट हो गया होता। इसी शक्ति के द्वारा मानव की आकांक्षाएँ संचालित तथा नियमित होती हैं। नागरिक को आदर्श बनाने में इन्हीं नियमों का हाथ है। इसी कारण काण्ट का यह दृढ़ मत है कि यदि नागरिक अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूप से पालन करें तो अधिकार स्वतः ही उसका अनुसरण करेंगे। इस प्रकार काण्ट कर्त्तव्य-परायणता पर अधिक जोर देता है।

अधिकार और कर्त्तव्य

काण्ट व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों में, विशेष बल कर्त्तव्यों पर देता है। बर्नहार्डी (Bernhardi) कहता है—"जब फ्रांसीसी लोग धार्मिक और ऐहिक निरंकुशता के विरुद्ध विद्रोह करके अपनी दासता की शृंखलाओं को तोड़ चुके थे और अपने अधिकारों की घोषणा कर चुके थे, तब प्रशिया में एक बिलकुल भिन्न कोटि की क्रान्ति हो रही थी, वह कर्त्तव्य की क्रान्ति थी"[1] और इस क्रान्ति के देवदूत काण्ट थे। व्यावहारिक विवेक (Practical reason) का मौलिक नियम—"निरपवाद कर्त्तव्यादेश" (Categorical Imperative of duty) है। वस्तुतः व्यावहारिक विवेक हमें सदैव कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा देता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक (Moral sense) ही व्यावहारिक विवेक है। अधिकार के साथ कर्त्तव्य भी जुड़ा हुआ है। व्यक्ति का स्वयं अपने प्रति, राज्य के अन्य व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति तथा राज्य के प्रति एक समान कर्त्तव्य होता है। मनुष्य में इस कर्त्तव्य-विवेक की इतनी प्रबलता एवं व्यापकता है कि वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कर्त्तव्य-विवेक अथवा अन्तरात्मा हमारा उचित मार्ग-दर्शन करती

---

1 "While the French people in savage revolt against Spiritual and secular despotism had broken their chains and proclaimed their rights, another quite different revolution was working in Prussia, the revolution of duty." (Bernhardi)

है। कर्त्तव्य विशुद्ध रूप में अन्तर्विवेक (Inner consciousness) का विषय है। इसका उद्देश्य मनुष्य के निम्न भौतिक अहम् का उच्च विवेकशील अहम् द्वारा शोधन करना है।[1] अतः काण्ट का मत है कि समस्त कार्य कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से ही करने चाहिए, न कि सुख एवं सुखानुभूति के उद्देश्य से। काण्ट का यह सिद्धान्त (Categorical Imperative of duty) के नाम से प्रसिद्ध है।

कर्त्तव्य-पालन के लिए इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of will) परमावश्यक है; क्योंकि व्यक्ति पर कार्य के उत्तरदायित्व का औचित्य अथवा अनौचित्य तभी रखा जा सकता है जब कि वह पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करता हो। सदाचार और नीति दोनों ही क्षेत्रों में काण्ट रूसो का ऋणी है, क्योंकि उसने रूसो के नैतिक इच्छावाले सिद्धान्त को ही नहीं अपनाया, अपितु वह उसके सम्पूर्ण चिन्तन की आधार भित्ति है। उसका कथन था कि सच्चे अर्थ में वह व्यक्ति स्वाधीन है जो नैतिक दृष्टि से भी स्वाधीन है। 'नैतिक इच्छा की स्वाधीनता' राजनीतिक चिन्तकों के लिए एक कहावत बन गई है। स्वाधीनता से अभिप्राय निरंकुश स्वाधीनता से नहीं और न व्यक्तिवादियों की भाँति पूर्ण स्वच्छन्दता से ही है। उसकी दृष्टि में व्यक्ति को केवल एक ही प्रकार की स्वाधीनता का अधिकार है जो अन्य व्यक्तियों के सम्मान और सार्वभौम विधानों से नियंत्रित है। काण्ट ने कहा है, "स्वाधीनता का अर्थ ऐसा कोई भी कार्य करने की शक्ति है जिससे अपने पड़ोसी पर किसी प्रकार का कोई आघात न पहुँचे।[2] यह स्वाधीनता सर्वव्यापक नैतिक नियम (Universal moral law) से सम्भव हो सकती है। काण्ट के अनुसार कोई शराबी या जुआड़ी स्वाधीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों ही पुर्णत: सर्वव्यापक नैतिक नियम के पूर्णत: प्रतिकूल हैं। मिल की दृष्टि में जुआ खेलना और मदिरापान व्यक्ति की स्वाधीनता के अनुकूल हैं, यदि उनसे समाज की शान्ति भंग न हो। वह इन कृत्यों को नैतिक समझता है। काण्ट ऐसे दुर्व्यसनों का खण्डन करता है, क्योंकि व्यक्ति ही समाज की जड़ है और जब जड़ ही विकृत तथा दूषित हो जायगी तो उसे सम्पूर्ण समाज में व्याप्त होने से कोई नहीं रोक सकता। इस प्रकार काण्ट के विचार से स्वतंत्रता और अधिकार समवृत्त (Co-incident) हैं। वौहाँ (Vaughan) ने कहा है, 'अधिकार का विकास स्वाधीनता में और स्वाधीनता का विकास

1 'It stands for the correction of the lower empirical self by the higher rational self'

2 "Liberty consists in the power to do anything which inflicts no injury on one s neighbour'

अधिकार में है ।"[1] अधिकार नैतिक स्वाधीनता का पर्याय है । उसका कथन है, "मनुष्य की मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है वह स्वाधीनता है ।"[2]

राज्य का कार्य क्षेत्र

व्यक्तित्व का सम्मान काण्ट के दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है । उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में एक साध्य है । अतः किसी को भी दूसरे की लक्ष्य-सिद्धि का साधन मात्र नहीं बनाया जाना चाहिए । हमारे कार्य एक ऐसे सिद्धान्त पर आधारित होने चाहिए, जिससे एक सार्वभौम विधान निर्मित सम्भव हो सके । व्यक्ति का लक्ष्य एकमात्र अपना लाभ या सन्तोष नहीं होना चाहिए । जो लक्ष्य सार्वभौम दृष्टि से उपयोगी हो केवल वही अपनाना चाहिए । व्यक्ति की वही इच्छा स्वाधीन है जो सार्वभौम उद्देश्यों से परिपूर्ण हो । वस्तुतः काण्ट की दृष्टि में सदिच्छा को त्यागकर अन्य किसी वस्तु की कल्पना ही नहीं की जा सकती । राज्य का अस्तित्व इस कारण है कि वह इस प्रकार की सदिच्छा को विकसित एवं सशक्त करे और साथ-ही-साथ स्वार्थी आकांक्षाओं को रोके । स्वतंत्रता राज्य द्वारा ही सम्भव है । उसके बिना वह अर्थहीन है । अतः राज्य स्वतंत्रता का पोषक एवं संरक्षक है । स्वतंत्रता नैतिक जीवन के लिए परम आवश्यक है । अतः राज्य एक नैतिक संस्था (Ethical Institution) है । व्यक्ति साध्य और राज्य एक अनुपम साधन है, क्योंकि व्यक्ति की आत्मोन्नति इसी के द्वारा होती है । काण्ट राज्य को यथार्थशुभ (Positive good) कहता है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति को सर्वव्यापक नैतिक नियमों का पालन करने का अवसर मिलता है । किन्तु काण्ट राज्य का कोई अन्धभक्त नहीं है । उसका निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति के स्वाभाविक उद्देश्य अहंकारमय होते हैं । इन उद्देश्यों में शक्ति की पिपासा, लाभ की लालसा और गौरव-गरिमा सन्निहित होती है । फलतः 'सभी का सभी के विरुद्ध संघर्ष' होता है । वैसे प्रत्यक्षरूप से राज्य का कर्तव्य नैतिक स्वाधीनता (Moral freedom) की उत्पत्ति करना नहीं है । उसका पुनीत कर्तव्य तो व्यक्ति के मार्ग में जो बाधाएं हैं उन्हें हटा देना है । नैतिक स्वाधीनता की उत्पत्ति केवल व्यक्ति ही स्वयमेव कर सकता है । राज्य भी एक बाह्य व्यवस्था या ऐसा

1 Right expands into freedom and freedom expands into Right."

2 "The only original right," he says, "belonging to each man in virtue of his humanity is freedom."

सामाजिक वातावरण स्थापित कर देता है जिसमें यथार्थ नैतिक कार्य क्रमशः मानवता के राज्य को विकसित कर सकें। राज्य द्वारा जिस बल का प्रयोग किया जाता है वह अन्य प्रकार के बलों से पूर्णतया भिन्न है। 'उसकी एक पवित्र महत्ता है, क्योंकि वह ऐसी शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जो आध्यात्मिक, नैतिक और विवेकमय परम कल्याण की स्थापना और उसके विकास में रत है।'[1] किन्तु काण्ट राज्य की वेदी पर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की आहुति देने को तत्पर नहीं है। वह व्यक्तिगत स्वाधीनता का समुचित मूल्यांकन करता है। यद्यपि वह व्यक्तिगत स्वाधीनता को सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के अन्तर्गत रखता है किन्तु ऐसा करके वह व्यक्तिगत स्वाधीनता का परित्याग नहीं कर देता। "स्पष्टतः यह न्याय और व्यक्तिगत स्वाधीनता के मध्य चलनेवाला उसका मानसिक संघर्ष है। इन दोनों को पूर्ण समन्वित करने का मार्ग उसे दृष्टिगोचर नहीं होता और वह इतना ईमानदार है कि दोनों में से किसी एक को भी बलिदान करने के लिए तैयार नहीं है।"[2]

क्रान्ति का अधिकार

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने काण्ट के मानस को यथेष्ट रूप में प्रभावित ही नहीं किया वरन् उसे विचलित भी किया। काण्ट के मत में मानव की नैतिक लक्ष्य पूर्ति के हेतु राज्य का अस्तित्व तो आवश्यक है किन्तु वह उसे क्रान्ति या विद्रोह का अधिकार नहीं देता। उसकी दृष्टि में शासक को पदच्युत करना तथा उसकी हत्या करना घोर अनैतिक एवं अक्षम्य कृत्य है। यह एक ऐसा अपराध है जो क्षम्य नहीं है। वस्तुतः यह वैसा ही निकृष्टतम पाप है जैसा कि धर्मशास्त्रों में 'पुनीतात्मा' के प्रति किया गया पाप, जो अक्षम्य है। अतः काण्ट व्यक्ति को विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता। यदि किसी संवैधानिक सुधार की आवश्यकता है तो वह शासक द्वारा होना चाहिए, न कि व्यक्ति द्वारा। इस दृष्टि से काण्ट हीगेल-पन्थी है।

---

1 It has a sort of sacred import, for it represents force consecrated to the assertion and expansion of final goods which are spiritual, moral, rational '

2 It is clearly a conflict in his mind between the claims of justice and the claims of individual freedom. He does not see his way fully to reconcile the two He is honest to sacrifice either '

अनुबन्ध और सरकार

कान्ट अनुबन्धवाद का विरोधी है। उसके कथनानुसार राज्य व्यक्तियों की जन-स्वीकृति पर आधारित नहीं है। राज्य की उत्पत्ति एवं संचालन अनुबन्ध द्वारा न होकर शक्ति द्वारा हुआ है। जनता में ही सार्वभौमिकता निहित है और विधि-निर्माण की सर्वोच्च-शक्ति भी उसी में है। सामान्य इच्छा (General will) ही विधि की जन्मदात्री है। वह रूसो की सामान्य इच्छा का बड़ा प्रशंसक है। किन्तु सामान्य इच्छा के विचार में कान्ट और रूसो में एक अन्तर है। रूसो की सामान्य इच्छा केवल प्रत्यक्ष प्रजातंत्र में ही सम्भव हो सकती है, किन्तु कान्ट के अनुसार व्यक्ति विशेष भी उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है। संविधान सामान्य इच्छा का वह निर्णय है जिसके द्वारा जन भीड़ सुसंगठित जनता में परिणत हो जाती है।

कान्ट ने राज्य के तीन भेद किये हैं — एकतंत्र, कुलीन तंत्र और प्रजातंत्र। सरकार को दो भागों में विभक्त किया है—'गणतंत्रीय और स्वेच्छाचारी।' यदि विधान मण्डल और कार्यपालिका पृथक्-पृथक् हैं तो सरकार गणतंत्रीय, अन्यथा स्वेच्छाचारी है। सरकार यदि प्रतिनिधिमूलक नहीं है तो वह अविवेकपूर्ण है और कान्ट ऐसी सरकार को अस्वीकृत करता है।

फिक्टे (J G Fichte)

(१७६२–१८१४)

फिक्टे एक जुलाहे का लड़का था। बचपन में उसे मार्टिन लूथर के धार्मिक विचारों ने प्रभावित किया था। वह जेना विश्वविद्यालय को छोड़कर प्रशा चला गया और वहाँ बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गया। उसने अपने एक प्रसिद्ध भाषण में जर्मन जाति के भाग्य एवं चरित्र-सम्बन्धी एक उच्च विचार को प्रस्तुत किया। उसका यह मत था कि प्रशा की पराजय का प्रमुख कारण जनता में राजनीतिक चैतन्य का न होना है। इसी कारण उसने जर्मन एकता के आदर्श की वकालत की।

१७८४ के उपरान्त फिक्टे 'कान्ट' के सम्पर्क में आया। वस्तुतः कान्ट के आदर्शवाद को विकसित करने का श्रेय फिक्टे को ही है। उसने कान्ट के दर्शन का उदारवादी विचारवाद से विमुक्त कर विशुद्ध आदर्शवाद में परिणत कर दिया। फिक्टे रूसो से भी अधिक प्रभावित हुआ था किन्तु फिक्टे के विचारों में हमें क्रमशः परिवर्तन होता दिखाई देता है। प्रारम्भ में उसने व्यक्तिवाद,

जनतन्त्रवाद और विश्वबन्धुत्व का प्रतिपादन किया, पर बाद में वह अधिनायकवाद, राष्ट्रवाद और व्यक्तिवाद-विरोधी भावना का कट्टर समर्थक हो गया।

फिक्टे अपने गुरु काण्ट का अनुगामी भी है। काण्ट कहता है कि वास्तविक जगत् की ज्ञान-प्राप्ति में विवेक और विचारतत्त्व (Intuition and reason) का प्राधान्य है ही, किन्तु वस्तुक्रिया (reason of the object) का भी आंशिक रूप में प्रभाव पड़ता है। किन्तु फिक्टे ने काण्ट के इस कथन में संशोधन कर दिया है। वह कहता है कि वास्तविक जगत् का ज्ञान हमें केवल विवेक या अन्तःप्रेरणा (Intuition) द्वारा ही होता है, न कि वस्तु-क्रिया द्वारा।

फिक्टे के मत में आदर्श राज्य में नागरिक को पूर्ण स्वतंत्रता होगी। किन्तु फिक्टे की स्वतंत्रता व्यक्तिवादियों की स्वतंत्रता से पूर्णतः भिन्न है। फिक्टे का स्वतन्त्रता से तात्पर्य दो प्रकार की स्वतन्त्रता से है—प्रथम, 'आन्तरिक स्वतन्त्रता' और द्वितीय, 'बाह्य स्वतंत्रता'। आन्तरिक स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यक्ति की तुच्छ वासनाओं का अभाव, जिससे कि व्यक्ति अपने विशुद्ध विवेक द्वारा जीवन-यापन करे। बाह्य स्वतन्त्रता से अभिप्राय है ऐसी स्वतंत्रता जिसमें व्यक्ति के कार्यों में किसी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप न हो। इस प्रकार बाह्य स्वतन्त्रता से फिक्टे का यह मन्तव्य नहीं है कि व्यक्ति अपनी मनमानी करे, जैसा कि व्यक्तिवादी कहते हैं, वरन् उसका आशय उस स्वतंत्रता से है जिसमें व्यक्ति के कार्य नैतिक इच्छा (Moral will) द्वारा संचालित एवं प्रेरित हों। इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादियों के अनुसार बाह्य स्वतंत्रता केवल 'यद्भाव्यम्' नीति द्वारा ही सम्भव है, किन्तु फिक्टे स्वतन्त्रता के लिए राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक समझता है क्योंकि इसके हस्तक्षेप द्वारा ही समाज में उस वातावरण का निर्माण होता है जिसमें व्यक्ति को अपने नैतिक-स्वातन्त्र्य का उपभोग करने की सुविधा मिलती है। अतः स्वतन्त्रता राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। व्यक्ति का पुनीत कर्तव्य राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का परिपालन करना है, क्योंकि उनका निर्माण विवेक द्वारा हुआ है। राज्य ही सर्वसत्ताधीन है। राज्य समाज की एक राजनीतिक संस्था है। यह मानव उन्नति के लिए एक आवश्यक साधन है। मानव कल्याण के लिए शान्ति-स्थापन, सुरक्षा और युद्ध-बहिष्कार आवश्यक है। अतः फिक्टे एक राष्ट्र संघ और एक विश्वन्यायालय की प्रतिष्ठा को न्यायसंगत बताता है किन्तु उसके ये विचार स्थायी नहीं रहे। इनमें क्रमशः परिवर्तन होता गया। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विलुप्त हो गयी और वह कट्टर राष्ट्रवादी हो गया। उसके मत में,

राष्ट्रीयता ही व्यक्ति के जीवन का परम लक्ष्य है। व्यक्ति मानवता की सेवा अपने को राज्य के सम्मुख समर्पित करके ही कर सकता है। फलतः राज्य एक राष्ट्र की आत्मा की सजीव अभिव्यक्ति है। वह साध्य है। फिक्टे के मत में, एक राष्ट्रीय राज्य के सुसंचालन हेतु यह आवश्यक है कि उसमें भाषा की एकरूपता, आर्थिक राष्ट्रीयता और समाज पर पूर्ण नियंत्रण की अधिकार-सत्ता हो। इससे अभिप्राय है कि एक राज्य में केवल एक ही भाषा भाषी होने चाहिए और वह राज्य आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर भी हो तथा नागरिकों के धर्म-प्रचार पर राज्य का एकाधिकार भी होना चाहिए। वह व्यक्तियों पर कर लगा सकता है और उनकी सम्पत्ति को जब्त भी कर सकता है।

फिक्टे अपनी युवावस्था में जनवादी था। वह जनता को ही अधिकार-सत्ता का स्रोत मानता था। उसने फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति का गुणगान भी किया था। किन्तु वह धीरे धीरे अधिनायकवादी हो गया। निरंकुश राजतन्त्र को ही उसने आदर्श माना। उसके मत में पैतृक शासन-व्यवस्था ही सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है। वह राजतन्त्र को धारासभा के निर्वाचन-सदस्य से उच्चतर एवं सर्वोपरि समझता है। काण्ट ने व्यवस्थापिका सभा को प्रधानता दी है, किन्तु फिक्टे इसे स्वीकार नहीं करता। वस्तुतः फिक्टे का यह दर्शन बीसवीं शताब्दी के अधिनायकवादियों का प्रेरक बना। हिटलर का नाजी जर्मनी फिक्टे के विचारों का मूर्तरूप था।

हीगेल (G.W.F Hegel)

(१७७० १८३१)

हीगेल आधुनिक आदर्शवाद का सर्वश्रेष्ठ नेता एवं व्याख्याकार है। उसने काण्ट और फिक्टे द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद को चरम सीमा पर पहुँचाया और उसमें उग्र प्रतिक्रियावाद का पुट दिया। इसी कारण अनेक व्यक्ति प्रथम महायुद्ध का उत्तरदायित्व उसी पर रखते हैं। हीगेल एक सम्पन्न मध्यमवर्गीय परिवार में पैदा हुआ था। उसके पिता की यह बलवती इच्छा थी कि वह एक प्रोटेस्टेण्ट पादरी बने। अपनी इस आकांक्षा को पूर्णरूप देने के लिए, उसके पिता ने उसे ट्यूबिन्जन में धार्मिक शिक्षा दिलायी। हीगेल हेडेलबर्ग और बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन का प्रोफेसर था। १९ वीं शताब्दी में फिक्टे, कारलायल और हीगेल अध्यात्मवादी थे। हीगेल फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के कारण उदारवादी दर्शन से परिचित हुआ और उसने इसे आदर्शवाद में परिवर्तित कर दिया।

हीगेल की लोकप्रियता अपनी चरमावस्था पर थी। वह दार्शनिकों का सम्राट् और सम्राटों का दार्शनिक था। शासकगण उसके पदों के लिए लालायित

रहते थे। वह इतना प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक था कि १९वीं शताब्दी के सभी दार्शनिक एवं विचारक यहाँ तक कि कार्ल मार्क्स भी उसके तर्क एवं विश्लेषण से बिना प्रभावित हुए न रह सका। हीगेल का दर्शन बड़ा गम्भीर, गूढ़ और जटिल है। कुछ विचारकों की धारणा है कि हीगेल का दर्शन इतना क्लिष्ट है कि बीस वर्षों के परिशीलन एवं मनन के उपरान्त भी उसे समझना दुष्कर है। एक बार हीगेल ने कहा था कि उसके दर्शन को केवल एक ही व्यक्ति समझ सका और उसने भी उसे गलत समझा। वस्तुतः दुरूहता उसके दर्शन का रहस्य है।

हीगेल के दार्शनिक विचारों में आदर्शवादी सिद्धान्त अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया है। हीगेल के दर्शन की पृष्ठभूमि अरस्तू की ऐतिहासिक-उक्ति है— "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है", उसकी स्वाधीनता प्रगति और विकास केवल समाज और राज्य में ही सम्भव है। हीगेल कान्ट के द्वैतवादी विचार का खण्डन करता है। कान्ट के मत में, "केवल दृश्य-जगत (Phenomenal world) ही बुद्धिगम्य है, किन्तु उसके मूल में जो तत्व है वह अगम्य है और अगोचर है। उसका केवल व्यावहारिक विवेक (Practical reason) द्वारा ही आभास मिलता है।' हीगेल ने कान्ट के इस द्वैतवादी विचार का मूलोच्छेदन किया। हीगेल का मत है कि जब मौलिक तत्व पूर्णतया अज्ञात है तो उसकी उपादेयता हमारे लिए कुछ है ही नहीं। उसके सम्बन्ध में कल्पना करना भी व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त, यह तर्क प्रस्तुत करना कि वह 'सर्वथा अज्ञात' है, नितान्त भ्रान्ति ही नहीं, अपितु तर्कसंगत भी नहीं है, क्योंकि इतना तो हमें बोध है ही कि वह सर्वथा अज्ञात है और जिसके सम्बन्ध में हमें इतना बोध है उसे हम अज्ञात नहीं कह सकते। इस प्रकार हीगेल की दृष्टि में बुद्धि द्वारा सभी कुछ जाना जा सकता है।

हीगेल का कथन है कि इस जड़ चेतन रूपी विश्व के मूल में जो तत्व या वस्तु है वह विश्वात्मा (Universal Spirit or reason) है। विश्वात्मा अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा नाना रूपों और श्रेणियों में क्रमशः विकसित होता हुआ अपने मूल रूप में लौट आता है। यही सृष्टि का क्रम निरन्तर चलता रहता है जो विश्वात्मा का एक खेल है। विश्वात्मा के इस विकास में अनेक सीढ़ियाँ हैं, जिनमें कुछ आत्मगत या विचार-जगत की (Subjective) हैं तो कुछ वस्तुगत या दृश्य-जगत की (Objective)। उदाहरणार्थ, आत्मगत आदर्शवाद के अनुसार अमुक वस्तु एक लेखनी है, क्योंकि उसकी बनावट मेरे दिमाग में लेखनी जैसी है। मेरे दिमाग का भी एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। किन्तु यह लेखनी और मेरा दिमाग दोनों ही वस्तुगत आदर्शवाद के अनुसार एक

'सर्वव्यापक-विचारतत्व'(Universal idea of Universal mind) के ही प्रतिबिम्ब हैं। वस्तुगत आदर्शवाद के अनुसार मेरे मस्तिष्क की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं है।

हीगेल का आदर्शवाद वस्तुगत आदर्शवाद है। वस्तुगत आदर्शवाद के अनुसार मस्तिष्क और वस्तु जगत् दोनों का संचालन 'सर्व व्यापक विचार-तत्व' या विश्वात्मा द्वारा होता है। यह विचार-तत्व ही वास्तविक जगत् का रचयिता है और निखिल विश्व में सत्ताधारी है। 'विश्वात्मा' या विचार-तत्व ईश्वर के दूसरे नाम हैं।

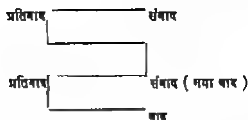
इस विकास क्रम में मनुष्य-जाति सजीव है क्योंकि उसमें चेतनात्मा का निवास है, किन्तु फिर भी विश्वात्मा की अपेक्षा जीवात्मा निम्न स्तर पर है। जीवात्मा का भी उत्तरोत्तर विकास होता रहता है जो कि आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार का है। जीवात्मा के बाह्य विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों के रूप में विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ हैं। इन सामाजिक संस्थाओं में राज्य की स्थिति सर्वोपरि है, क्योंकि यह इनका संरक्षक तथा नियामक है। बिना राज्य के इनका अस्तित्व संदिग्ध है। राज्य 'विश्वात्मा' का प्रतिनिधि है अतः उसके नियमों का पालन व्यक्ति को करना चाहिए। इसी में [illegible] उसकी स्वतन्त्रता सन्निहित है।

द्वन्द्ववाद (Dialecticism)

रूसो और [illegible] का विचार था कि मानव जाति का इतिहास प्रगति की अपेक्षा अवनति का है। संस्कृति और सभ्यता का चरमोत्कर्ष न होकर अधःपतन हुआ है। किन्तु बोदाँ (Bodin) ही सर्वप्रथम विचारक था जिसने घोषणा की कि मानव जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है। इस सम्बन्ध में बोदाँ अन्य विचारकों का पथ प्रदर्शक बना। दो शताब्दी उपरान्त हीगेल ने बोदाँ के इस ऐतिहासिक तथ्य का समर्थन किया और कहा कि मानव इतिहास केवल कुछ घटनाओं का वर्णन ही नहीं है वरन् प्रगति की प्रवृत्ति की गाथा है। हीगेल इसका स्पष्टीकरण अपने द्वन्द्वात्मक विचार के आधार पर करता है। उसका तर्क है कि यह विकास-पद्धति द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक का अंग्रेजी पर्याय (dialectical) है। इसकी व्युत्पत्ति यूनानी शब्द (dialego) से हुई है, जिसका अर्थ विचार-विमर्श करना या बातचीत करना है। सोफिस्ट (Sophists) और ग्रीक दार्शनिकों ने इसका प्रयोग किया था। उनके मतानुसार द्वन्द्ववाद परमसत्य के तर्क-प्रदर्शन की या सत्य अन्वेषण की एक पद्धति नहीं थी। इसका प्रयोग उनके द्वारा शास्त्रार्थ-पद्धति को बताने के लिए किया जाता था जिसका प्रत्यक्ष उद्देश्य

वक्ता को उसके कथन के साथ आत्म-व्याघातीय एवं अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है, बताने से था। इसका प्रयोग न्यायालय-कक्षों सार्वजनिक सभाओं तथा दार्शनिक प्रदर्शनियों में किया जाता था। प्लेटो की दृष्टि में यह विचार-पद्धति थी जिसके द्वारा विचारों के पारस्परिक विरोध को परिभाषा द्वारा निर्धारित किया जाता था। द्वन्द्ववाद एक प्रणाली थी जिसके द्वारा एक तार्किक पद्धति के बनावट की खोज की जाती थी। किन्तु हीगेल के लिए द्वन्द्ववाद केवल तार्किक विचारों के विकास की ही एक पद्धति नहीं थी प्रत्युत यह जगत के समस्त विचारों को विकसित करने की एक प्रणाली थी। इसकी प्रत्येक सीढ़ी—वाद (Thesis) प्रतिवाद (Anti-Thesis) और संवाद (Synthesis) है। यह तीन शृंखलाओं से निर्मित त्रयी (Triads) है।

जिस शक्ति का सर्वप्रथम संगठन हो जाता है वह अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करती है। इसी कार्यक्रम द्वारा विश्व का संचालन होता है, जिसे हम 'वाद' (Thesis) की संज्ञा प्रदान करते हैं। (भारतीय राजनीति में १८८५—१९०५ तक उदारवादियों (Moderates) के कार्यक्रम को हम 'वाद' कह सकते हैं।) यह प्रस्तुत कार्यक्रम सभी व्यक्तियों के अनुकूल न हो, ऐसा नहीं हो सकता। धीरे धीरे विरोधी प्रवृत्तियाँ संगठित हो जाती हैं और अपना नूतन कार्यक्रम पेश करती हैं। इस नवीन कार्यक्रम को 'प्रतिवाद' कहते हैं। [१९०५ से १९२० तक उग्रवादियों (Extremists) की नीति उदारवादियों की नीति का 'प्रतिवाद' स्वरूप थी]। कुछ काल तक, इन दोनों कार्य-क्रमों में परस्पर संघर्ष चलता है। फलस्वरूप अन्ततोगत्वा एक नये विचार का जन्म होता है, जो दोनों की विशिष्टताओं का सामंजस्य कर और नवीनता का पुट दे एक नया कार्यक्रम प्रस्तुत करता है जिसे हम 'संवाद' (Synthesis) कहते हैं। (गांधी जी ने नरम और गरम दोनों दलों की नीतियों का समन्वय किया और उसमें नवीन सिद्धान्तों का समावेश कर एक नवीन विचारधारा जो 'गांधीवाद' के नाम से प्रसिद्ध है, प्रस्तुत की—यही संवाद है)। यह क्रम बन्द नहीं हो जाता, अपितु आगे चलकर यह संवाद ही 'वाद' का रूप ले लेता है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद का क्रम अबाध रूप से चलता रहता है। यह विकास-क्रिया आगे बढ़ती, पीछे हटती और फिर आगे बढ़ती है। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि जिस स्थान से हम चले थे पुनः वहीं वापस आ जायें—निरन्तर उच्चतर स्थान की ओर बढ़ते जाते हैं। जैसा कि निम्नांकित चित्र प्रकट करता है —



यही मानव-प्रगति को चरितार्थ करता है। इस क्रिया से इतिहास परिपूर्ण है।

हीगेल ने ही इस द्वन्द्ववाद का सर्वप्रथम प्रयोग नहीं किया है। ग्रीक युग में भी यह प्रयुक्त हुआ था। किन्तु हीगेल का द्वन्द्ववाद चक्रव्यूह की भांति है, जब कि ग्रीक द्वन्द्ववाद वृत्तात्मक (Circle) था। हीगेल ने इस द्वन्द्ववादी क्रिया को समाज, राज्य और दर्शनादि में लागू किया है। वस्तुतः हीगेल का द्वन्द्ववाद राजनीति-दर्शन के लिए एक विशिष्ट देन है। कार्ल मार्क्स भी इस सम्बन्ध में हीगेल का ऋणी है। उसने इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का स्वरूप प्रदान किया।

यह द्वन्द्ववाद केवल विचार जगत् तक ही सीमित नहीं है। प्रकृति में भी यह व्याप्त है। उदाहरणार्थ, गेहूँ का दाना जो खेत में बोया गया वह 'वाद' था। किन्तु यह दाना भूमि में सड़ कर नष्ट हो गया और उसके स्थान पर अंकुर रूप में छोटा सा पौधा लगा—यह 'प्रतिवाद' हुआ। फिर यह पौधा भी कुछ समय तक बढ़ा, फूला-फला और फिर सूख गया—यह 'संवाद' हुआ। किन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि हमने गेहूँ का एक दाना बोया था किन्तु प्राप्त हमें ४० या ५० दाने हुए—यही उच्चतरावस्था को इंगित करता है। सेबाइन ने लिखा है, 'इतिहास एक पेंचदार मशीन है जो घूमने के साथ ही ऊँची उठती है। इसकी प्राण-शक्ति विरोधाभास है।'[1]

द्वन्द्ववाद और राज्य

द्वन्द्ववाद द्वारा हीगेल ने बताया है कि राज्य सामाजिक दृष्टि से मानव-प्रगति का चरमोत्कर्ष है। सामाजिक संस्थाओं में सर्वप्रथम कुटुम्ब आता है। कुटुम्ब की आधारशिला स्नेह है। स्नेह में एकत्व की भावना सन्निहित है। दम्पति और सन्तति एकता की भावना में आबद्ध रहते हैं, क्योंकि उनके हित समान हैं

1 'History is a spiral that mounts as it turns, its driving force is Contradiction" (Sabine)

और परस्पर विरोधी नहीं। अतः कुटुम्ब समानता के पुनीत सिद्धान्त पर आधारित है। चाहे कुटुम्ब का एक व्यक्ति अथवा अधिक जीविकोपार्जन करें, किन्तु उनमोग्य वस्तुओं का सभी में समान वितरण होता है। किसी प्रकार की असमानता दृष्टिगोचर नहीं होती। कुटुम्ब त्याग, सहानुभूति सहनशीलता आदि सामाजिक गुणों की पाठशाला है। बच्चे के प्रति विशेष रूप से उसमें सहानुभूति प्रदर्शित की जाती है। उसके पालन-पोषण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसे हम 'वाद' कहते हैं।। यह कौटुम्बिक स्थिति अस्थायी सिद्ध हुई क्योंकि कुटुम्ब का पोषक (Paternal) भाव मानव-प्रगति में अवरोधक सिद्ध हुआ। जीवनपर्यन्त परिवार पर निर्भरता व्यक्तित्व विकास को असम्भव बना देगी और अन्य शक्तियाँ लुप्त ही रह जायेंगी, अतः सुव्यवस्थित समाज का उद्भव हुआ। इस सामाजिक प्रांगण में सभी को संघर्ष करना पड़ता है और अपने अस्तित्व को स्थायी बनाने के हेतु सतत प्रयास करना पड़ता है। यह संघर्ष-स्थली है जहाँ व्यक्ति परिश्रमी, विवेकी और दूरदर्शी बनता है। निरन्तर जागरूकता उसकी स्थिति को सुदृढ़ कर देती है। इस प्रकार कुटुम्ब का सुव्यवस्थित समाज 'प्रतिवाद' हुआ। पर यह व्यापार कब तक चल सकता है? निरन्तर संघर्ष 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का मार्ग प्रशस्त करता है और यह समाज व्यक्तित्व विकास के साधन की अपेक्षा अवरोधक हो जाता है, क्योंकि संघर्ष में रचना कम और विनाश अधिक होता है। केवल शांति में विकास सम्भव है, अतः राज्य की प्रादुर्भूति हुई जिससे कि संघर्ष नियमित और सीमाबद्ध हो सके। इस प्रकार राज्य कुटुम्ब और समाज का सामञ्जस्य है। यह 'संवाद' हुआ। राज्य व्यक्ति को पारस्परिक संघर्ष का भी अवसर प्रदान करता है और साथ-साथ शक्तिहीनों की रक्षा भी करता है। 'इस प्रकार स्वातंत्र्य भावना से प्रेरित आत्मा के संस्थात्मक विकास की चरम परिणति राज्य में होती है।" इसलिए राज्य 'विश्वात्मा' या ईश्वर के प्रतिबिम्ब तुल्य है।

हीगेल ने राज्य के स्वरूप का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण किया है। प्राचीन काल में स्वेच्छाचारी राज्य था—अतः यह 'वाद' था। इसके विपरीत लोकतंत्र का उदय हुआ जो प्रतिवाद था। इन दोनों के संघर्ष से एक संवैधानिक राजतंत्र का जन्म हुआ जोकि 'संवाद' था। हीगेल की दृष्टि में यही सर्वोत्तम तंत्र है।

हीगेल का राज्य सिद्धान्त

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार विभिन्न देवता ईश्वर के प्रतिनिधि या अवतार हैं। इन्हें ईश्वर के समरूप समझा जाता है और उनकी उपासना से मोक्ष की प्राप्ति

होती है। हीगेल के मत में राज्य भी विश्वात्मा का प्रतिनिधि है। इसीलिए राज्य के नियमों के अनुसार जीवन-यापन करना ही वास्तविक स्वतंत्रता है। उसकी सत्ता को शिरोधार्य करने से मोक्ष मिल जाना सम्भव है। इतिहास में राज्य ही व्यक्ति है। जीवनचरित्र में जो स्थान व्यक्ति का है वही इतिहास में राज्य का है। राज्य स्वतंत्रता का मूर्तरूप है; क्योंकि वह विवेक का मूर्तरूप है (embodiment of reason)। 'यह एक विवेकशील धारणा की प्रतिमूर्ति है। इतिहास तर्क की शुद्ध विधि है, पूर्ण विचार-शक्ति है। इच्छा के दृष्टिकोण से इतिहास सार्वभौमिक अथवा इच्छा का जीता-जागता स्वरूप है।'[1] अतः राज्य के विधान का पालन करना ही व्यक्ति की यथार्थ स्वतंत्रता है। राज्य व्यक्ति की इच्छा में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसी का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी अपनी एक इच्छा और अपना एक व्यक्तित्व है। व्यक्तियों की इच्छाओं और व्यक्तित्वों से यह उच्चतर है और इस उच्चतर स्वतंत्रता की प्राप्ति राज्य के एक सदस्य के रूप में ही हो सकती है। राज्य का स्वयं अपने में ही एक निर्धारित चरम लक्ष्य है (an absolute fixed end in itself) और यह सार्वभौम इच्छा (Universal will) तथा व्यक्तिगत इच्छा (individual will) की एकता (Unity) का प्रतीक है। इस प्रकार राज्य आत्मा का एक अनादि, अनन्त और परमात्मक तत्व है। आत्मा स्वतंत्रता चाहती है। स्वतंत्रता से अभिप्राय—'विश्वात्मा' के अनुसार कार्य करना है। राज्य भी इसी 'विश्वात्मा' का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसकी आज्ञा पालन ही में सच्ची स्वतंत्रता है। राज्य नैतिकता का स्रष्टा और संरक्षक है। उसकी दृष्टि में—जो वस्तु वैधिक है वही केवल नैतिक है और अन्य नहीं है। अतः किसी वस्तु का नैतिक या अनैतिक होना यह व्यक्ति पर निर्भर न होकर राज्य पर निर्भर करता है। राज्य इन नैतिक विचारों से उच्चतर है और उसके कार्य इस नैतिकता के अन्दर नहीं आते।

जोड (C E M Joad) इस धारणा के कारण तीन निष्कर्षों पर पहुँचता है—(१) राज्य कभी भी अप्रतिनिधित्व रूप से कार्य नहीं करता। फलतः, जो पुलिस का सिपाही सेंध लगानेवाले को पकड़ता है, और जो दण्डनायक उसे कारागृह में भेजता है, वे दोनों ही यथार्थ में उस सेंध लगाने वाले की वास्तविक इच्छा (real will) को अभिव्यक्त करते हैं।[1]

---

1 "First, the state can never act unrepresentatively, thus the policeman who arrests the burgler, and the magistrate who

(२) जो सम्बन्ध व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों और समस्त राज्य से सम्बन्ध रखता है, वह उसके व्यक्तित्व का एक अखण्ड अंश (Integral part) है। फलत: उसका आचरण केवल राज्य के सदस्य के रूप में ही सम्भव है न कि एक अकेले व्यक्ति के रूप में, और उसकी इच्छा विशुद्ध-रूपेण व्यक्तिगत इच्छा नहीं हो सकती, इसमें राज्य की इच्छा का एक अंश अवश्य ही होगा।[1]

(३) राज्य अपने समस्त नागरिकों की सामाजिक नैतिकता को अपने अन्दर समेटे रहता है और उसका प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार राज्य के व्यक्तित्व में इसके समस्त नागरिकों का व्यक्तित्व मिल जाता है तथा वह उनसे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार राज्य में सन्निहित सामाजिक नैतिकता में व्यक्तियों के परस्पर नैतिक सम्बन्ध मिल जाते हैं।"[2]

हीगेल के शब्दों में "राज्य एक आत्म चैतन्य नैतिक तत्त्व है जो आत्मज्ञानी है तथा आत्म-विकासमय है, उसे यथार्थरूप देनेवाला है।"[3]

---

locks him up, are really expressing the burgler's real will to be arrested and locked him up, the policeman and magistrate being the executive officials of a state which necessarily represents and expresses the real will of the burgler who is a member of it."

1 "The relation which binds the individual not only to every other individual in the community, but also to the state as a whole themselves from an integral part of the individual's personality." "It follows that he cannot act as an isolated individual but only as an integral part of the state and that he cannot will with a purely individual will but only with a part of the state's will."

2 "The state contains within itself and represents the social morality of all its citizens. Just as the personalities of all the individuals in the state are transcended by and merged in the personality of the state so the moral relations which each citizen has to each other citizens are merged in or transcended by the social morality which is rested in the state."

3 State as a "Self-Conscious ethical substance and a self-knowing and self-actualising individual."

इस प्रकार हीगेल राज्य को सजीव तथा रहस्यवादी बना देता है। उसने राज्य की अनेक रहस्यवादी परिभाषाएँ दी हैं, "राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रयाण है (the march of God on earth) यह एक आत्मवादी एवं यथार्थवादी मानव है। यह आत्मा का मूर्त रूप है (most perfect embodiment of spirit)। यह इस जगत् में दैवी विचार तुल्य है। इस प्रकार हीगेल राज्य को अवतार सदृश पूज्य-पद प्रदान करता है और सर्वसत्तात्मवादी बनाता है। गार्नर (Garner) के शब्दों में 'हीगेल की दृष्टि में राज्य दैविक राज्य है; यह कोई भूल नहीं कर सकता यह सर्व शक्तिमान, अभ्रान्त है तथा आत्म हित में नागरिकों से प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है।'[1] बोसांक्वे ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है—'विशाल जन-समाज में राज्य का कोई निश्चित कार्य नहीं है; परन्तु यह स्वयं सर्वोच्च समाज है। समस्त मानवता का संरक्षक है, परन्तु स्वयं किसी संगठित नैतिक संसार का आन्तरिक भाग नहीं है।'[2]

अन्ततोगत्वा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्य निरंकुश, सर्वसम्पन्न और अभ्रान्त है। यह पृथ्वी पर परमात्मा है। इतिहास में ईश्वर की ही गति दृष्टिगोचर होती है और यह अपने व्यक्तिगत सदस्यों के व्यक्तित्वों को विशुद्ध सदस्यों के स्वार्थ से विमुक्त कर समृद्ध करता है।" हीगेल ने कहा है, 'व्यक्ति की यह प्रवृत्ति है कि वह अपना ही केन्द्र बन जाना चाहता है, राज्य उसे उस संकीर्ण परिधि से खींच कर सार्वभौम तत्त्व के जीवन में ले जाता है।' अतः राज्य वास्तविक स्वाधीनता का मूर्तरूप' तथा "स्वतंत्रता की यथार्थता" है। राज्य के नियमों के अनुसार जीवन-यापन करना ही वास्तविक स्वतंत्रता है।

हीगेल ने सदाचारी प्राकृतिक नियम और प्राकृतिक अधिकार का खण्डन किया है। अधिकार राज्य के अन्तर्गत है। द्वन्द्ववादी क्रिया से राज्य द्वारा उपलब्ध अधिकार ही संभव है, अतः अधिकार राज्य के ही अन्तर्गत है।

---

1 "The state, to Hegel, is a 'God state' incapable of wrong, infallible, omnipotent and entitled to every sacrifice which its interest may require of the individual." (Garner)

2 "The state has no determinate function in a larger community but is itself the Supreme Community; the guardian of a whole world but not a factor within an organised moral world." (Bosanquet)

राज्य का संगठन

राज्य के तीन अंग हैं—विधान-मण्डल (Legislature), कार्यपालिका (Executive), तथा न्यायपालिका (Judiciary)। विधानमण्डल राज्य का सामान्यरूप, कार्यपालिका राज्य का व्यक्तिगतरूप तथा न्यायपालिका राज्य का विशिष्टरूप अभिव्यक्त करती है। यद्यपि राज्य के ये तीन अंग अलग-अलग हैं, किन्तु फिर भी, इनमें परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

हीगेल राज्य की प्रभुसत्ता का स्थान राजा में ही केन्द्रित करता है। सम्राट् विहीन राज्य अपूर्ण है क्योंकि उसमें पूर्ण एकता सम्भव नहीं हो सकती। राजा एकता का सजीव प्रतीक है। वही शासन के विभिन्न अंगों के कार्यों का सामंजस्य और सम्पादन करता है। ये कार्य किसी-न किसी रूप में सभा अथवा समितियों की अपेक्षा व्यक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

हीगेल ने आदर्श व्यवस्थापक-मण्डल की योजना रखी है। यह विधानमण्डल द्विसदनात्मक (bicameral) होना चाहिए। उच्च सदन कुलीनों का प्रतिनिधित्व करेगा और निम्न सदन समाज की अन्य संस्थाओं का। किन्तु विधान-मण्डल में संगठित वर्गों का ही प्रतिनिधित्व होना चाहिए, असंगठित वर्गों का नहीं। हीगेल का वयस्क मताधिकार में विश्वास नहीं है। उसने अपने आदर्श समाज में संघों को प्रमुख स्थान दिया है। ये सब पूर्णतया राज्य के अन्तर्गत हैं। हीगेल का विश्वास है कि शासन का कार्य जनमत द्वारा होना सम्भव नहीं है। इसे कोई प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है।

युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीयता

हीगेल युद्ध को न्याय्य एवं तर्कसंगत बताता है। युद्ध जन-कल्याणकारी है, क्योंकि उससे राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रनिष्ठा की भावना बलवती होती है। युद्ध राष्ट्रीय जीवन के लिए वही कार्य करता है जो तूफान समुद्र के लिए करता है। युद्ध मानव-जाति को अपनी भ्रष्ट एवं पतितावस्था से निकालता है। यह व्यक्ति की स्वार्थी इच्छा का दमन करता है। युद्ध राज्य की सर्व-शक्ति-सम्पन्नता की अभिव्यक्ति है। युद्ध द्वारा गृहयुद्धों की आशंका कम होती है और शान्ति के कारण रचनात्मक कार्य होते हैं। युद्ध राज्य को सबल बनाता है। हीगेल युद्ध का प्रशंसक नहीं है वरन् वह इसका औचित्य सिद्ध करता है। उसकी दृष्टि में यह मानव-जाति के लिए परम आवश्यक और हितकर है। हीगेल का राज्य की सर्वोपरिता में विश्वास है, अतः अन्तर्राष्ट्रीयवाद का कोई प्रश्न ही नहीं

रखता। राज्य संस्थात्मक विकास का चरमोत्कर्ष है। उससे अधिक विशिष्ट और व्यापक कोई अन्य सत्ता हो ही नहीं सकती। राज्य पूर्णरूपेण स्वतंत्र है और अन्तर्राष्ट्रीय संधियों से भी बाध्य नहीं है। वह अन्तर्राष्ट्रीय विधान को तभी तक अंगीकार करता है, जब तक कि उसके और अन्तर्राष्ट्रीय विधान के मध्य कोई संघर्ष नहीं है। जो राज्य "किसी समय में विश्वात्मा के तेज का वाहक होता है उसकी परम अधिकार सत्ता के विरुद्ध अन्य जातियों की आत्माओं को नितान्तमेव कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।'

टामस हिल ग्रीन (T H Green)

(१८३६-१८८२)

'ग्रीन' ब्रिटेन में आदर्शवाद का सर्वप्रथम दार्शनिक था। वह ऑक्सफोर्ड (Oxford) विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर था। उसने ग्रीक-दर्शन और जर्मन आदर्शवादी दर्शन का अध्ययन किया। ग्रीन ने ब्रिटेन में नवीन दर्शन की आधार शिला रखी, जो कि ऑक्सफोर्ड-पाठशाला (Oxford School) के नाम से प्रख्यात है। ग्रीन एकमात्र दार्शनिक ही नहीं था, उसकी अपने देश की राजनीतिक गतिविधियों में भी अभिरुचि थी। उसने अपने देश की तत्कालीन समस्याओं में सक्रिय भाग लिया। वह जन-निर्वाचन-क्षेत्र से ऑक्सफोर्ड टाउन कौंसिल (Oxford Town Council) के लिए चुना गया। ग्रीन काण्ट का अनुयायी था। उसका ग्रीन पर विशेष प्रभाव है। हीगेल की भाँति ग्रीन के आदर्शवाद में उग्रता नहीं है। आधुनिक दार्शनिक रिची (G D Ritchi), ब्रेडले (F H Bradley) बोसांके (Bosanquet) लिण्डसे (A D Lindsay) और बार्कर (E. Barker) प्रभृति ग्रीन से प्रेरणा लेते हैं।

ग्रीन पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव

(१) ग्रीन प्लेटो और अरस्तू के समान राजनीति-शास्त्र को आचार-शास्त्र का अंग मानता है। वह इन ग्रीक दार्शनिकों के समान ही मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी तथा राज्य को भी एक प्राकृतिक संस्था अंगीकार करता है। वह उन्हीं की भाँति राज्य को स्वाभाविक एवं आवश्यक मानता है और व्यक्ति का जीवन समाज के जीवन का एक अभिन्न अंग है—इसे स्वीकार करता है। किन्तु वह इन यूनानी दार्शनिकों के इस विचार से पूर्ण असहमति प्रकट करता है कि आत्मोन्नति और आत्मानुभूत जीवन केवल कुछ व्यक्तियों के लिए ही सम्भव है। ग्रीन प्रजातन्त्रवादी है और उसका यह दृढ़ विश्वास है कि नागरिक जीवन सब

सभी व्यक्तियों के लिए सम्भव है, जिनकी सार्वजनिक हित की भावना में आस्था है। ग्रीन प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू से अधिक प्रभावित हुआ है। वस्तुतः वह अपने नीति-शास्त्र को अरस्तू के समान ही राजनीति से पूरा करता है और साथ साथ उसका यह भी अटल विश्वास है कि राज्य का अपने व्यक्तिगत सदस्यों के लिए वह सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि वह एक ऐसे हित को सम्भव बनाये जिससे सार्वजनिक हित हो सके। ग्रीन अपने नीतिशास्त्र में आचरण का उद्देश्य 'आत्मतोष' या 'आत्मानुभूति' को बताता है और अपनी राजनीति में सार्वजनिक हित को ही परम हित (Common good as the Supreme good) कहता है।

(२) ग्रीन को पूर्ण विश्वास रूसो के इस कथन में है कि "नैतिक स्वतंत्रता मनुष्य का विशिष्ट और सर्वोत्तम गुण है।" यद्यपि ग्रीन मानव की स्वतंत्र इच्छा (Free will) को स्वीकार करता है, किन्तु यह स्वतंत्र इच्छा अनेक कारणों से परिमित सी है। विशुद्ध अर्थ में स्वतंत्रता से अभिप्राय व्यक्ति की पूर्ण स्वच्छन्दता से कदापि नहीं है। सच्चा सन्तोष ही स्वतंत्र इच्छा का परिचायक है और तभी नैतिक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। सच्चा सन्तोष शान्ति अथवा परमानन्द में सन्निहित है। सच्चा सन्तोष, मन की वह अवस्था है जिसमें मानव की सम्पूर्ण इच्छा का तर्पण हो चुका होता है। वह स्वाधीन होता है क्योंकि उसे आत्म ज्ञान हो चुका होता है। उसी प्रकार उसे आत्म-ज्ञान हो चुका होता है, जिस प्रकार एक विधान पालनकर्त्ता को जो कि विधान का रचयिता भी है।

(३) ग्रीन दर्शन पर जर्मन आदर्शवाद का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। काण्ट के दर्शन ने ग्रीन के आचार-शास्त्र और राज्यशास्त्र को प्रभावित किया है। उसके दर्शन में काण्ट के समान उदारवाद और आदर्शवाद का सामंजस्य मिलता है। किन्तु ग्रीन को हीगेल उतना प्रभावित नहीं कर सका, जितना काण्ट ने किया है। ग्रीन हीगेल के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है कि राज्य स्वतंत्रता की या प्रत्यक्षीभूत स्वतंत्रता की प्राप्ति (State is the realisation of freedom or freedom objectified) है। उसके मतानुसार राज्य स्वतंत्रता की अधिक से अधिक सजीव प्रतिमा (living embodiment) बन सकता है, किन्तु उसको स्वतंत्रता की पूर्ण प्राप्ति कहना, तर्कसंगत नहीं है। ग्रीन हीगेल के इस कथन को भी स्वीकार नहीं करता कि 'जो यथार्थ है वह तर्क-संगत है और जो तर्क-संगत है वह यथार्थ है।'[1] इसके साथ साथ वह प्रतिष्ठित नैतिकता

1 'The Actual is the Rational and the Rational is the Actual

को भी मान्यता नहीं देता है। इस प्रकार ग्रीन का हीगेल के व्यक्तिगत स्वतंत्रता (individual liberty), युद्ध (war) और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (international liberty) आदि विचारों से स्पष्ट मतभेद है किन्तु इन धारणाओं के सम्बन्ध में वह काण्ट के अधिक समीप आ जाता है। उसका काण्ट के समान ही यह विश्वास है कि सदिच्छा (good will) में ही एकमात्र कल्याण है। किन्तु प्रतिनिधि शासन राजा की संविधान में स्थिति, और दण्ड की तर्क-संगति (the rational of punishment) आदि विषयों में ग्रीन का दृष्टिकोण काण्ट और हीगेल दोनों से भिन्न है। जहाँ तक राज्य के गौरव की महत्ता (moral value of the majesty of the state) का सम्बन्ध है, ग्रीन बिना जनता को स्वतंत्रता की आहुति दिये हीगेल के विचार का समर्थन करता है।

(४) ग्रीन क्रामवेल (Cromwell) का वंशज होने के कारण प्यूरिटन और नानकन्फार्मिस्ट (Nonconformist) विचारवाला है। उसने इनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है और नैतिकता तथा स्वाधीनता को महत्त्व प्रदान किया है।

(५) ग्रीन के समय में मिल का बड़ा प्रभाव था। उसकी 'स्वतंत्रता' और 'अर्थशास्त्र' बड़े लोकप्रिय ग्रन्थ समझे जाते थे अतः ग्रीन भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। ग्रीन ने मिल की 'स्वतंत्रता' को आदर्शवादी रूप प्रदान किया। उसके दर्शन को नवीन व्यक्तिवाद और नवीन आदर्शवाद की संज्ञा प्रदान की गयी है।

ग्रीन का राजनीतिक दर्शन

ई० बार्कर (E. Barker) ने ग्रीन के राजनीतिक दर्शन के सम्बन्ध में लिखा है, "मानव चेतना स्वतंत्रता चाहती है, स्वतन्त्रता में अधिकार निहित है, अधिकारों के लिए राज्य की आवश्यकता है।"[1] मानव-चेतना स्वतंत्रता चाहती है और स्वतंत्रता मानव जीवन के लिए परम आवश्यक है। यदि स्वतंत्रता न रहे तो मानव पशुवत् हो जाय। अतः स्वतन्त्रता ही जीवन है। स्वतंत्रता के दो प्रकार हैं (१) आन्तरिक और (२) बाह्य। आन्तरिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है—इन्द्रियों का दमन करना और उनके वशीभूत नहीं होना। आन्तरिक स्वतन्त्रता मूलतः आचार-शास्त्र के अन्तर्गत आती है, किन्तु—बाह्य स्वतंत्रता

1 "Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights; rights demand the state" (E. Barker)

पूर्णतः राजनीतिक विषय है। इसका अर्थ ऐसी बाह्य व्यवस्था की स्थापना से है जहाँ मानव अपने व्यक्तित्व का विकास बिना किसी अवरोध के कर सके। ऐसे वातावरण के निर्माण हेतु जो तत्व या शर्तें हैं, उन्हें ही अधिकार की संज्ञा प्रदान की गयी है। अधिकार उन व्यवस्थाओं या शर्तों का नाम है, जिनके अन्तर्गत स्वतंत्रता सुलभ हो सकती है। किन्तु अधिकार बिना संरक्षण के अर्थ-हीन है। अतः अधिकारों के संरक्षण हेतु राज्य का निर्माण होता है। राज्य का निर्माण मानव-चेतना की नैतिक आवश्यकता को व्यक्त करता है। फलतः राज्य एक नैतिक संस्था है।

स्वतंत्रता का अर्थ

स्वतंत्रता के विचार के सम्बन्ध में ग्रीन काण्ट का अनुयायी है।[1] ग्रीन के मत में स्वतंत्रता से तात्पर्य न तो केवल अहस्तक्षेप की नीति से है और न पूर्ण स्वच्छन्दता से ही।[2] प्रथम के अनुसार, यह केवल नकारात्मक (negative) स्वतंत्रता होगी और दूसरे के अनुसार यह उच्छृंखलता को जन्म देगी। अतः स्वतंत्रता के दो लक्षण हैं: (१) सकारात्मक, जिसमें व्यक्ति को वांछित कार्यों को करने की सुविधा उपलब्ध हो। (२) ऐसी स्वतन्त्रता जिसमें निर्धारित कार्यों को करने की सहूलियत हो और हमारी आत्मोन्नति में सहायक हो। ऐसे असामाजिक कृत्य जिनके द्वारा व्यक्ति की आत्मोन्नति में बाधा पड़ती हो, उसे हम स्वतंत्रता नहीं कह सकते। इस प्रकार व्यक्ति और राज्य के कार्यों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। राज्य स्वतंत्रता का शोषक न हो कर उसका पोषक एवं संरक्षक है। यह स्वतंत्रता केवल राज्य में ही सम्भव हो सकती है।

1 "Green begins from, always clings to and finally ends in the Kantian doctrine of the free moral will in virtue of which man always wills himself as an end" (E. Barker)

2 "Liberty is therefore no negative absence of restraint any more than beauty is the absence of ugliness It is a positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying Liberty, again, inhering as it does in the good will, and in that will only is not a power of pursuing any and every object, but the power of pursuing those objects which the good will presents to itself" (E. Barker)

अतः राज्य का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह, आत्मोन्नति के मार्ग में जो बाधाएँ हैं, उन्हें हटाये।

अधिकार

अधिकार उन व्यवस्थाओं या शर्तों को कहते हैं जिनके अन्तर्गत स्वतंत्रता सुलभ हो सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व विकास हेतु अनेक प्रकार की सुविधाएँ चाहता है और साथ साथ में वह अन्य व्यक्तियों की इस उचित माँग का समर्थन भी करता है। इस प्रकार ये व्यक्तिगत माँगें समाज द्वारा स्वीकृत एवं संरक्षित होती हैं। हम उनको ही अधिकार संज्ञा प्रदान कर सकते हैं जिनके पीछे समाज की स्वीकृति और संरक्षण हो। फलतः अधिकार[1] दो तत्वों से निर्मित है (१) व्यक्ति द्वारा माँग और (२) समाज द्वारा स्वीकृति। किन्तु अधिकारों की समाज द्वारा स्वीकृति के दो आधार हैं। प्रथम के अनुसार, लोकमत कुछ अधिकारों के औचित्य को मान ले किन्तु जिन्हें अभी तक राज्य या विधि द्वारा स्वीकृति या संरक्षण न मिला हो। ग्रीन के मत में ये प्राकृतिक अधिकार हैं। और जिनको राज्य या विधि द्वारा स्वीकृति मिल चुकी है वे वैधानिक अधिकार हैं। किन्तु प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में ग्रीन की यह मान्यता नहीं है जो कि हाब्स, लॉक और रूसो ने प्राकृतिक दशा के सम्बन्ध में रखी है। ग्रीन और अनुबन्धवादी विचारकों के दृष्टिकोण में भिन्नता है। ये विचारक प्राकृतिक अधिकारों को राज्य एवं समाज से सम्पूर्ण स्वतंत्र मानते हैं, जब कि ग्रीन सामाजिक स्वीकृति के बिना अधिकार का कोई अस्तित्व ही नहीं समझता। "समाज से पूर्व अधिकारों के अर्थ में प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना एक अर्थहीन धारणा है, पर नैतिक अथवा आदर्श अधिकारों के रूप में प्राकृतिक अधिकार सारपूर्ण है।" ग्रीन न इन्हें प्राकृतिक अधिकार क्यों कहता है? क्योंकि उसकी दृष्टि में ये मानव-आत्मोन्नति के आवश्यक साधन और उसकी नैतिक प्रकृति की अनिवार्य माँग हैं। अधिकारों का आधार वैधानिकता ही नहीं है वरन् वह आधार सार्वजनिक नैतिक चेतना (Common moral Consciousness) है। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकार प्राप्ति पर अपना लक्ष्य सार्वजनिक हित बना

---

1 "A right may be analysed into a claim of the individual upon society and a power conceded to him by society, but really the claim and concession are sides of one and the same common consciousness." (Lectures on principles of political obligation.)

देता है। अतः अधिकार विधि-सापेक्ष न हो कर नैतिकता से सम्बद्ध है और उसके नियमन के लिए जन-स्वीकृति आवश्यक है।

राज्य

राज्य की सृष्टि का आधार अधिकारों के संरक्षण की आकांक्षा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज-हित में ही उसका हित-निहित है। किन्तु फिर भी, कुछ ऐसी नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं जैसे—क्रोध घृणा स्वार्थ आदि, जो क्षणिक आवेश में उद्दीप्त हो जाती हैं और समाज-हित की भावना धूमिल धूसरित हो जाती है। ऐसे अवसरों पर व्यक्तियों के अधिकारों पर कोई कुठाराघात न हो इसकी उपादेयता सभी अनुभव करते हैं, अतः यह सभी की सामान्य इच्छा है कि कोई ऐसी सुव्यवस्थित संस्था हो जो प्रत्येक अवसर पर अधिकारों की रक्षा कर सके। यह संस्था राज्य है।

ग्रीन राज्य को आदर्शवादी परम्परा के अनुसार नैसर्गिक एवं अनिवार्य मानता है। उसके मत में राज्य एक नैतिक संस्था (ethical institution) है, जो कि व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए परम आवश्यक है। इसका परम लक्ष्य अधिकारों को लागू करना है। यदि उचित समझे तो बलात् भी लागू कर सकता है। राज्य हमारे विरुद्ध कभी-कभी बल का भी प्रयोग करता है। किन्तु वह जो बल-प्रयोग करता है हमारी सब की इच्छा के कारण करता है; क्योंकि इसी उद्देश्य हेतु हमने उसकी स्थापना की है, अतः ग्रीन की यह ऐतिहासिक उक्ति है कि "जन-स्वीकृति राज्य का आधार है बाहुबल नहीं (Will, not force is the basis of the state)।"[1]

सामान्य व्यक्तियों की यह धारणा है कि राज्य का आधार शक्ति या बाहुबल है। शक्ति के आधार पर ही वह कर वसूल करता है तथा शान्ति स्थापित करता है। कुछ विचारकों ने स्पष्ट रूप से उसे शक्ति का प्रतीक कहा है। मैकेन्सी के शब्दों में, "राज्य केवल एक 'शक्ति सावयव' प्राणी है (The state is a power organism)"। स्पिनोजा ने भी कहा है, "राज्य श्रेष्ठतम प्राकृतिक शक्ति को प्रकट करता है। (The state expresses superior physical strength)।" स्पेन्सर के मतानुसार, 'राज्य एकमात्र पशु-शक्ति का

१ ग्रीन की पुस्तक—"Lectures on the principles of political obligation" में एक अध्याय का शीर्षक है—'will, not force is the basis of the state

प्रतीक है (The state was an expression of mere brute force.)। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य शक्ति की धुरी पर केन्द्रित है, किन्तु ग्रीन इसे अपूर्णदर्शिता समझता है। उसने कहा है, 'यह केवल सर्वोच्च अनिवार्य शक्ति ही नहीं, जो राज्य का निर्माण करती है, अपितु सर्वोच्च अनिवार्य शक्ति का एक विशेष ढंग से एक विशिष्ट लक्ष्य की पूर्तिहेतु उपयोग है, जो वस्तुतः राज्य का निर्माण करती है। उदाहरणतः लिखित या व्यावहारिक कानून के अनुसार अधिकारों की रक्षा करना।"[1] इस प्रकार राज्य और उसके सम्बन्धों के पारस्परिक सम्बन्ध शक्ति पर आधारित होने की अपेक्षा सामयवीय अधिक हैं। राजनीतिक अधीनता के सिद्धान्त का उद्देश्य राज्य की नैतिक स्थिति को व्यक्त करना है। राज्य आत्म-बोध (Self-consciousness) की उपज है।

ग्रीन राज्य को एक नैतिक संगठन मानता है। राज्य 'नैतिक जीवन की बाह्य दशाओं को तैयार करता है। वह सामूहिक रूप में समाज को 'उपयोगिता स्थिरता तथा उच्चतम आत्म-ज्ञान प्रदान करता है।" वह अधिकारों का सन्तुलन-कर्ता और सामाजिक न्याय का संरक्षक है।" अतः राजनीतिक अधीनता एक पुनीत कर्तव्य या धर्म हो जाता है। राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य अधिकारों की व्यवस्था करना है। आवश्यकता पड़ने पर उसे यह बल-प्रयोग द्वारा भी करना होगा। राज्य के बल प्रयोग का औचित्य इस कारण से है क्योंकि वह आम जनता की सामान्य इच्छा (General will) को अभिव्यक्त करता है। सामान्य इच्छा से तात्पर्य सामान्य हित की सामान्य चेतना (Common consciousness of the common end) से है, अतः शक्ति नहीं जन-स्वीकृति (इच्छा) राज्य का आधार है।

ग्रीन का नैतिक आदर्श, व्यक्ति की आत्मोन्नति है। यदि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व-विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध हैं तो वह पूर्ण स्वच्छन्द कहा जायेगा। किन्तु यह विकास केवल समाज में रहकर ही सम्भव है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने हित के साथ-साथ सामान्य-हित की भी इच्छा रखता है, समाज के नैतिक (Rational) आधार को प्रदर्शित करता है और यह सामान्य-हित ही यह

1 It is not supreme coercive power exercised in a certain way and for certain ends, that makes a state viz, exercised according to law, written or customary and for maintenance of rights."

नैतिक आदर्श है जो राज्य की बौद्धिक इच्छा (Rational will) है। अतः राज्य का आधार जन-स्वीकृति है, बाहुबल नहीं। राजनैतिक अधीनता से तात्पर्य यहाँ भी दासता से नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अपने आप ही एक सामान्यहित को प्राप्त करने के लिए समाज की नियामक शक्ति (Regulative power) के समक्ष नतमस्तक होता है। समाज सामान्य ध्येय की सामान्य चेतना को व्यक्त करता है। यही सामान्य चेतना अधिकारों तथा सार्वभौम शक्ति का सृजन करती है। सामान्य हित की सामान्य चेतना नैतिकता तथा राजनैतिक अधीनता (Political obligation) दोनों की जन्मदात्री है।

यदि राज्य का आधार जन-स्वीकृति है तो तीन महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं—
(१) यदि इच्छा राज्य का आधार है तो आस्टिन द्वारा प्रतिपादित सार्वभौम सुनिश्चित सर्वोच्च मानव[1] का क्या होगा? क्योंकि इच्छा एक अस्थिर अमूर्त वस्तु है। ग्रीन का उत्तर है, राज्य का वास्तविक शासक ही सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि है।

(२) अधिकांश शासक निरंकुश होते हैं। यदि जन-स्वीकृति ही आधार है तो जनता कैसे उन्हें सहन करती है? ग्रीन कहता है कि ऐसे राज्य आदर्श राज्य की श्रेणी में नहीं आते। यदि जनता उनके आदेशों का पालन करती है तो उसकी मौन अथवा शान्तजन में सहमति अवश्य है।

(३) क्या हमें अपनी इच्छा का बोध है? प्रश्न का उत्तर है कि प्रगतिशील जनतंत्रीय देशों में जनता अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति वयस्क मताधिकार तथा प्रतिनिधि निर्वाचन के अधिकार द्वारा किया करती है।

राज्य का कार्य-क्षेत्र

राज्य एक नैतिक संस्था है। अतः उसका मूल उद्देश्य आत्मोन्नति या आत्मानुभूति (Self-realization) में सहायता प्रदान करना है। किन्तु वह नैतिकता या धार्मिकता के उत्थान-सम्बन्धी कार्यों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य की सार्वभौम शक्ति परिमित है या इससे व्यक्ति-स्वातंत्र्य को आघात पहुँचता है। इसका प्रधान कारण यह है कि राज्य उन धार्मिक एवं नैतिक-वृद्धि के साधनों से सम्पन्न नहीं है। यद्यपि राज्य को प्रत्येक कार्य अन्ततोगत्वा बलप्रयोग अथवा दण्ड द्वारा ही कराना पड़ता है किन्तु नैतिक या धार्मिक उन्नति बलप्रयोग द्वारा नहीं करायी जा

1 Sovereign determinate human Superior

सकती। इसका पालन व्यक्ति स्वेच्छा या अन्तःप्रेरणा से करता है। यदि राज्य नैतिकता की उन्नति बलप्रयोग से करता है तो यह सच्ची नैतिकोन्नति नहीं है, अपितु एक आडम्बर है। इससे अभिप्राय यह भी नहीं है कि राज्य नैतिकता, धार्मिकता और शिष्टाचार सम्बन्धी कार्यों के प्रति तटस्थ रहे। इसका पुनीत कर्त्तव्य यह है कि वह नैतिकता की उन्नति में परोक्षरूप से सहायता प्रदान करे और जो नैतिकोन्नति के मार्ग में अवरोध हैं उन्हें दूर करे। उसे सद्जीवन के मार्ग में जो बाधाएँ हैं उन्हें विधि एवं विधान द्वारा हटाना चाहिए (To act as a hindrance to hindrances against good life)। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति शराबी है तो राज्य उसका मद्यपान बलात् नहीं छुड़ा सकता। राज्य मदिरालय बन्द करके परोक्षरूप से उसकी नैतिकोन्नति में सहायता कर सकता है। जब शराब नहीं मिलेगी तो सम्भव है उसे इस दुर्व्यसन से सदा के लिए मुक्ति मिल जाय।

अधिकांश राजनीतिक विचारक "बाधाओं की बाधा के सिद्धान्त" को निषेधात्मक कहते हैं। निःसन्देह ग्रीन इसे निषेधात्मक (negative) रूप में रखता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह क्रियात्मक (positive) है। यदि राज्य श्रेष्ठ जीवन को सम्भव बनाने के लिए अवरोधों को दूर करता है तो यह उसका क्रियात्मक कार्य है। राज्य को जन साधारण के स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए चिकित्सालयों को खोलना होगा, शिक्षा-स्तर को उन्नत करने के लिए पाठशालाओं की स्थापना करनी होगी और मद्य-निषेध की कार्यान्विति हेतु मदिरालयों को बन्द करना होगा। ग्रीन मदिरापान का इतना विरोधी था कि उसे एक कॉफी की दुकान (Coffee house) खोलनी पड़ी। इस प्रकार वह केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं था, अपितु प्रयोगवादी भी। ग्रीन का "बाधाओं की बाधा का सिद्धान्त" उग्र आदर्शवाद और समाजवाद में एक मध्य-मार्ग (Mid way) उपस्थित करता है।

व्यक्ति को विद्रोह का अधिकार

यदि राज्य अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करे और ऐसा कार्य करे जिससे नैतिक जीवन-यापन में असुविधा हो तो क्या ऐसी स्थिति में व्यक्ति राज्य के आदेशों की अवहेलना कर सकता है? ग्रीन का मत है कि ऐसी अवस्था में व्यक्ति को राज्य का विरोध (Right to resist) करने का पूर्ण अधिकार है। वह राज्य को आदर्श संस्था तो अवश्य मानता है किन्तु एक साध्य (an end in itself) नहीं मानता। यह नैतिक जीवन की सिद्धि का एक साधन मात्र है।

ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार तो अवश्य देता है, किन्तु उसके इस अधिकार को उसने दो प्रतिबन्धों से परिमित कर दिया है—प्रथम के अनुसार, जब कभी राज्य द्वारा विधेयात्मक त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो उसे यह सोचना चाहिए कि क्या यह त्रुटि इतनी महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर है कि इसके लिए राज्य का विरोध करके अन्य राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों तथा सुविधाओं को खतरे में डालना सम्भव है। यदि इसका उत्तर उसे 'हाँ' में मिलता है तो नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य की केवल उसी त्रुटि का विरोध करे। ग्रीन इस सम्बन्ध में सर्वव्यापक विरोध का अधिकार नहीं देता। व्यक्ति को राज्य के अन्य नियमों का स्वेच्छापूर्वक परिपालन करना चाहिए। यहाँ हम ग्रीन और महात्मा गांधी के विचारों में साम्य देखते हैं। गांधी जी ने भी ब्रिटिश सरकार का विरोध करते हुए अन्य कानूनों का पालन किया था। गांधी जी ब्रिटिश सत्ता के घोर विरोधी होते हुए भी आदर्श बन्दी थे। द्वितीय प्रतिबन्ध जो ग्रीन ने लगाया है उसका तात्पर्य यह है कि विरोध करने के पूर्व नागरिक को यह सोचना चाहिए कि यह राज्य-व्यवस्था दूसरे नागरिकों की दृष्टि में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण एवं उचित है जितनी कि मेरी में। यदि अन्य नागरिकों की दृष्टि में उसे यह उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं लगे तो सर्वप्रथम उसका यह कर्त्तव्य है कि वह लोकमत बनाये और जब लोकमत बन जाय तो उसे सक्रिय विरोध करना चाहिए। ग्रीन ने जो प्रतिबन्ध लगाये हैं वे ऐसे हैं जिनका पूर्ण होना प्रायः असम्भव है।

युद्ध

ग्रीन के मत में युद्ध एक नैतिक अपराध है। यह मनुष्य के स्वाधीन जीवन-यापन के अधिकार पर कुठाराघात करता है। यह सर्वव्यापी जीवन का अधिकार तथा सार्वभौम समाज दोनों के नितान्त विरुद्ध है। यह एक ऐसी बुराई है जो व्याप्त बुराई को दूर करना चाहती है या फिर उसका उन्मूलन करना चाहती है। देश-रक्षा के लिए किया हुआ युद्ध भी न्यायसंगत एवं तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यह एक अनुचित कार्य को रोकने के लिए दूसरा अनुचित कार्य करने का प्रयत्न है। अतः ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रबल समर्थक है।

कुछ आलोचकों का मत है कि युद्ध से शौर्य राष्ट्र प्रेम और त्याग आदि सद्गुणों को बल एवं प्रोत्साहन मिलता है। युद्ध के अभाव में ये भावनाएँ सुषुप्त ही रह जायेंगी। अतः मानव प्रगति के लिए युद्ध भी आवश्यक है। ग्रीन का उत्तर इन आलोचकों को यह है कि बहुसंख्यक लोग इन उद्देश्यों से प्रेरित ही नहीं होते। उनके कार्यों का आधार स्वार्थपरता ही होती है। देशभक्ति का स्वयं ग्रीन

सकती। इसका पालन व्यक्ति स्वेच्छा या अन्तःप्रेरणा से करता है। यदि राज्य नैतिकता की उन्नति बलप्रयोग से करता है तो वह सच्ची नैतिकोन्नति नहीं है, अपितु एक आडम्बर है। इससे अभिप्राय यह भी नहीं है कि राज्य नैतिकता, धार्मिकता और शिष्टाचार सम्बन्धी कार्यों के प्रति तटस्थ रहे। उसका पुनीत कर्तव्य यह है कि वह नैतिकता की उन्नति में परोक्षरूप से सहायता प्रदान करे और जो नैतिकोन्नति के मार्ग में अवरोध हैं उन्हें दूर करे। उसे सद्जीवन के मार्ग में जो बाधाएँ हैं उन्हें विधि एवं विधान द्वारा हटाना चाहिए (To act as a hindrance to hindrances against good life)। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति शराबी है तो राज्य उसका मद्यपान बलात् नहीं छुड़ा सकता। राज्य मदिरालय बन्द करके परोक्षरूप से उसकी नैतिकोन्नति में सहायता कर सकता है। जब शराब नहीं होगी तो सम्भव है उसे इस दुर्व्यसन से सदा के लिए मुक्ति मिल जाय।

अधिकांश राजनीतिक विचारक "बाधाओं की बाधा के सिद्धान्त" को निषेधात्मक कहते हैं। निःसन्देह ग्रीन इसे निषेधात्मक (negative) रूप में रखता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह क्रियात्मक (positive) है। यदि राज्य श्रेष्ठ जीवन को सम्भव बनाने के लिए अवरोधों को दूर करता है तो यह अवश्य क्रियात्मक कार्य है। राज्य को जन साधारण के स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए चिकित्सालयों को खोलना होगा, शिक्षण-स्तर को उन्नत करने के लिए पाठशालाओं की स्थापना करनी होगी और मद्य-निषेध की कार्यान्विति हेतु मदिरालयों को बन्द करना होगा। ग्रीन मदिरापान का इतना विरोधी था कि उसने एक कॉफी की दुकान (Coffee house) खोलनी चाही। इस प्रकार वह केवल सिद्धान्तवादी ही नहीं था, अपितु प्रयोगवादी भी। ग्रीन का "बाधाओं की बाधा का सिद्धान्त" व्यक्तिवाद और समाजवाद में एक मध्य-मार्ग (Mid way) उपस्थित करता है।

व्यक्ति को विद्रोह का अधिकार

यदि राज्य अपने कर्तव्य का पालन नहीं करे और ऐसा कार्य करे जिससे नैतिक जीवन-यापन में असुविधा हो तो क्या ऐसी स्थिति में व्यक्ति राज्य के आदेशों की अवहेलना कर सकता है? ग्रीन का मत है कि ऐसी अवस्था में व्यक्ति को राज्य का विरोध (Right to resist) करने का पूर्ण अधिकार है। वह राज्य को आदर्श संस्था तो अवश्य मानता है किन्तु एक साध्य (an end in itself) नहीं मानता। वह नैतिक जीवन की सिद्धि का एक साधन मात्र है।

ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार तो अवश्य देता है, किन्तु उसके इस अधिकार को उसने दो प्रतिबन्धों से परिमित कर दिया है—प्रथम के अनुसार, जब कभी राज्य द्वारा विधेयात्मक त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो उसे यह सोचना चाहिए कि क्या यह त्रुटि इतनी महत्वपूर्ण एवं गम्भीर है कि इसके लिए राज्य का विरोध करके अन्य राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों तथा सुविधाओं को खतरे में डालना सम्भव है। यदि इसका उत्तर उसे हाँ में मिलता है तो नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य की केवल उसी त्रुटि का विरोध करे। ग्रीन इस सम्बन्ध में सर्वव्यापक विरोध का अधिकार नहीं देता। व्यक्ति को राज्य के अन्य नियमों का स्वेच्छापूर्वक परिपालन करना चाहिए। यहाँ हम ग्रीन और महात्मा गाँधी के विचारों में साम्य देखते हैं। गाँधी जी ने भी ब्रिटिश सरकार का विरोध करते हुए अन्य कानूनों का पालन किया था। गाँधी जी ब्रिटिश सत्ता के घोर विरोधी होते हुए भी आदर्श बन्दी थे। द्वितीय प्रतिबन्ध जो ग्रीन ने लगाया है उसका तात्पर्य यह है कि विरोध करने के पूर्व नागरिक को यह सोचना चाहिए कि यह राज्य-अवज्ञा दूसरे नागरिकों की दृष्टि में भी उतनी ही महत्वपूर्ण एवं उचित है जितनी कि मेरी में। यदि अन्य नागरिकों की दृष्टि में उसे यह उतनी महत्वपूर्ण नहीं लगे तो सर्वप्रथम उसका यह कर्त्तव्य है कि वह लोकमत बनाये और जब लोकमत बन जाय तो उसे सक्रिय विरोध करना चाहिए। ग्रीन ने जो प्रतिबन्ध लगाये हैं वे ऐसे हैं जिनका पूर्ण होना प्रायः असम्भव है।

युद्ध

ग्रीन के मत में युद्ध एक नैतिक अपराध है। यह मनुष्य के स्वाधीन जीवन-यापन के अधिकार पर कुठाराघात करता है। यह सवारव्यापी जीवन का अधिकार तथा सार्वभौम समाज दोनों के नितान्त विरुद्ध है। यह एक ऐसी बुराई है जो व्याप्त बुराई को दूर करना चाहती है या फिर उसका उन्मूलन करना चाहती है। देश-रक्षा के लिए किया हुआ युद्ध भी न्यायसंगत एवं तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यह एक अनुचित कार्य को रोकने के लिए दूसरा अनुचित कार्य करने का प्रयत्न है। अतः ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का प्रबल समर्थक है।

कुछ आलोचकों का मत है कि युद्ध से शौर्य, राष्ट्र प्रेम और त्याग आदि सद्गुणों को बल एवं प्रोत्साहन मिलता है। युद्ध के अभाव में ये भावनाएँ सुप्त ही रह जायेंगी। अतः मानव प्रगति के लिए युद्ध भी आवश्यक है। ग्रीन का उत्तर इन आलोचकों को यह है कि बहुसंख्यक लोग इन उद्देश्यों से प्रेरित ही नहीं होते। उनके सम्बन्धों का आधार स्वार्थपरता ही होती है। देशभक्ति का स्वयं ग्रीन

भी आदर करता है, किन्तु यदि देशभक्ति सैनिक शिविरों में परिणत हो जाय या राष्ट्रों के पददलन एवं विनाश में बदल जाय तो फिर राष्ट्र प्रेम का औचित्य नहीं रह जाता। वास्तविकता तो यह है कि देश-प्रेम और विश्ववाद में एकरूपता नहीं है। फिर राज्य की पूर्णावस्था में युद्ध उसका आवश्यक गुण नहीं रहता। स्थायी सेनाओं का रखना स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करता है कि मानव-जाति अभी राजनीतिक दृष्टि से सुव्यवस्थित नहीं है। जब राज्य का राजनीतिक जीवन व्यवस्थित हो जायगा तब युद्ध की कोई जरूरत नहीं रहेगी और यह घृणास्पद कृत्य समझा जायगा।

सम्पत्ति

ग्रीन मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए सम्पत्ति का होना आवश्यक समझता है। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति पैदा करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। ग्रीन का सम्पत्ति की समानता में विश्वास नहीं है। किन्तु जहाँ सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण होता है, वह ऐसी स्थिति में राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करता है। ग्रीन जमींदारी प्रथा का इसी दृष्टि से विरोधी है। वह जमींदार की व्यक्तिगत सम्पत्ति को अनैतिक समझता है, किन्तु पूँजीपति की व्यक्तिगत सम्पत्ति को नैतिक मानता है। उसका विचार है कि जमींदार राष्ट्र के उत्पादन में सक्रिय भाग नहीं लेता। अतः जमींदारी-प्रथा पर नियन्त्रण होना चाहिए। उसकी आदर्श कल्पना के अनुसार एक ऐसा वर्ग जिसमें छोटे-छोटे भू-स्वामी स्वयं अपनी भूमि जोतते हों होना चाहिए।

ब्रैडले (F H Bradley)

(१८४६-१९२४)

ब्रैडले की राजनीतिक विचार-धारा उसकी रचना 'एथिकल स्टडीज' (Ethical Studies) के एक अध्याय 'मेरा स्थान और उसके कर्तव्य' (My station and its Duties) में मिलती है। इसमें ब्रैडले ने अपने राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। ब्रैडले पर प्लेटो और हीगेल दोनों का प्रभाव पड़ा है। ब्रैडले के मत में मनुष्य का अस्तित्व बिना समाज के [illegible] है। समाज ने उसे मानव रूप प्रदान किया है। आज मनुष्य का जो सांस्कृतिक नैतिक एवं बौद्धिक धरातल इतना उन्नत है उसका श्रेय समाज को ही है। "वस्तुतः जिसे हम एक व्यक्ति-मानव कहते हैं वह वही पुरुष है जो समाज के कारण और समाज के बल से बन जाता है, और विभिन्न समाज केवल कल्पना नहीं है अपितु एक यथार्थ सत्य है।" व्यक्ति समाज में जन्म लेता है। प्रत्येक

पग पर समाज उसे प्रभावित करता है। उसका प्रत्येक उच्छ्वास सामाजिकता से ओत प्रोत है। समाज ही उसका जीवन है और समाज ही उसकी मृत्युस्थली है। प्रत्येक मनुष्य का समाज में एक स्थान होता है जो कि परिस्थितियों या उनके स्वतन्त्र चुनाव द्वारा निश्चित होता है। अतः जब समाज में एक बार स्थान निश्चित हो जाय तो एक नागरिक होने के नाते तो सभी कर्त्तव्यों का स्वेच्छापूर्वक पालन करना चाहिए। व्यक्तित्व-विकास तभी सम्भव है जबकि हम समाज और राज्य-सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बनायें। इसी में समाज और व्यक्ति दोनों का कल्याण है। इसी से विश्वबन्धुत्व की भावना भी बढ़ती होती है।

बोसांके (B Bosanquet)

(१८४८–१९२३)

हाबहाउस (L. T Hobhouse) ने बोसांके को हीगेल का "आधुनिकतम और सर्वाधिक निष्ठावान् व्याख्याकार" कहा है। निस्सन्देह ग्रीन काण्ट का अनुयायी है और बोसांके हीगेल का। बोसांके ने जर्मनी के उस आदर्शवाद को अपनाया। उसका प्रारम्भ रूसो और ग्रीन से होता है और उसकी परिणति हीगेल में हो जाती है।"

बोसांके ऑक्सफोर्ड (Oxford) में नीतिशास्त्र का प्रोफेसर था। उसने 'फिलासाफिकल थ्योरी ऑफ स्टेट' (Philosophical Theory of State) नामक राजनीतिक ग्रन्थ की रचना की। बोसांके ने रूसो के 'सामान्य इच्छा' नामक सिद्धान्त को हीगेलवादी पुट दी। 'सामान्य इच्छा' उसके सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु है।

सामान्य इच्छा

रूसो की 'सामान्य इच्छा' का विवेचन करते हुए बोसांके ने व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छाओं का उल्लेख किया है—प्रथम, स्वार्थी इच्छा (Actual will) और द्वितीय सामाजिक इच्छा (Real will)। स्वार्थी इच्छा की आधारशिला स्वार्थपरता है। उसका एकमात्र लक्ष्य निजी स्वार्थ है। यह संकुचित और असम्बद्ध होती है। जीवन के समष्टिरूप का ध्यान नहीं करती। यह अस्थिर, अनित्य और क्षुद्र इच्छा है। यह संकीर्ण और आत्म-विरोधिनी है। सामाजिक इच्छा व्यक्ति की सच्ची स्वाधीनता को व्यक्त करती है। यह स्थायी और निःस्वार्थ इच्छा है। सामाजिक इच्छा समाज-हित को दृष्टि में रखती है और

विवेक पर आधारित है। यह कल्याणमूलक और जीवन के समष्टि रूप का ध्यान रखती है। सामाजिक इच्छा की अभिव्यक्ति और विकास समाज के समन्वय से होता है। यह बुद्धिसंगत और सार्वजनीन होती है।

जिन व्यक्तियों को मिला कर समाज बनता है उनकी 'सामाजिक इच्छाओं का पूर्ण संकलन (Sum total) या संगठन अथवा सामंजस्य ही सामान्य इच्छा है। बोसांके के शब्दों में, 'समस्त समाज की इच्छा या सम्पूर्ण व्यक्तियों की इच्छा जहाँ तक उसका उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण हो।'[1] राज्य सामान्य इच्छा का ही साकार स्वरूप है और उसी के द्वारा संचालित होता है। इस प्रकार बोसांके ने राज्य की इच्छा को 'सामान्य इच्छा' बतलाया है और राज्य द्वारा शासित होने में हम 'सामान्य इच्छा' को जो कि हमारी सामाजिक इच्छा है, अभिव्यक्त करते हैं। नैतिक दृष्टि से कोई व्यक्ति तभी स्वतंत्र समझा जायगा जब कि वह अपनी सामाजिक इच्छा के अनुसार कार्य करता है। 'सामान्य इच्छा' राज्य में निहित है और राज्य द्वारा निर्मित कानून इसका प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य के कानूनों का पालन करने का अभिप्राय है कि हम अपनी सामाजिक इच्छा का पालन करते हैं जो कि सच्ची स्वतंत्रता है। अतएव राज्य के नियमों के पालन करने से ही व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव है। राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। अतः व्यक्ति को राज्य के आदेशों की अवहेलना या विरोध व्यक्तिगत विचारों के आधार पर नहीं करना चाहिए। रूसो की भाँति बोसांके ने भी 'सामान्य इच्छा' और 'सबकी इच्छा' (will of all) में अन्तर किया है। किन्तु बोसांके ने रूसो के इस कथन से असहमति प्रकट की है कि राज्य की इच्छा जब रूप, ध्येय और शील के विचार से सामान्य हो, तभी सामान्य हो सकती है। उसकी सम्मति में, प्रत्येक राज्य की इच्छा ही 'सामान्य इच्छा' है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का प्रदर्शन केवल जनतन्त्र में ही सम्भव है, किन्तु बोसांके की दृष्टि में प्रत्येक प्रकार का राज्य चाहे वह अधिनायक-शाही ही क्यों न हो, 'सामान्य इच्छा' को अभिव्यक्त करता है। एक अधिनायक की आज्ञा वास्तविक स्वतंत्रता का औचित्य सिद्ध करती है। इस प्रकार नागरिक को राज्यसत्ता की आज्ञा को शिरोधार्य करना चाहिए और उसके परिपालन हेतु उन्हें विवश भी किया जा सकता है।

---

[1]The real will of the whole society as such or the wills of all individuals in so far as they aim at the Common good

Bosanquet

राज्य

बोसांके राज्य को अनिवार्य और नैतिक संस्था मानता है किन्तु राज्य प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों की नैतिक उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य व्यक्ति के आत्मोत्थान के मार्ग में जो बाधाएँ हों उन्हें दूर करना है।

राज्य सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था का संरक्षक है। वह नैतिक नियमों से उच्चतर है। इनका प्रचलन एवं संरक्षण राज्य द्वारा ही होता है। वह "हमारे समस्त नैतिक संसार का संरक्षक है वह हमारे संगठित नैतिक संसार का एक तत्व नहीं है।" व्यक्तिगत नैतिकता और राज्यीय नैतिकता में भिन्नता है। राज्य को हम युद्ध, मृत्यु-दण्ड, चोरी और छल-कपट के कारण अनैतिक नहीं कह सकते। उसके कार्यों का उसका अपना एक आदर्श है और उसकी अपनी एक दण्ड व्यवस्था है जो हस्तक्षेप-रहित है। वह व्यक्तिगत अनैतिकता का कभी भी दोषी नहीं हो सकता।

राज्य की अपनी इच्छा और अपना व्यक्तित्व है। इस कारण नागरिकों के प्रति उसका एक उत्तरदायित्व शान्ति-स्थापन और नागरिकों की रक्षा करना है। "वह नैतिक हितों का संरक्षक है और अपने कर्तव्यों के प्रति उसे निष्ठावान् होना ही चाहिए।" इस प्रकार गृह युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय विचार से राज्य पूर्ण नैतिकतावादी और निरंकुश है।

आदर्शवाद की विशेषताएँ

(१) आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। समाज से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है। समाज ही व्यक्ति के पूर्ण विकास हेतु आवश्यक साधनों को जुटाता है। समाज ही व्यक्ति को पूर्णत्व प्रदान करता है।

(२) राज्य एक नैतिक संस्था है जो कि व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए परम आवश्यक है। राज्य जो बल का प्रयोग करता है वह हमारी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।

(३) राज्य आदर्शवादी परम्परा के अनुसार प्राकृतिक एवं अनिवार्य संस्था है और वह मानव-संस्थाओं का अन्तिम स्वरूप है। राज्य का अपना व्यक्तित्व और अपनी इच्छा है। राज्य सामान्य इच्छा का प्रतीक है।

(४) उग्र आदर्शवादी राज्य को साध्य मानते हैं, किन्तु नरम आदर्शवादी इसे साधन मानते हैं।

(५) आदर्शवादी स्वतन्त्रता को सकारात्मक मानते हैं न कि नकारात्मक। सकारात्मक से अभिप्राय अवसरों की उपलब्धि से है।

(६) आदर्शवादियों के अनुसार अधिकार और स्वतन्त्रता समाज में ही सम्भव है और राज्य इनका निर्माता तथा संरक्षक है। राज्य और व्यक्ति के अधिकारों में परस्पर संघर्ष नहीं है।

(७) कुछ आदर्शवादियों के मतानुसार राज्य युद्ध के समय अपने पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचना

(१) आदर्शवाद अव्यावहारिक है। यह जीवन की वास्तविकता से दूर, एक मात्र सूक्ष्म (abstract) और आध्यात्मिक विचार है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह कल्पना-प्रधान ही है। बुद्धिवाद इसकी आधार भित्ति है। विलियम जेम्स का यह कथन नितान्त तर्कसंगत है कि "जिसे निस्संदेह धार्मिक कहा जा सकता है किन्तु जो ठोस तथ्यों, सुखों और दुःखों के निश्चित सम्पर्क से नितान्त अलग रहता है। यह एक विशुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त है।"[1]

आदर्शवाद एक अर्थहीन सिद्धांत है, क्योंकि यह हमारे जीवन के अनुकूल नहीं है और न इसको मूर्तरूप प्रदान किया जा सकता है जैसा कि अरस्तू ने कहा है, "आदर्श राज्य स्वर्ग में ही कदाचित् स्थापित हो सके, पृथ्वी पर तो यह नहीं नहीं है।"

(२) आदर्शवाद पूर्णतया हानिकारक भी है। यह आदर्श को यथार्थ बनाने की अपेक्षा यथार्थ को आदर्श में परिणत कर देता है। हीगेल और रूसो इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अरस्तू ने गुलामी को आदर्श माना है, हीगेल ने युद्ध का औचित्य सिद्ध किया है और ग्रीन ने व्यक्तिगत पूँजी के स्वामित्व की वकालत की है। हाबसन (Hobson) यह कह कर आदर्शवाद पर जबर्दस्त आक्रमण करता है कि यह, "रूढ़िवादिता की एक चाल है।"

(३) आदर्शवादी विशुद्ध विवेक (Pure reason) सामान्य इच्छा (General will) और स्वतन्त्र इच्छा (Free will) आदि के विशद विवेचन में इतने डूब गये हैं कि भौतिक सुधारों की उन्होंने पूर्ण उपेक्षा ही कर दी है।

---

1 Idealistic theory as "a rationalistic philos phy that ind-eed may call itself religious, but that keeps out of all defi nite touch with concrete facts and joys and sorrows"

उनका यह मत है कि नैतिक सुधार भौतिक सुधार का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इसी कारण सम्पत्ति का समुचित वितरण, व्यक्तियों के जीवन-स्तर की उच्चता और निर्धनता-उन्मूलन आदि का विरोध करते हैं। अरस्तू ने कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति में दोष न होकर मानव प्रकृति में दोष है।

(४) आदर्शवादी सिद्धान्त विशेषतः राज्य-कार्य क्षेत्र में नकारात्मक दृष्टिकोण को अपनाता है। उसके पास कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा प्रत्यक्षरूप से मानव की नैतिक उन्नति हो सके। बोसांके ने तो इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है, 'आध्यात्मिक उद्देश्यों की उन्नति करना केवल गौण और अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा ही सम्भव है।'

(५) कोकर का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धान्त अधिक संकुचित तथा कठोर है। वस्तुतः यह सिद्धान्त यूनान के नगर राज्यों (City States) के लिए ही उपयोगी सिद्ध हो सकता था जहाँ नगर और राज्यों के मध्य कोई भिन्नता नहीं थी। आज वैसी स्थिति नहीं है। उन परिवर्तित परिस्थितियों में राज्य और समाज के बीच स्पष्ट भेद है और स्वायत्त संघों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है।

(६) जोड और मेकाइवर (Mac Iver) ने आदर्शवाद की आलोचना के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं —

(१) आदर्शवादी राज्य और समाज को एकरूपता प्रदान करते हैं जो कि एक गम्भीर भूल है। समाज एक स्थायी कुटुम्ब हो सकता है, किन्तु राज्य नहीं।

(२) व्यक्ति का पूर्ण विकास निस्सन्देह राज्य बिना नहीं हो सकता, किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि वह सर्वशक्तिमान् है।

(३) राज्य की रचना व्यक्तियों से अवश्य होती है, किन्तु इससे यह अर्थ निकालना कि राज्य एक व्यक्ति है, ऐसा नहीं है। यह उसी प्रकार एक व्यक्ति नहीं है, जिस प्रकार वृक्षों से निर्मित एक बाग कोई वृक्ष नहीं है या जानवरों की बस्ती स्वयं जानवर नहीं हो जाती।

(४) स्वार्थेच्छा (Actual will) और सामाजिक इच्छा (Real will) का विभेद असिद्ध (unsound) और अव्यावहारिक है।

(५) हाबहाउस ने आदर्शवाद की कटु आलोचना की है। उसने आदर्शवाद

1 'It is denounced as unsound in theory, Untrue to fact and liable to extend a dangerous sanction to actions of State' (C. E. M. Joad)

को निरंकुशता, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और युद्ध का समर्थक होने के लिए दोषी बताया है। इसके अतिरिक्त साम्यवाद और फासीवाद ने हीगेल से प्रेरणा ली है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद, आदर्शवादी विचारधारा अनेक दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण है। प्रथम यह एक प्रकार से उपयोगिता के विरुद्ध स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, क्योंकि उपयोगितावाद का आधार विशुद्ध भौतिक सुखवाद है जबकि आदर्शवाद नैतिक एवं उच्चादर्शों की उपलब्धि का लक्ष्य मानव के सम्मुख प्रस्तुत करता है। द्वितीय व्यक्तिवाद व्यक्ति को प्रधानता देता है और सामाजिक हितों के प्रति उपेक्षणीय दृष्टिकोण अपनाता है। यह नकारात्मक स्वतंत्रता का प्रतिपादन करता है और राज्य-कार्य-क्षेत्र को परिमित कर देता है। इसके विपरीत आदर्शवाद ने राज्य को मानवीय सामाजिक मनोवृत्ति का प्रतिरूप बताया है और राज्य को एक अनिवार्य संस्था मानता है। यह नकारात्मक स्वतंत्रता का खण्डन कर सकारात्मक स्वतंत्रता का औचित्य सिद्ध करता है। आदर्शवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र को असीमित कर देता है और जन-कल्याणकारी राज्य-सिद्धान्त का निरूपण करता है। तृतीय, आदर्शवाद ने राज्य शास्त्र और आचार शास्त्र में गहन सम्बन्ध स्थापित किया है और अन्तिम यह राज्य तथा समाज के तादात्म्य (Organic unity) पर बल देता है। आदर्शवादी व्यक्ति और समाज के मध्य शरीर और उसके अंगों के बीच जैसा ही सम्बन्ध मानते हैं। गार्नर का मत है कि 'आदर्शवाद के विरुद्ध जो आलोचनाएँ की गयी हैं उनमें से अधिकांश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे अनुचित, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं इस सिद्धान्त के मिथ्या विचार पर आधारित हैं।'[1]

---

1 "Much of the criticism which has been directed against idealistic theory is unfair, exaggerated and based on misconception of theory itself" (Garner)

व्यक्तिवाद (Individualism)

राज्य का कार्य-क्षेत्र राजनीति का एक विवादास्पद प्रश्न है। राजनीतिक विचारकों ने इस सम्बन्ध में अपने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं जिन्होंने भिन्न भिन्न 'वाद' का रूप ले लिया है। उनमें से व्यक्तिवाद भी है। व्यक्तिवादी विचारक व्यक्ति-स्वतंत्रता पर अधिक बल देते हैं और राज्य के कार्य-क्षेत्र को बिल्कुल ही परिमित कर देते हैं। उनकी विचारसरणि का एकमात्र लक्ष्य व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करना है। राज्य का ऐसे कार्यों का सम्पादन करना है जो व्यक्ति की प्रगति में बाधक न हों। राज्य की कार्यवाही और व्यक्ति-स्वातंत्र्य में पारस्परिक विरोध है, क्योंकि राज्य का प्रतीक कानून अनिवार्य है। उसका पालन स्वेच्छा पर निर्भर नहीं करता। राज्य अपनी विधियों का बलात् पालन कराता है। राज्य का कार्य-क्षेत्र जितना ही व्यापक एवं विशद होगा, व्यक्ति की स्वतंत्रता उतनी ही सीमित हो जायेगी। इस प्रकार राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करता है। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य में एक जबरदस्त अवरोध है। किन्तु राज्य का अस्तित्व हमारे लिए उपयोगी ही नहीं अपितु परम आवश्यक भी है क्योंकि समाज अधम व्यक्तियों से परिपूर्ण है। उसमें चोर डाकू और हत्यारे भी हैं जो सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में, एक सुदृढ़ संस्था की आवश्यकता है जो इन विनाशकारी तत्त्वों को नियंत्रित कर सके, अन्यथा प्रत्येक क्षण व्यक्तियों का जीवन, उनकी सम्पत्ति और अधिकार संकट में है। ऐसी संस्था राज्य ही है जो अपनी दण्ड-व्यवस्था द्वारा ऐसे व्यक्तियों का नियंत्रित करती है। शान्त वातावरण में ही समाज प्रगति करता है और व्यक्ति की उन्नति और स्वतंत्रता सम्भव है। यद्यपि राज्य निस्सन्देह व्यक्ति-स्वातंत्र्य में अवरोधक है, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक भी है। यह एक बुराई होते हुए भी हमारे लिए आवश्यक है। इसी कारण व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) कहते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य भी आवश्यक है और व्यक्ति-स्वतंत्रता भी। एकमात्र विकल्प यही है कि राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित कर दिया जाय, जिससे व्यक्ति-स्वातंत्र्य में कम-से-कम

हस्तक्षेप हो सके। अतः व्यक्तिवादियों का विचार है कि राज्य को कम-से-कम बहुत आवश्यक कार्यों को ही करना चाहिए। फ्रीमैन (Freeman) का कथन था कि 'सर्वोत्तम सरकार वही है जो न्यूनतम शासन करती है।'[1] उसका तो यहाँ तक कहना था कि 'किसी समाज में किसी प्रकार की सरकार का होना मनुष्य की अपूर्णता का द्योतक है। आदर्श सरकार वही है जिसका मनुष्यों पर कोई नियन्त्रण न हो।'[2]

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के तीन प्रमुख कार्य हैं—(१) बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा (२) आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था (३) न्याय-व्यवस्था। इन तीन कार्यों के अतिरिक्त राज्य को अन्य कार्य जैसे स्कूल और चिकित्सालय खोलना, रेल या डाक प्रबन्ध करना और अन्य आर्थिक एवं व्यावसायिक कार्यों को नहीं करना चाहिए। यदि राज्य आर्थिक एवं व्यावसायिक उन्नति हेतु कार्य करता है तो इससे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप होता है। स्वतन्त्रता से अभिप्राय है हस्तक्षेप का अभाव। अतः राज्य को 'अहस्तक्षेप नीति' (Laisses Faire) को अपनाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपना हित स्वयं भलीभाँति जानता है और वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं का निर्णायक है। जॉन स्टुअर्ट मिल का कथन था कि अपने शरीर, मस्तिष्क और स्वयं अपने पर मनुष्य स्वतन्त्र रूप से अधिकारी है।' इस प्रकार, राज्य को नागरिकों की उन्नति से अलग रहना चाहिए और उन कार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जो नागरिकों की सुरक्षा और विदेशी शत्रु से रक्षा करने के लिए आवश्यक हैं।[3]

४ व्यक्तिवाद का उदय

व्यक्तिवाद के उदय का इतिहास लम्बा है। इसकी जन्मस्थली पूँजीवादी संघर्ष है। पूँजीवादी काल से पूर्व यूरोप में सामन्तशाही का बोलबाला था। इस समय में

---

1 "That government is the best which governs the least."

2 "The existence of government in any form is a sign of man s imperfection The ideal form of government is no government at all (Freeman)

3 State should ab-tain from all solitude for the po it ive welfare of the citizens and ought not to proceed a step further than is necessary for their mutual security and protection against foreign enemies" (Humboldt)

सामन्त, पादरी और सम्राट् जन-जीवन के कर्णधार थे। उनकी प्रभुता थी। प्रत्येक क्षेत्र में—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर उनका एकाधिपत्य था। जनप्रभु वे जन-प्रभु थे। इस युग में व्यापारी वर्ग अधिक शक्तिशाली हुआ। व्यापार में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण उसने सामन्तशाही की अधिनायकशाही को चुनौती दी। अबतक व्यापारी सामन्त की भूमि में व्यापार करते थे, अतः उनको कर देना पड़ता था और साथ-साथ सामन्तों द्वारा बने प्रतिबन्धों को भी मानना पड़ता था। किन्तु अब उसने इन नियन्त्रणों को तोड़ना चाहा। फलतः इंग्लैण्ड में पूँजी फ्रांस में छोटे-छोटे युद्धों तथा जर्मनी में संघ निर्माण द्वारा सामन्तशाही के विरोध में अपनी प्रतिक्रियावादी भावना को व्यक्त किया। उसने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। वह नहीं चाहता था कि आर्थिक एवं व्यावसायिक कार्यों में सामन्ती समाज अथवा राज्य किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करे। इस प्रकार वह नकारात्मक स्वतन्त्रता (Negative liberty) का परम उपासक बना। नकारात्मक स्वतन्त्रता से अभिप्राय है, हस्तक्षेप का अभाव।

१६वीं और १७वीं शताब्दी में व्यापारी वर्ग ने राज्यविरोधी कार्यों में पर्याप्त भाग लिया। उसने धार्मिक सुधार आन्दोलन, फ्रांस के गृह-युद्धों और इंग्लैण्ड में राजा-विरोधी गृह-युद्ध (१६४२-४६) तथा १६८८ की रक्तहीन क्रांति आदि में प्रकाश्य रूप से सहायता दी तथा नेतृत्व किया। वस्तुतः धार्मिक व्यक्तिवाद से राजनीतिक व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। लूथर का सुधारवाद धार्मिक व्यक्तिवाद का जन्मदाता है और इसी धार्मिक व्यक्तिवाद ने राजनीतिक व्यक्तिवाद को, जिसने उदारवाद का रूप ग्रहण किया, जन्म दिया।

लॉक (Locke) जो अनुबन्धवादी विचारक है, सन् १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति का दार्शनिक था। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अनुपम प्रेमी तथा समर्थक था। उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति पर राज्याधिकार की माँग का खण्डन किया और उसके कार्यों को परिमित कर दिया। इस प्रकार लॉक ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का औचित्य सिद्ध कर पूँजीवाद को सबल बनाया।

१७८९ की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का नारा था—'स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व।' किन्तु यह स्वतन्त्रता निर्धनों की अपेक्षा पूँजीपतियों के लिए थी। यद्यपि निर्धन कृषक वर्ग ने इसमें आहुति दी, किन्तु स्वतन्त्रता का उपभोग सम्पत्ति के स्वामियों के लिए था। इस क्रान्ति के दार्शनिक नेता भी ऐसा ही सोचते थे। वॉल्टेयर (Voltaire) की दृष्टि में जनसाधारण की कोई उपयोगिता ही नहीं है। जनसाधारण कुत्तों के झुण्ड के समान है। जनसाधारण का निर्धन

२ + १ = ४ की संकरीति (Arithmetical progression) से होती है। इस प्रकार जनसंख्या जीवन-पालन के साधनों की अपेक्षा अथवा अनुपात में शीघ्र ही बहुत बढ़ जाती है। इसके रोकने का केवल एक ही साधन है और वह है, "राज्य को जनसंख्या की वृद्धि के रोकने का प्रयास करना चाहिए।' ऐसा न करने पर प्रकृति जनसंख्या को वृद्धि को अकाल, युद्ध महामारी आदि द्वारा रोकेगी। माल्थस के इस सिद्धान्त ने अर्थशास्त्र को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया।

डेविड रिकार्डो (David Ricardo)

रिकार्डो का जन्म सन १७७२ में हुआ। उसने "दि प्रिंसिपुल्स ऑफ पोलिटिकल इकानामी (The Principles of Poltical Economy) नामक पुस्तक लिखी, जो १८१७ में प्रकाशित हुई। रिकार्डो के विचारों का प्रभाव राजदर्शन पर भी पड़ा। रिकार्डो ने अपनी पुस्तक में कर सिद्धान्त (Law of Rent) का बड़ा तर्कसंगत विवेचन किया है। उनका मत था कि भूमिकर का निर्धारण राज्य द्वारा नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह अपने आप ही स्थिर होता है। जिस प्रकार नैसर्गिक नियम अपरिवर्तनशील हैं वे सदा एक समान और स्थायी होते हैं, उसी प्रकार भूमि कर का सिद्धान्त भी शाश्वत और स्थायी है। उसके कथना नुसार भूमि पर कर सदैव औसत से अधिक होनेवाली उपज पर लगा करता है। उदाहरणार्थ, 'क' खेत की उपज औसत उपज है, किन्तु 'ख' खेत की उपज उस औसत उपज से अधिक होती है तो जो अतिरिक्त उपज है वह उस खेत का कर होगा। यह नियम अपरिवर्तनशील है। राज्य को इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। रिकार्डो का यह सिद्धान्त भूमि-कर का सिद्धान्त कहलाया।

हम्बोल्ट (Wilhelm Humboldt)

हम्बोल्ट का जन्म १७३६ में हुआ। वह प्रशा का निवासी था। उसकी प्रसिद्ध रचना उसकी मृत्यु के उपरान्त सन् १८५२ में प्रकाशित हुई। उसका कथन था कि राज्य को प्रजा के कार्यों में केवल उतना ही हस्तक्षेप करना चाहिए, जितना कि उनकी पारस्परिक शान्ति-स्थापन करने में सुव्यवस्था बनाये रखने में और बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने में आवश्यक हो। राज्य व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ दे। उसे उद्योग व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा आदि कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। हम्बोल्ट का यह दृढ़ विश्वास था कि 'शासन को, जहाँ तक सम्भव हो सके कम-से कम शासन-कार्य करना चाहिए। सबसे कम शासन

ही सर्वोत्तम शासन प्रणाली का द्योतक है। उसका प्रथम कर्त्तव्य अपने राज्य के व्यक्तियों के व्यक्तित्व को विकसित करना है।'

हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)

स्पेन्सर का जन्म सन् १८२० में हुआ। उसकी शिक्षा साधारण हुई। उसे विश्वविद्यालय में पढ़ने का अवसर नहीं मिला। स्पेन्सर की अभिरुचि जीवशास्त्र में प्रारम्भ से ही थी। उसे बचपन में कीड़े-मकोड़े पालने का शौक था। वह अपने चाचा रेवरेण्ड टामस स्पेन्सर से बड़ा प्रभावित हुआ। उन्हीं के प्रोत्साहन से उसने 'नॉन कन्फर्मिस्ट' में १२ निबन्ध लिखे। स्पेन्सर की राजनीति में भी विशेष रुचि थी। उसने मताधिकार-सम्बन्धी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया। वह सन् १८४१ में 'इकनामिस्ट' (Economist) नामक पत्र का उप-सम्पादक भी रहा। विशिष्ट रूप से स्पेन्सर को जिन विचारकों ने प्रभावित किया उनमें प्रमुख रेवरेण्ड टामस स्पेन्सर, माल्थस, डार्विन और कॉम्टे आदि हैं। स्पेन्सर ने निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं:—

(1) Proper Sphere of Government (1842)
(2) Social Statics (1851)
(3) Principles of Sociology (1896)
(4) Man Versus State (1884)

✓ स्पेन्सर के मत में मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी और दूषित प्रकृति का है। राज्य की स्थापना का कारण उसकी यह अनुचित प्रकृति ही है। "राज्य का अस्तित्व मनुष्य के जन्मजात एवं परम्परागत अहंभाव और दूषित प्रकृति का फल है। अतः वह राज्य रक्षक होने से अपेक्षाकृत अत्यधिक भक्षक है।" "राज्य हमारा रक्षक नहीं है, अपितु आक्रामक है और सरकार एक अनैतिक संस्था है जो आक्रमण के द्वारा ही उत्पन्न होती है।[1] राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के अनैसर्गिक कार्यों पर नियंत्रण करने तथा पारस्परिक आघात प्रत्याघात को रोकने के लिए हुई है। जब मानवसमाज पूर्ण नैतिक हो जायेगा तब राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। एक आदर्श समाज में राज्य की आवश्यकता रह ही नहीं जाती। राज्य एक नैमित्तिक संस्था है और उसका कार्य-क्षेत्र 'नकारात्मक नियन्त्रणकर्त्ता' (Negatively regulative) होना चाहिए। उसका पुनीत कर्त्तव्य न्याय करना और व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना है। व्यक्ति

1 'State is an aggressor rather than protector and government is essentially immoral which is begotten of aggression and by aggression. (Spencer).

जिन कार्यों को सुचारु रूप से स्वतंत्रतापूर्वक कर सकता है राज्य को उनमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

स्पेन्सर आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा हस्तक्षेप का भी घोर विरोधी था। उसने राज्य द्वारा स्वास्थ्य-सुधार के लिए विधियों के निर्माण की भी निन्दा की। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि राज्य को वाणिज्य व्यापार स्वास्थ्य टीका, शिक्षा, डाक-तार, मुद्रा और पंजीयन (Registration) आदि के सम्बन्ध में कानून नहीं बनाना चाहिए। शिक्षा का कार्य हजारों वर्षों से व्यक्तियों एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा होता रहा है। अतः राज्य को यह कार्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि राज्य शिक्षाहेतु व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण करता है तो वह ऐसा करके उसका अहित करता है। इसी प्रकार अन्य सामाजिक संस्थाएँ अस्पताल खोलने, डाक घर चलाने का तथा अन्य कार्य सुचारु रूप से कर सकती हैं। राज्य को लोक-कल्याणकारी कार्य नहीं करने चाहिए। उसने तो यहाँ तक कहा कि चिकित्सकों को लाइसेन्स जो राज्य द्वारा दिया जाता है, वह अनुचित है क्योंकि व्यक्ति इतना बुद्धिमान एवं चतुर है कि वह यह जान सकता है कि कौन चिकित्सक अच्छा है या बुरा। स्पेन्सर धार्मिक संस्थाओं को भी स्वतंत्र रखने के पक्ष में था। इसी आधार पर उसने मुद्राचलन (Currency) का भी विरोध किया। यह कार्य बैंक और धार्मिक संस्थाओं को करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मुद्राचलन सम्बन्धी कानून निर्माण से व्यक्तियों के नैतिक अधिकारों पर कुठाराघात होता है, क्योंकि वस्तुओं के लेन-देन तथा विनिमय सम्बन्धी जो व्यक्तियों के प्राकृतिक नियम हैं, उनमें हस्तक्षेप होता है। इस प्रकार लोक-कल्याणकारी कार्यों में राज्य को 'यद्भाव्यम' नीति का अवलम्बन करना चाहिए।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)

मिल व्यक्तिवादी विचारधारा का सर्वश्रेष्ठ विचारक था। वस्तुतः वह कट्टर व्यक्तिवादी था और व्यक्तिवादी अहस्तक्षेप स्वतंत्रता का प्रबल विवेचक भी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य एवं व्यक्तित्व-विकास हेतु उसने व्यक्तिवादी राज्य और 'यद्भाव्यम्' नीति (Laissez Faire) को आवश्यक बताया। मिल ने अपनी ऑन लिबर्टी (On Liberty) नामक पुस्तक में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

विचार, भाषण और लेखन की स्वतंत्रता

मिल का विचार था कि व्यक्ति को विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता में मिल का आशय बोल कर विचार

व्यक्त करने की स्वतन्त्रता का भी समावेश है। यह स्वतंत्रता आवश्यक इसलिए है जिससे कि मानव प्रगति हो सके। मानव प्रगति में ही समाज-प्रगति निहित है। इस अधिकार का उल्लंघन तभी होता है जबकि वह अन्य व्यक्तियों के इस प्रकार के अधिकारों पर कुठाराघात करता हो। मिल ने इस अधिकार का औचित्य निम्नलिखित तीन कारणों से बताया है—

(१) "किसी व्यक्ति के विचार अन्य सब लोगों के विचारों के विरुद्ध हैं। यदि वह व्यक्ति अपने विचार व्यक्त करे और अन्य व्यक्ति उसकी विचाराभिव्यक्ति में बाधा डालें तो वे उतना अन्याय करेंगे जितना कि वह एक व्यक्ति अन्य सब व्यक्तियों को प्रकट करने से रोक कर सकता है।" यदि एक युग की विचारधारा के विरुद्ध कोई एक व्यक्ति अपने विचार अभिव्यक्त करता है तो उस नई विचार-सरणि का स्वागत होना चाहिए, क्योंकि स्वतन्त्रता के अभाव में यह नवीन विचारधारा समाज के समक्ष न आ सकेगी। इसके अतिरिक्त यह नितान्त सम्भव हो सकता है कि पूर्व प्रचलित विचार-धारा असत्य हो। मिल ने अपने इस तर्क के समर्थन में क्राइस्ट और सुकरात के उदाहरण प्रस्तुत किये। तत्कालीन विचारधारा से इन दोनों चिन्तकों की विचार-धारा सर्वथा नवीन और विपरीत थी। इनकी विचारधारा क्रान्तिकारी थी जो तत्कालीन सत्ता-प्रभुओं को मान्य नहीं थी। अतः इनके विचारों का दमन ही नहीं किया गया अपितु इन सुधारकों को मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि भावी समाज के ये युग-पुरुष प्रणेता हुए। आज सभ्य-जगत् की ये महानात्माएँ पाती हैं। क्राइस्ट ईसाई जगत् के अवतार और सुकरात यूरोपीय दर्शनों के जनक हैं। इस प्रकार व्यक्ति को विचार-अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। सत्यान्वेषण का एकमात्र साधन यही है और समाज की प्रगति तभी सम्भव है।

(२) सत्य के अनेक पहलू होते हैं। और ये पहलू अवलोकन की अपेक्षा सहायक सिद्ध होते हैं। किसी विचार की उपेक्षा अथवा दमन इस आधार पर करना कि इसमें सत्यांश नहीं है, नितान्त भ्रान्ति है और मानव-प्रगति के लिए हानिप्रद है। प्रत्येक विचार में कुछ-न-कुछ सत्यांश अवश्य होता है। अतः विचार-स्वातन्त्र्य सभी को होना चाहिए। आज भारत में अनेक राजनीतिक दल हैं। एक ही दल निश्चित सत्य का दावा नहीं कर सकता। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक दल की विचारधारा एवं कार्यक्रम में कुछ-न-कुछ सत्यांश है। एक निश्चित एवं पूर्ण सत्य का आभास हमें सभी राजनीतिक दलों के समन्वयन

में ही हो सकता है और यह सामंजस्य तभी सम्भव है जबकि विचार एवं वाक्-स्वातंत्र्य हो।

(३) कभी-कभी एक युगीय विचारधारा अन्धविश्वास में परिणत हो जाती है। जब प्रचलित एवं प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुयायी नवीन तर्कों एवं मान्यताओं की उपेक्षा करते हैं तो वह विचारधारा अन्धविश्वास का रूप ले लेती है। अन्धविश्वास से समाज में गतिहीनता आ जाती है। अतः तर्क सत्यान्वेषण के लिए परम आवश्यक है। इससे सत्य ठोस होता है और उसका औचित्य सिद्ध होता है। सत्य और असत्य का संघर्ष ही मानव-समाज को गतिशील बनाता है क्योंकि इससे पूर्ण सत्य का आभास होता है जो कि समाज की प्रेरक शक्ति है। मिल का मत था कि एक विचारधारा तभी जीवित रह सकती है जब कि उसका निरन्तर संघर्ष अन्य विचारधाराओं से होता रहे। यदि ऐसा नहीं होगा तो वह अन्धविश्वास का रूप ले लेगी और जड़वत् हो जायेगी। वस्तुतः व्यक्ति की सच्ची आस्था तभी सम्भव है जबकि वह विचारधारा तर्कसंगत हो। इसी कारण मिल ने विचार एवं तर्क-स्वातंत्र्य का प्रबल रूप से समर्थन किया और "योग्यतम के जीवित रहने के सिद्धान्त" (The principle of survival of the fittest) को विचार-जगत् में लागू किया।

कार्य की स्वतन्त्रता

मिल ने व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया था—(१) आत्म विषयक (Self regarding) और (२) पर-विषयक (Other-regarding)। प्रथम से अभिप्राय है कि जिसका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता हो और द्वितीय से अर्थ है जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता हो। मिल का कथन था कि जब तक कोई व्यक्ति ऐसे कार्य करता है जिसका प्रभाव केवल उसी पर पड़ता है तब तक राज्य या समाज को व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ व्यक्ति को अपने मनोरंजन के लिए रेडियो रखने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। किन्तु यदि वह अपने इस अधिकार का प्रयोग रात्रि के १२ बजे रेडियो की ध्वनि को बहुत तेज करके करता है तो वह वस्तुतः अपने इस अधिकार का दुरुपयोग करता है, क्योंकि इससे सामाजिक अशान्ति बढ़ती है। राज्य ऐसे कार्य में हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार व्यक्ति के कार्यों के ये दो पक्ष व्यक्तिगत और सामाजिक होते हैं जिनके प्रति व्यक्ति का पूर्ण उत्तरदायित्व है। उसकी दोनों के प्रति निष्ठा होनी चाहिए।

मिल का कथन था कि कार्य-स्वातंत्र्य (Freedom of action) चरित्र निर्माण और समाज-प्रगति के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि (१) व्यक्तिगत अनुभव एवं परीक्षण द्वारा ही सत्यानुभूति होती है और उसकी पुष्टि भी सम्भव हो सकती है।

(२) व्यक्ति को सामाजिक परम्पराओं का दास नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन परम्पराओं के कारण मानव की विचार-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। वह प्रगति नहीं कर सकता। अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए उस पर कोई सामाजिक रीति-रिवाजों का बन्धन नहीं होना चाहिए।

(३) मिल नवीन आविष्कारों तथा नवीन प्रेरक शक्तियों को भी प्रधानता देता था। उसका कथन था कि जो अभूतपूर्व प्रतिभावाले व्यक्तित्व हैं, उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जिससे समाज निरन्तर गतिशील रहे और प्रगति-पथ की ओर अग्रसर भी होता रहे।

राज्य का कार्य-क्षेत्र

राज्य का यह पुनीत कर्तव्य है कि व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास हेतु उसे कार्य-सम्बन्धी पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करे। राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप अथवा नियंत्रण लगाना चाहिए जब कि—

(१) व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के दुरुपयोग से अन्यों की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करे।

(२) समाज में आन्तरिक विप्लव या बाह्य आक्रमण की आशंका हो।

(३) शान्ति की सुव्यवस्था में नागरिक के कार्य बाधक हों।

मिल का 'यद्भाव्यम् नीति' के पक्ष में तर्क

(१) व्यक्ति केवल उन्हीं कार्यों के करने में अभिरुचि लेता है जिनके द्वारा उसका व्यक्तिगत लाभ होता है। किन्तु सरकारी कर्मचारी सामाजिक कार्यों में कोई निजी लाभ न होने से रुचि नहीं रखते। अतः राज्य को सामाजिक एवं आर्थिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(२) जब व्यक्ति स्वयमेव कोई कार्य करता है तो उसका ज्ञान बढ़ता है और उसकी अनुभवशीलता ज्ञान को परिपक्व बनाती है। अतः व्यक्ति को स्वयं कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

(३) सभी कार्य राज्य द्वारा करने पर व्यक्ति उसी पर निर्भर हो जाते हैं। जब कोई समस्या उपस्थित होती है तो वे उसी की ओर निर्निमेष देखते हैं। ऐसी

स्थिति में नागरिक आलसी एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। फलतः समाज की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

(४) राज्य की कार्य-सम्बन्धी व्यापकता से नौकरशाही पनपती है। नौकरशाही सामाजिक प्रगति के लिए एक जबरदस्त अवरोध है। अतः राज्य को व्यक्ति-हित एवं समाजहित की दृष्टि से सामाजिक और आर्थिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

मिल का कथन था कि "मनुष्य के कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करने देने का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य की आत्मरक्षा की प्रेरणा देना है। मानव जाति की अधिक उन्नति तभी सम्भव है जबकि हम प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान करें जिन्हें वह अपने लिए हितकर समझता है। उन कार्यों को करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए, जिनसे अन्य मनुष्यों का अहित होता हो और जिन्हें वह स्वयं अच्छा नहीं समझता हो।"

व्यक्तिवाद की पुष्टि में तर्क

व्यक्तिवाद के विचारक तथा अन्य बुद्धिजीवी व्यक्तिवाद के समर्थन में निम्नलिखित तर्कों को प्रस्तुत करते हैं—

(१) आर्थिक
(२) दार्शनिक
(३) प्राणि-शास्त्रीय
(४) ऐतिहासिक
(५) व्यावहारिक

(१) आर्थिक—अर्थ शास्त्रीय व्यक्तिवादियों में प्रमुख एडम स्मिथ माल्थस, रिकार्डो और जान स्टुअर्ट मिल आदि हैं। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र का जन्म फ्रांस में भौतिक अर्थशास्त्रियों द्वारा हुआ जो कि फिजियोक्रेट्स (Physiocrats) कहलाते। फिजियोक्रेट का शब्दार्थ भौतिकवादी है। इस विचार धारा का विकास वाणिज्यवाद(Mercantilism) के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ। फिजियोक्रेट वाणिज्य वादियों के घोरतम विरोधी थे। अन्य देशों की अपेक्षा फ्रांस में इस विचारधारा का बड़ा व्यापक प्रभाव रहा। फिजियोक्रेट विचारकों में फ्रांकोय क्वीजनै (Francois Quesnay), जीन डे गूर्ने (Jean de Gourney) मर्सीयर डी ला रेवियर (Mercier de la Revere) जैक्स टर्गट (Jacques Turgot) और ड्यूपाण्ट डी नैमर्स (Dupont de Nemours) आदि प्रमुख हैं। इन

फिजियोक्रेट्स के विचारों को अंग्रेज अर्थशास्त्री एडम स्मिथ, माल्थस रिकार्डो और स्टुअर्ट मिल ने विकसित किया।

व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों का कथन था कि प्राकृतिक नियमों के समान अर्थशास्त्र के भी निश्चित एवं अपरिवर्तनशील नियम हैं। जिस प्रकार शरद के पश्चात् ग्रीष्म ऋतु आती है और रात्रि की समाप्ति पर प्रभात होता है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है कोई परिवर्तन नहीं होता उसी प्रकार अर्थशास्त्र के नियम भी हैं। उनके अनुसार जीवन-संचालन से ही मानव-कल्याण सम्भव है। राज्य को इसमें किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे हानि होती है। ये आर्थिक नियम निम्नलिखित हैं—(१) निजी स्वार्थ का नियम (Law of self interest)—इसका प्रतिपादक एडम स्मिथ था। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने हानि-लाभ को भलीभाँति और अन्य मनुष्यों से अधिक अच्छा समझता है। अतः आर्थिक क्षेत्र में उसे पूर्णरूपेण स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। वह अधिकतम सुख और लाभ के लिए प्रयास करेगा तभी "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित" भी समाज में सम्भव हो सकेगा। अतः राज्य के लिए सर्वश्रेष्ठ अर्थनीति 'अहस्तक्षेप नीति' ही है।

माँग और पूर्ति का नियम (Law of Demand and Supply)—इस नियम के अनुसार सभी वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्ति के अनुसार अपने आप ही निर्धारित हो जाता है। यदि कोई वस्तु मात्रा में कम है, किन्तु उसकी माँग अधिक है तो उस वस्तु का मूल्य बढ़ जाएगा। इसके विपरीत यदि कोई वस्तु अधिक मात्रा में उपलब्ध है और उसकी माँग कम है तो इसका मूल्य घट जाएगा।

इस प्रकार बाजार में वस्तुओं के मूल्यों में जो उतार-चढ़ाव होता रहता है वह माँग और पूर्ति के ही कारण होता है। वस्तु के मूल्य के समान ही वेतन या मजदूरी भी अपने आप माँग और पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होती रहती है। यह माँग और पूर्ति का नियम अपरिवर्तनशील है। राज्य को किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसे मूल्य और वेतन निर्धारित नहीं करना चाहिए। उसके हस्तक्षेप से माँग, पूर्ति और मूल्य के सन्तुलन में अस्त-व्यस्तता आ जाएगी।

(३) स्वतन्त्र प्रतियोगिता का नियम—इसके अनुसार व्यक्ति अपने हानि-लाभ को भलीभाँति समझता है। वह चाहे अपनी वस्तु का महँगी बेचे या सस्ती वह अन्य व्यक्तियों से सस्ती वस्तुएँ खरीदे और उन्हें बाजार में महँगी बेचे, यह सब उसका अपना दृष्टिकोण है। जिसमें उसका लाभ होगा वह वैसा

ही करेगा। यदि इससे किसी की हानि होती है तो वह उसके लिए उत्तरदायी नहीं है। अतः राज्य को उसे अन्यों के साथ प्रतियोगिता करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। राज्य को किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि वह पर्याप्त दक्ष है और उसे अपने हानि-लाभ का समुचित ज्ञान है। राज्य का हस्तक्षेप अनुचित एवं अनावश्यक है। वस्तुतः स्वतन्त्र प्रतियोगिता व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था का मेरुदण्ड (Key-stone) है।

(४) वेतन का नियम—श्रमिकों के वेतन भी प्राकृतिक आर्थिक नियमों के अनुसार ही निर्धारित होते हैं। वस्तु के मूल्य के समान ही वेतन या मजदूरी भी अपने आप माँग और पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होती रहती है। यदि एक मजदूर काम के लिए दो पूँजीपतियों के पास जाता है तो मजदूरी घटेगी। इसके विपरीत यदि दो पूँजीपति एक मजदूर से काम करने के लिए कहते हैं तो ऐसी दशा में मजदूरी बढ़ जायेगी। इस प्रकार राज्य को वेतन निर्धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय (National Income) का एक निश्चित भाग वेतन या मजदूरी के लिए निर्धारित रहता है, जिसे 'वेतन-निधि' (wage fund) कहते हैं। यदि मजदूरों की संख्या न्यूनतम होगी तो उन्हें अधिकतम लाभ होगा और यदि वे अधिक संख्या में होंगे तो उन्हें हानि होगी। अतः यदि मजदूर अधिकतम लाभ चाहता है तो उसके समक्ष एक ही उपाय है और वह है सन्तति-निरोध। इस प्रकार राज्य को प्रत्येक दृष्टिकोण से 'अहस्तक्षेप नीति' को अपनाना चाहिए। राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक और हानिप्रद है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का नियम—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी स्वतंत्र प्रतियोगिता सम्भव हो सके, इसके लिए उन्मुक्त व्यापार-नीति (Free Trade Policy) आवश्यक है। राज्य को आयात निर्यात पर कोई कर नहीं लगाना चाहिए। निस्सन्देह आयात निर्यात पर उचित कर लगा कर स्वदेशी व्यापार को प्रोत्साहन एवं संरक्षण दिया जा सकता है, किन्तु संरक्षण नीति और उन्मुक्त व्यापार नीति में पारस्परिक विरोध है। इंग्लैण्ड में उन्मुक्त व्यापार-सम्बन्धी आन्दोलन भी चले और अन्ततोगत्वा जब १८४६ में अन्न-कर हटा दिया गया तो इंग्लैण्ड में उन्मुक्त व्यापार का श्रीगणेश हुआ। इससे ब्रिटिश पूँजीपतियों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी लाभ हुआ। भारत में भी ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत 'उन्मुक्त व्यापार नीति' को अपनाया गया जिसके कारण अंग्रेजी वस्तुओं का भारत के बाजारों पर एकाधिकार हो गया। वस्तुतः ब्रिटिश व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों का

उन्मुक्त व्यापार नीति का समर्थन उनकी स्वार्थी भावना को व्यक्त करता है। इस नीति के अवलम्बन से ब्रिटेन और उसके पूँजीपति पर्याप्त रूप से लाभान्वित हुए।

(६) जनसंख्या का नियम—माल्थस का विश्वास है कि राज्य के हस्तक्षेप अथवा विधि निर्माण से सर्वसाधारण के आर्थिक-वैषम्य को मिटाना या उसके जीवन-स्तर को उच्च करना कदापि सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि जनसंख्या की वृद्धि का प्राकृतिक नियम इसके सर्वथा विपरीत है। जीवन-यापन के साधनों में वृद्धि अंक रीति (Arithmetical Progression) द्वारा होती है जबकि जन-संख्या में वृद्धि ज्यामितिक प्रणाली (Geometrical Progression) द्वारा होती है। इस सम्बन्ध में पहिले प्रकाश डाला जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि राज्य को आर्थिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए और राज्य को उद्योग, व्यापार, श्रम आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं लगाना चाहिए। माँग और पूर्ति के नियमों के अनुसार आर्थिक व्यवस्था अपने आप से संचालित होती रहेगी।

(२) दार्शनिक—दार्शनिक दृष्टि से प्रत्येक मानव अपना अलग व्यक्तित्व और अपनी अलग विशिष्टता रखता है। राज्य का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह मानव को ऐसे अवसर दे जिससे कि वह अपने व्यक्तित्व को अपनी विशिष्टताओं के साथ विकसित कर सके। यह विकास तभी सम्भव हो सकता है जबकि राज्य द्वारा कोई नियंत्रण या प्रतिबन्ध न हो। उसे विचार एवं प्रतियोगिता-सम्बन्धी पूर्ण स्वतंत्रता हो और प्रत्येक सम्भव सुविधा उपलब्ध हो। काण्ट, फिक्टे, हम्बोल्ट और मिल आदि इस तर्क की पुष्टि करते हैं। काण्ट का विश्वास था कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य नैतिक दृष्टि से उचित है और नैतिक कार्यों के लिए यह आवश्यक है। हम्बोल्ट के शब्दों में 'मानव का सच्चा लक्ष्य या वह लक्ष्य जिसको विवेक उसके लिए स्थिर करता है, अपनी समस्त शक्तियों का पूर्ण एवं सामंजस्य विकास है।'[1] जान स्टुअर्ट मिल ने भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नैतिक दृष्टि से औचित्य सिद्ध किया था। अपनी पुस्तक लिबर्टी (Liberty) में उन्होंने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के दो पक्ष बतलाये थे—(१) विचार स्वातंत्र्य (Freedom of Thought) और

---

1 "The true end of man or that which is prescribed by the immutable dictates of reason is the highest and most harmonious development of his power to a complete and consistent whole." (Humboldt)

(२) कार्य-स्वातंत्र्य (Freedom of Action)। विचार (१) सत्य, (२) अर्ध सत्य और (३) नितान्त असत्य हो सकते हैं। इन तीनों प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, क्योंकि इनसे लाभ ही होता है। कार्य भी दो प्रकार के होते हैं—(१) आत्म-विषयक (Self-regarding) और (२) पर विषयक (Other regarding)। मिल का कथन था कि आत्म विषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जहाँ तक पर-विषयक कार्यों की स्वतंत्रता का सम्बन्ध है व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि पर-विषयक कार्य सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं। इसकी स्वतंत्रता से सामाजिक ढाँचा जर्जरित हो जायेगा। व्यक्ति को पर विषय कार्यों के सम्पादन में केवल उतनी ही स्वतंत्रता दी जा सकती है जहाँ तक उसके कार्यों से अन्य व्यक्तियों की वैसी ही स्वतंत्रता में कोई बाधा नहीं पड़े। इस प्रकार राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार तभी है जब कि अन्य व्यक्तियों की वैसी ही स्वतंत्रता पर आघात होता हो। मिल का विचार था कि आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्धों के कारण केवल स्वतंत्रता ही सीमित नहीं होती, अपितु "इससे राष्ट्रीय एकरूपता बढ़ती है, जन-कार्य दबाव में और अनैच्छिक रूप में होते हैं और समस्त समाज मूक समतल बन जाता है।"

(३) प्राणिशास्त्रीय—व्यक्तिवाद के समर्थकों का यह कथन रहा था कि इस सिद्धान्त की आधार शिला स्वस्थ वैज्ञानिक है, और यह विकासवादी सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है। यह एक ऐसी पद्धति है जिससे आर्थिक संघर्ष में योग्यतम की विजय हो सकेगी।

हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे प्राणिशास्त्रियों ने भी विकासवादी सिद्धान्त (Theory of Evolution) का प्रचार किया था। विकास की प्रक्रिया जीवों के पारस्परिक जीवन-संघर्ष (Struggle for Existence) द्वारा संचालित होती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में केवल वे ही जीवित रहते हैं, जो शक्तिशाली हैं और बलहीन नष्ट हो जाते हैं। पेड़-पौधे और जीव-जन्तुओं में संघर्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। जिन पेड़ों में अधिक जीवन शक्ति है वे हरे भरे दिखाई देते हैं और जिनमें संघर्ष करने की क्षमता अथवा शक्ति नहीं है वे सूख जाते हैं। जीव-जन्तुओं का जीवन भी इसी संघर्ष द्वारा संचालित होता है। चिरकाल से ही इस प्रक्रिया में अशक्त जन्तुओं का विनाश होता रहा है और उनका स्थान सबल जन्तु लेते रहे हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका मूल कारण

प्रकृति का नियम है। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार जीवन-संघर्ष आवश्यक है। किन्तु इस जीवन-संघर्ष में जो कमजोर हैं वे नष्ट हो जाते हैं और जो योग्यतम अथवा जिनमें जीवित रहने की सामर्थ्य (Survival of the fittest) है, केवल वे ही शेष रह पाते हैं। मानव भी इस नियम से वंचित नहीं है। वह भी अबाध गति से बच रहे इस प्राकृतिक नियम का शिकार है। अतः राज्य को इस जीवन-संघर्ष में बाधक नहीं बनना चाहिए। यदि सरकार निर्धनों या असहायों की कृत्रिम रीति से रक्षा करती है तो उसका यह कृत्य समाज के लिए बड़ा हानिप्रद है, क्योंकि अनुपयुक्त और निर्बल व्यक्ति जिन्हें जीवन-संघर्ष में नष्ट हो जाना चाहिए शेष रहेंगे। इससे समाज की अवनति होगी। स्पेन्सर लिखता है, "यद्यपि ऊपर से देखने में यह अन्यायपूर्ण प्रतीत होता है कि विधवाओं और अनाथों को जीवन एवं मृत्यु से संघर्ष करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाये किन्तु समस्त मानव जाति के कल्याण को दृष्टि में रखते हुए यह विचार हितकारी ही है।[1] अतः 'यद्भाव्यम् नीति' प्राणीशास्त्र एवं प्राकृतिक व्यवस्था के लिए सर्वथा उपयुक्त है। स्पेन्सर स्वतंत्रता असमानता और संघर्ष को सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक समझता था। उसका स्पष्ट मत था कि 'यदि हम शक्तिशाली, योग्य और कर्मठ संतति का विकास करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तियों को उनकी इच्छा पर ही छोड़ देना चाहिए, जिससे सबलों की उन्नति और अयोग्य व्यक्तियों का विनाश हो सके।'[2] अतः राज्य को किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिए जिससे कि समाज का नैसर्गिक विकास और उन्नति हो सके।

(४) ऐतिहासिक—इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है जबकि राज्य द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप हानिप्रद सिद्ध हुआ है। जब कभी राज्य ने व्यापार, वस्त्र और भोजन आदि पर नियंत्रण लगाया अधिक का

---

1 It seems hard that widows and orphans should be left free to struggle for life and death, never the-less when regarded in connection with interest of universal humanity these harsh fatalities are seen to be full of beneficence" (Spencer)

2 "If we are to evolve a race of strong, able and verile human beings, we should leave individuals to themselves the strong will survive and unfit will be eliminated" (Spencer)

वेतन, पूँजीपति का मुनाफा और वस्तु का क्रय-विक्रय निर्धारित किया, वह पूर्ण तया विफल रहा है। भारत में खाद्य, वस्त्र और अन्य जीवनोपयोगी सामग्री पर नियन्त्रण (Rationing) सरकार की असफलता का द्योतक है। इस प्रतिबन्ध से नियन्त्रित वस्तुओं का उत्पादन घटा, चोरबाजारी बढ़ी और भ्रष्टाचार फैला है। जब कभी आयात पर नियन्त्रण लगा तो छिपे तौर से वस्तुएँ दूसरे राज्यों में से लाई गईं और जिस मूल्य पर चाहा उन्हें बेचा। आज भी जिन राज्यों में मद्यपान का निषेध है, वहाँ उसका और अधिक प्रयोग हो रहा है और इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है। इस प्रकार राज्य द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप पूर्णतया असफल ही सिद्ध नहीं हुआ है, अपितु उससे समाज अन्य विकारों का शिकार हो गया है। बकिल का कहना था, "राज्य के अधिकारी इस प्राचीन सिद्धान्त का आश्रय ले समाज पर अन्याय और व्यापार की अवनति करते रहे कि बिना उनके हस्तक्षेप के उद्योग-धन्धों एवं व्यापार की उन्नति हो सकना असम्भव है। किस प्रकार सभ्यता का विकास इन निरन्तर प्रतिबन्धों के समक्ष हो सकता था ?"[1]

(५) व्यावहारिक—जो व्यक्ति राज्य को सर्वशक्ति सम्पन्न समझते हैं और जिनका यह विश्वास है कि प्रत्येक काम सम्पादित करने की उसमें क्षमता है, वास्तव में उनकी यह भ्रान्त धारणा है। राज्य सभी कार्यों के करने की न तो क्षमता ही रखता है और न उसमें सामर्थ्य ही है। राज्य की भी योग्यता और शक्ति की एक सीमा है। इसके अतिरिक्त राज्य कर्मचारी अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक योग्य और अनुभवशील नहीं होते। एक व्यक्ति की अपने निजी उद्योग या व्यवसाय में अधिक अभिरुचि होती है क्योंकि उसमें उसका अपना स्वार्थ है। वह मितव्ययिता का भी ध्यान रखता है। किंतु सरकारी कर्मचारी की राज्य द्वारा संचालित उद्योग में उतनी रुचि नहीं होती क्योंकि उसका न तो उस उद्योग में पैसा लगा है और न अधिक लाभ होने पर उसे लाभान्वित ही होना है। अतः उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है और न वह मितव्ययिता का ही ध्यान रखता है। उदाहरणार्थ रेल का संचालन राज्य द्वारा होता है। रेलवे कर्मचारियों को

---

1 'They went blundering along in the old track believing that no commerce could flourish without their interferance hampering that commerce by repeated harassing regulations, How civilisation could hav advanced in fact of such repeated obstacles." (Buckle)

उसमें कोई विशेष रुचि नहीं है, चाहे लाभ हो अथवा हानि। इसके अतिरिक्त कार्य-शैथिल्य, रिश्वतखोरी और लापरवाही आदि अनेक अवगुण उनमें पाये जाते हैं। इन दोषों के कारण रेल-उद्योग को क्षति पहुँचती है। वस्तुतः राज्य द्वारा संचालित उद्योग-धन्धों में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का अभाव है और न श्रमिकों पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध या अंकुश ही है। किन्तु व्यक्तिगत उद्योग के कर्मचारियों पर उद्योगपति का पूर्ण नियन्त्रण है और उसके आदेश उनके लिए शिरोधार्य हैं। व्यक्तिवादियों का कथन था कि राजकीय उद्योग व्यक्तिगत उद्योग की अपेक्षा अधिक महंगा भी पड़ता है और व्यक्तिगत कार्य-शक्ति एवं दक्षता तो वहीं अधिक बेहतर है। आजतक जितने भी नवीन आविष्कार हुए हैं अधिकांशतः उनका श्रेय व्यक्तिगत प्रयत्नों को ही है। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्तिगत व्यवसाय को क्षति पहुँचती है तो उसका प्रभाव समस्त राष्ट्र पर नहीं पड़ता, जबकि राजकीय उद्योग को हानि पहुँचने पर सम्पूर्ण राष्ट्र पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है। अतः राज्य को अपना कार्य-क्षेत्र केवल शान्ति-व्यवस्था एवं बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा तक ही सीमित रखना चाहिए। यह कार्य उसके द्वारा समुचित रूप से हो भी सकेगा। आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में उसका हस्तक्षेप न आवश्यक ही है, और न लाभप्रद ही।

व्यक्तिवाद का नवीन रूप

व्यक्तिवाद के प्रतिक्रिया-स्वरूप आदर्शवाद और समाजवाद का प्रादुर्भाव हुआ। जिस समय ब्रिटेन में व्यक्तिवादी विचार-धारा की प्रधानता थी उसी समय जर्मनी में आदर्शवादी विचार-धारा प्रचलित हुई। इस विचार-धारा ने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की कटु आलोचना की। १९ वीं शताब्दी में समाजवादी विचार भी पनपने लगे थे। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने समाजवादी दर्शन को वैज्ञानिक स्वरूप दिया। समाजवादी विचारकों ने व्यक्तिवादी आर्थिक दृष्टिकोण का खण्डन किया। उन्होंने उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों के एकाधिपत्य की घोर निन्दा की। इन विचारों का प्रभाव रूस पर पड़ा, जहाँ लेनिन के नेतृत्व में १९१७ में क्रान्ति हुई और समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई। इस व्यवस्था में व्यक्तिवादी आर्थिक दृष्टिकोण के लिए कोई स्थान नहीं था। रूसी क्रान्ति ने विश्व के समस्त राष्ट्रों को प्रभावित किया और इससे श्रमिक आन्दोलन सुसंगठित हुआ। श्रमिकों ने राज्य की उपादेयता समझ कर उससे श्रम-व्यवस्था सम्बन्धी नियम निर्माण का आग्रह किया।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी और इटली में भी जिस शासन व्यवस्था की स्थापना हुई वह व्यक्तिवाद-विरोधी और समाजवादी दर्शन की पक्षपाती थी। जर्मनी का नात्सीवाद और इटली का फासिस्टवाद यद्यपि रूसी साम्यवाद का घोर विरोधी था, किन्तु उसने राजकीय समाजवाद (State Socialism) में अपनी आस्था प्रदर्शित की। इन दोनों देशों में व्यक्ति के कार्यों पर राज्य के एकाधिपत्य को उचित ठहराया गया। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का कोई प्रश्न ही नहीं रहा। यह व्यवस्था व्यक्तिवाद एवं उदारवाद की कट्टर विरोधी थी।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त समाजवादी शक्तियाँ प्रबल रूप में प्रकट हुईं। चीन, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, बल्गेरिया आदि नवीन समाजवादी शक्तियाँ उदित हुईं। इन देशों में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई। इन देशों के अतिरिक्त इङ्गलैण्ड, फ्रांस, इटली आदि देशों में समाजवादी दलों की स्थिति सुदृढ़ होने लगी। वस्तुतः व्यक्तिवादी दर्शन तिरोहित हो गया था और समाजवादी विचारधारा युगीन विचारधारा हो गई। ऐसी स्थिति में व्यक्तिवाद ने एक नवीन रूप धारण किया। समाजवाद के शत्रुओं ने रूस, जर्मनी, इटली और अन्य समाजवादी राष्ट्रों पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अपहरण के आक्षेप लगाये। उन्होंने कहा कि इन समाजवादी राज्यों में व्यक्ति-स्वतंत्रता एक मजाक बनकर रह गई है। वहाँ अधिनायकशाही पनपती है चाहे वह एक व्यक्ति, एक वर्ग अथवा एक राजनीतिक दल की ही क्यों न हो? राज्यशक्ति इस अधिनायकशाही में ही निहित है। ये रूढ़िवादी नेता व्यक्ति-स्वातंत्र्य का औचित्य सिद्ध करते हैं और प्रजातंत्र (Democracy) को आदर्श व्यवस्था की संज्ञा प्रदान करते हैं। चर्चिल (Winston S Churchill) का १९४५ में आम निर्वाचन के समय का गेस्टापो भाषण (Gestapo speech) इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें इङ्गलैण्ड की लेबर पार्टी की आलोचना इसी आधार पर थी, कि यदि वह शक्ति में आ गई तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण हो जायेगा। लेबर पार्टी समाजवाद की स्थापना करेगी और समाजवादी व्यवस्था गेस्टापो शासन को, जो कि नाजीवाद की विशिष्टता थी, प्रतिध्वनित करता है। अमरीका के राजनीतिक नेता भी ऐसे ही विचार रखते हैं। वे भी समाजवाद के कट्टर शत्रु हैं। समाजवादी शक्तियाँ विनष्ट हों इसके लिए वे प्रयत्नशील हैं। समाजवाद के विरोध में उनका प्रबल तर्क यही है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता समाजवादी व्यवस्था में समाप्त हो जाती है। राज्य का एकाधिपत्य हो जाता है और अधिनायकशाही पनपती है।

रूसी अधिनायकशाही के कट्टर शत्रु समाजवादी विचारक भी हैं। ये समाजवादी विचारक मार्क्स को अपना आदिगुरु मानते हैं। वे उससे प्रेरणा लेते हैं, किन्तु रूसी अधिनायकवाद के विरोधी हैं। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली, भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया और जापान आदि देशों के समाजवादी दल साम्यवाद के विरोधी हैं। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उनके दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। इन समाजवादी दलों की आस्था प्रजातांत्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) में है। यद्यपि ये समाजवादी दल व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रधानता देते हैं, किन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि वे व्यक्तिवाद या पूँजीवाद के समर्थक हैं। इनकी दृष्टि में कार्ल मार्क्स उच्च कोटि का प्रजातंत्रवादी था। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में कम्युनिज्म की जो चरम अवस्था है वह मार्क्स के अनुसार आत्म निग्रह सम्पन्न है। उसका सांस्कृतिक स्तर इतना ऊँचा हो गया है कि जनसाधारण स्वतः बिना किसी बाहरी नियंत्रण के या राजदण्ड के भय के बिना ही सहयोग की भावना से प्रेरित हो समाज का संचालन करते हैं। जनतंत्र का यह चरम विकास है। जनतन्त्र को अलग रख कर समाजवाद की कल्पना हो ही नहीं सकती।

मिल की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कल्पना राजनीति दर्शन के लिए एक विशिष्ट देन है। उसकी इस स्वतंत्रता का फेबियनवादी विचारकों तथा आदर्शवादी ग्रीन पर पर्याप्त रूप से प्रभाव पड़ा है। लास्की और जी० डी० एच० कोल जैसे विचारक भी इससे प्रभावित हुए। लास्की रूस के कार्यारम्भ से अधिक प्रभावित हुआ। वह अपनी वृद्धावस्था में रूस का बड़ा ही प्रशंसक हो गया था। यद्यपि वह व्यक्तिवादी विचारधारा का कटु आलोचक था, किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य उसके विचारों का केन्द्र-बिन्दु बना रहा। बहुलवादी विचारकों ने राज्य को एक मानव समुदाय बताया। उनकी दृष्टि में वह सर्वोपरि एवं सर्वशक्तिमान् नहीं है। समाज में अनेक अन्य समुदाय हैं जिनकी उपयोगिता राज्य के ही समान है। अतः राज्य को अन्य समान समुदायों के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रत्येक समुदाय अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र एवं शक्तिमान् है। इस प्रकार बहुलवादियों ने समाज में स्थित अन्य समुदायों का औचित्य सिद्ध कर व्यक्तिवाद का समर्थन ही किया। इस प्रकार नवीन व्यक्तिवाद राज्य की सर्वशक्तिसम्पन्नता, नौकरशाही, सरकार की तानाशाही, संसदीय सरकार में बहुमतदल की निरंकुशता आदि की आलोचना करता है।[1] प्राचीन और नवीन व्यक्तिवाद में जो मूलभूत अन्तर

1 "Modern individualism condemns the omnipotence of the

है वह यह है कि प्रथम व्यक्ति पर विशेष बल देता है, जब कि द्वितीय संघ एवं संस्थाओं पर अधिक बल देता है। आज का सामाजिक ढांचा इतना जटिल या पेचीदा है कि उसमें व्यक्ति का कोई महत्व नहीं रहा है। व्यक्ति के हितों की रक्षा एकमात्र संघों के सदस्य होकर ही हो सकती है। आधुनिक व्यक्तिवादी विचार-धारा निम्नलिखित तत्वों के कारण विकसित हुई—

(१) उत्तरोत्तर ऐच्छिक संघों (आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक यौगिक आदि) की वृद्धि। ये संघ व्यक्ति के हितों की रक्षा करते हैं और इन तथा राज्य के बीच संघर्ष होने पर व्यक्तियों ने राज्य की सत्ता को चुनौती दी है। इस प्रकार जितना आज राज्य महत्वपूर्ण है उतना ही व्यक्तियों के लिए संघ भी है।

(२) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जनता में नैराश्य भाव का संचार होना। युद्ध-काल में राज्य के लिए व्यक्तियों ने सर्वस्व अर्पित किया किन्तु युद्ध की विभीषिका बढ़ती ही गई। फलतः राज्य के विरुद्ध व्यक्तियों में प्रतिक्रियात्मक भावना जागृत हुई। इस प्रकार राज्य की उपयोगिता व्यक्तियों के लिए संदिग्ध हो गई, क्योंकि राज्य ही उनके लिए युद्ध और विनाश लाया। अतः व्यक्तियों को यह अनुभूति हुई कि राज्य की सर्वोपरिता एवं सर्वशक्तिमत्ता मर्यादित होनी चाहिए।

(३) संसदीय सरकार में बहुमत दल की निरंकुशता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए एक चुनौती है। धारासभा में बहुमत दल की राज्य के नाम में जो वैधानिक या असत्य स्वेच्छाचारिता की जाती है, उससे लोक-कल्याण नहीं हो सकता। जन कल्याण के लिए राज्य के कार्य एवं सत्ता का विकेन्द्रीकरण ही एकमात्र निदान है। किन्तु यह विकेन्द्रित व्यवस्था व्यक्तिवादी समाज में ही सम्भव हो सकती है न कि समष्टिवादी समाज में। ग्राहम वालास (Graham wallas) का विचार है कि बहुमत दल की निरंकुशता व्यावसायिक एवं प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की दोनों प्रणालियों के अपनाये जाने पर नियंत्रित की जा सकती है।

(४) बहुलवादियों के अनुसार राज्य संघों का एक संघ है और सर्वोपरि एवं सर्वशक्तिमान् नहीं है।

---

state it protests against the despotism of the bureaucratic government. It criticizes the tyranny exercised by the majority in parliamentary forms of government ' (Joad)

व्यक्तिवाद की आलोचना

व्यक्तिवादियों की यह धारणा कि राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) है, नितान्त भ्रान्ति है। राज्य एक बुराई नहीं है अपितु यह एक निश्चित रूप से अच्छाई है। उसका विकास कृत्रिम की अपेक्षा स्वाभाविक है। राज्य स्वाधीनता का विरोधी नहीं है और न उसकी विधियों से यह आवश्यक ही है कि स्वतन्त्रता का अपहरण हो। उसका एकमात्र कार्य अपराधों को रोकना ही नहीं है अपितु सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों को प्रोत्साहन भी देना है। अरस्तू ने कहा था, "राज्य का जन्म सुखी जीवन बनाने के लिए हुआ था और इसीलिए ही उसका अस्तित्व स्थिर है।"[1] इतिहास इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि मानव जीवन के सफलीभूत हेतु राज्य की सहायता परम आवश्यक है। आधुनिक काल में समाज का आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचा परिवर्तित हो गया है और आज हम सभ्यता की चरमावस्था पर आ गये हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों पर निर्भर है। अतः राज्य के बिना हस्तक्षेप के मनुष्य का समुचित विकास हो सकना असम्भव है। इसी कारण आज विभिन्न राष्ट्रों का लक्ष्य एक लोक कल्याणकारी राज्य (Common Welfare State) हो गया है। 'यदृभाव्यम नीति' कलंकित हो गई है और राज्य का कार्य-क्षेत्र अपरिमित हो गया है। फिर 'राज्य जितना नियमन करता है उतना ही वह हमें स्वतंत्र एवं प्रगतिशील बनाता है।' 'राष्ट्रीयकरण' शोषण की प्रक्रिया का आज एकमात्र उपचार समझा जाता है। अतः आज राज्य का उत्तरदायित्व अधिक बढ़ गया है और व्यक्ति उसके प्रति अपनी अधिक निष्ठा प्रदर्शित करते हैं। उसके नियंत्रण में वे अपना अधिक कल्याण समझते हैं।

(२) व्यक्तिवादियों की विचारधारा में राज्य व्यक्तियों का एक समूहमात्र है। यह कथन तर्कसंगत नहीं है। समाज व्यक्तियों की सामाजिक भावना का प्रतीक एवं परिणाम है। यह व्यक्तियों का समूहमात्र ही नहीं है अपितु उसका एक स्वरूप होता है, व्यक्तित्व होता है और इच्छा होती है। उसका उत्थान और पतन होता है। यह एक सावयव पदार्थ है। यह कहना ठीक नहीं है कि जो एक व्यक्ति के हित में उचित है वह सभी के हित में उचित होगा। व्यक्ति

---

1 'The state comes into existence for the sake of life (i e physical well-being) and continues to exist for the sake of the good life (i e moral welfare)—Aristotle

केवल समाज का एक अंग ही नहीं है, अपितु वह उसका प्रतिनिधित्व करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी इच्छा, हित और उद्देश्य होता है जोकि समान नहीं है। अतः उनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। समाज या राज्य का कर्तव्य व्यक्तियों के व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करना है और इसी कारण वह नियम-निर्माण करता है।

(३) व्यक्तिवाद की यह धारणा कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, उचित नहीं है। व्यक्ति में दोनों प्रवृत्तियों का समावेश है। वह स्वार्थी भी है और परमार्थी भी। दूसरों का वह हित-चिन्तन भी करता है। परमार्थ की भावना कभी कभी उसमें इतनी बलवती होती है कि वह अपना बलिदान तक कर देता है। वस्तुतः व्यक्तित्व एवं सामाजिक कल्याण परस्परविरोधी नहीं हैं। दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं। इसी कारण तो मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग व्यक्ति की कल्पना हो ही नहीं सकती। समाज उसके विचारों का केन्द्र बिन्दु है, अतः समाज-हित-सम्बन्धी नियम राज्य के लिए बनाना आवश्यक है।

(४) व्यक्तिवाद की यह मान्यता कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भलीभांति समझता है, अव्यावहारिक है। सभी व्यक्तियों के लिए यह तथ्य लागू नहीं होता। साधारण व्यक्तियों में दूरगामी हितों को समझने की क्षमता नहीं होती। इसके अतिरिक्त यदि व्यक्ति अपने दूरगामी हितों को समझ भी लेता है तो जिन साधनों के द्वारा उन्हें मूर्तरूप मिल सकेगा, समझने में असमर्थ होता है। अतः राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने नैतिक, आध्यात्मिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं को समझ पाता है। राज्य को ही ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए जिससे मानव उन्नति कर सके। मिल भी इस विचार से सहमत था कि राज्य को व्यक्ति की अनभिज्ञता, नैतिक अवनति और संकट से रक्षा करनी चाहिए।

(५) व्यक्तिवादियों की दृष्टि में नकारात्मक स्वतंत्रता (Negative liberty) आवश्यक है। निस्सन्देह स्वतंत्रता और हस्तक्षेप दो विरोधी वस्तुएँ हैं। जब किसी कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप होता है तो वहां स्वतंत्रता नहीं रह जाती। किन्तु स्वतंत्रता का ऐसा अर्थ लगाना अनुचित है। हस्तक्षेप से एक दिशा में हमारी स्वतंत्रता का यदि अपहरण होता है तो अन्य दिशाओं में हमारी स्वतंत्रता के

---

1 "Apart from his surroundings and relationships, he is mere abstraction, a metaphorical spectre, a mere negation.
(Ritchie)

क्षेत्र का विस्तार भी हो जाता है। यदि बच्चे की खेलने की क्षणिक स्वतंत्रता का अपहरण करके उसे स्कूल भेजा जाता है तो उससे वह अधिक लाभान्वित होता है। शिक्षित होने पर उसे विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्रता के उपभोग का अवसर मिलता है। स्वतंत्रता केवल नियंत्रण का अभाव ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार के अवसरों की उपलब्धि भी है। नियंत्रण स्वतंत्रता को परिपुष्ट, सुदृढ़ एवं स्थायी बनाता है। जिस प्रकार एक रोगी कड़वी कुनैन से स्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तित्व-विकास लाभप्रद है। सुव्यवस्था और सामाजिक हित के लिए नियंत्रण आवश्यक है। जिस प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है, उसी प्रकार इस स्वतंत्रता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए नियन्त्रण भी आवश्यक है। स्वतंत्रता नियन्त्रण में ही साकार होती है।

(६) व्यक्तिवादियों का जीव-सम्बन्धी सिद्धान्त निराधार है। बार्कर का कथन है कि "स्पेन्सर का जीव-सम्बन्धी सिद्धान्त और व्यक्तिवादी सिद्धान्त एक दूसरे के परस्पर विरोधी हैं।" जीवन संघर्ष का सिद्धान्त निम्नतम जीवों के लिए है। मानव उच्चकोटि का नैतिक प्राणी है। असहायों की रक्षा करना वह अपना परम धर्म समझता है। उसका लक्ष्य सामाजिकता की ओर है। हक्सले के शब्दों में, "हमारे सभ्य समाज में अब मनुष्य अपने जीवन के लिए अधिक संघर्ष नहीं करता अपितु पारस्परिक सहयोग तथा सहायता के लिए प्रयास करता है।"[1] 'प्रकृति के चाहे जैसे कठोर एवं निर्मम नियम क्यों न हों, व्यक्ति उनमें मनुष्योचित सुधार कर लेता है। वस्तुतः यह मानव के लिए गौरव की बात है कि उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सामाजिक जीवन को सम्भव बनाया है और नैतिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की है। स्पेन्सर का यह कथन कि जो योग्यतम होते हैं वे ही जीवित रहते हैं, नितान्त भ्रमपूर्ण है। 'योग्यतम' शब्द एक सापेक्षिक (relative) शब्द है। जो आज योग्य है सम्भव है वह कल अयोग्य सिद्ध हो। जिस स्थिति में वह योग्य है सम्भव है उससे भिन्न परिस्थिति में वह योग्य न रहे; जैसे, कालेज का एक विद्यार्थी। आज वह अपनी कक्षा में योग्य है, क्योंकि अन्य साथी पढ़ने में कमजोर हैं किन्तु अन्य योग्यतम साथियों के आने पर या किसी अन्य कालेज में जाने पर उसका योग्यतम होना संदिग्ध है। यदि योग्यतम का अर्थ अत्यधिक

1 "In civilized society man has stopped the ruthless struggle for existence in the interest of the moral principle of mutual sympathy and help." (Huxley)

व्यक्तियों से लगा लिया जाये तब तो निकृष्टतम तथा मूर्ख व्यक्ति ही हमारी प्रशंसा का पात्र हो जायेगा। और एक अजीब दार्शनिक महत्वपूर्ण हो जायेगा फिर इसके अतिरिक्त यह कोई आवश्यक नहीं है कि जो बात निम्न जाति के जीव-जन्तुओं के लिए आवश्यक है वह उच्च कोटि के मानव प्राणी के लिए भी आवश्यक हो। निम्न कोटि का जीव प्रकृति पर आश्रित है, किन्तु मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर अपनी आवश्यकता के अनुसार उसको बना लिया है। वह प्रकृति का दास नहीं, अपितु प्रकृति उसकी दासी है। वह अन्य जीवों से अनेक क्षेत्रों में भिन्न है। उसने सामाजिक जीवन का विकास किया है। वह उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं नैतिक प्राणी हो गया है। अपनी इस नैतिकता के कारण असहायों की रक्षा करना वह अपना परमधर्म समझता है।

(४) व्यक्तिवादियों ने राज्य की असफलताओं एवं अत्याचारों का दिग्दर्शन कराया है। निस्सन्देह राज्य ने अनेक भूलें की हैं, किन्तु इन भूलों की अपेक्षा उसने सद्कर्म भी किये हैं जो प्रशंसनीय हैं और यदि राज्य से भूतकाल में त्रुटियाँ हुई हैं तो भविष्य में भी होंगी यह बुद्धिगम्य एवं तर्क-संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त राज्य की अपेक्षा व्यक्ति अधिक भूलें करता है और वे बड़ी गम्भीरतम होती हैं। राज्य की प्रत्येक विफलता हमारे सम्मुख रहती है, किन्तु व्यक्ति और व्यक्तिगत कम्पनियों की असफलताओं को हम नहीं देख पाते। हक्सले के शब्दों में "राज्य का निवास एक शीशे के मकान में है, जहाँ हम उसके समस्त कार्यों और विफलताओं को देख पाते हैं, किन्तु व्यक्ति के साहस एवं श्रम को अपारदर्शक ईंटों से निर्मित स्थान में रखा जाता है, जिसे जनता सरलता से नहीं जान पाती।"[1] इस प्रकार व्यक्तिवादियों का यह तर्क राज्य की महत्ता को कम नहीं कर पाता। आज व्यक्ति की आस्था राज्य में अधिक है। उसके कार्यों में उसका अधिक विश्वास है और इसी कारण राज्य का कार्य-क्षेत्र उत्तरोत्तर अधिक व्यापक एवं विस्तृत होता जाता है।

---

1 "The state lives in a glass house We see What it tries to do and all its failures, partial or total are made the most of. But priv te enterprise is sheltered under good opaque bricks and mortar The public rarely knows what it tries to do and only hears of the failures when they are gross and patent to all the world." (Huxley)

(८) व्यक्तिवाद के व्यावहारिक तर्क के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि राज्य का प्रबन्ध व्यक्तिगत प्रबन्ध की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। राज्य द्वारा जो सार्वजनिक कार्य किये जा रहे हैं, वे सफल और श्रेष्ठतम हैं। यदि राज्य को कहीं असफलता मिली है तो उसका कारण यही है कि राजकीय प्रबन्ध कुछ अधिक खर्चीला है। किन्तु राज्य के अन्तर्गत मानव का शोषण नहीं होता। उसका परम लक्ष्य समाज-सेवा है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्योगों में जहाँ शोषण की प्रक्रिया पनपती है और जहाँ समाज-सेवा के स्थान पर स्वार्थपरता की प्रधानता है, असफलतायें मिलती हैं। प्रतिदिन दिवाला निकलने की घटनाएँ घटित होती हैं जो कि प्रकाश में नहीं आ पातीं। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तिवाद के अनेक भयावह परिणाम निकले हैं। मजदूरों के प्रति पूँजीपतियों के निर्मम अत्याचारों ने सामाजिक व्यवस्था को दूषित ही नहीं किया जर्जरित भी किया है। उन्हें अस्वास्थ्यकर जगहों में रहना पड़ता था अधिक समय तक कार्य करना पड़ता था और वेतन केवल उतना ही जिससे कि वे जीवित रह सकें। फलतः अतुलित धनराशि इन कुछ उद्योगपतियों के हाथों में एकत्र हो गई। व्यक्तिवादी सिद्धान्त समाज के लिए एक विभीषिका के रूप में प्रकट हुआ जिसका घोर विरोध किया जाने लगा और अन्ततोगत्वा राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ा। १८३३ में इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम फैक्ट्री कानून बनाना पड़ा, जिसके द्वारा श्रमिकों की दशा में सुधार हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य का कार्य-क्षेत्र बड़ा ही विशद हो गया और व्यक्तिवादी सिद्धान्त विलुप्त हो गया।

व्यक्तिवाद के मूल्यांकन के सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट[1] (Gilchrist) ने निम्न लिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

(१) व्यक्तिवाद आत्म-निर्भरता पर अधिक बल देता है।

(२) इसने व्यर्थ के राजकीय हस्तक्षेप के प्रति विरोध प्रकट किया है।

(३) यह समाज में मानव की महत्ता का औचित्य सिद्ध करता है।

(४) व्यक्तिवाद अनावश्यक विधेयकों के रद्द कराने में फलीभूत हुआ है।

---

1 "With the developement of democracy there is not the same reason to support Individualism. Democracy gives the people the management of their own government." (Gilchrist)

निस्संदेह व्यक्तिवाद ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर बल दिया है। उसने राज्य के अनावश्यक हस्तक्षेप का विरोध किया है। उसने ऐसा कर व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्ता प्रदान की है, आत्म-निर्भरता का सुन्दर उपदेश दिया है और राज्य की निरंकुशता को रोका है। इस सिद्धान्त की उपयोगिता इसी से सिद्ध होती है कि यह आज भी किसी अंश में जीवित है और इसकी व्यक्ति-स्वातंत्र्य की धारणा समाजवादी विचारकों को प्रभावित किये हुए है।

३

साम्यवाद (Communism)

कार्ल मार्क्स के पूर्ववर्ती

कार्ल मार्क्स ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसे वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific socialism) मार्क्सवाद (Marxism) और साम्यवाद आदि विविध नामों से पुकारा जाता है। इस समाजवादी या साम्यवादी विचार धारा का प्रतिपादन अकेले मार्क्स ने ही नहीं किया था अपितु ऐसे अनेक विचारक हुए, जिन्होंने इसके विभिन्न अंगों का प्रतिपादन किया। वस्तुतः यह समाजवादी विचार-सरणि उतनी ही पुरातन है जितना कि मानव-समाज। यूनानी सभ्यता के युग में सर्वप्रथम प्लेटो (Plato) ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'दि रिपब्लिक (The Republic) में साम्यवादी समाज की कल्पना की थी। उसने 'सम्पत्ति एवं पत्नियों के साम्यवाद' (Communism of property and wives) सम्बन्धी विचार प्रकट किए थे। उसने अपने आदर्श राज्य का जो चित्रण किया था उसमें दार्शनिक राजाओं (Philosopher kings) और सैनिकों का जिन्हें उसने अभिभावक वर्ग (Guardian Class) में रखा था सम्पत्ति और निजी परिवार से वंचित कर दिया था। उसने उन्हें एक एकड़ भूमि पर भी स्वामित्व

---

1 Marx was not of course, the first socialist writer of the 19th century There was a rich crop of socialist ideas before he wrote; its very abundance bearing witness to the spiritual emptiness of the age St. Simon and Guizot were spreading the idea of the class war, Proudhon the notion that property is theft; Fourier the conception of the middle classes as commercial despots; Sismondi the view of the inevitability of crises, booms and slumps; Owen the faith that the new factory era would be one of co-operation instead of Competition." (C. L. Wayper)

प्रदान नहीं किया और न उनके लिए कोई गृह-व्यवस्था ही थी।[1] उनके निवास के लिए बैरक (Barracks) जो सभी के लिए खुले होंगे, उन्हें निर्धारित वेतन मिलेगा और सार्वजनिक भोजनालयों में वे भोजन करेंगे। उनका सोना चाँदी का स्पर्श भी उसने निषिद्ध ठहराया। प्लेटो की दृष्टि में, शासकों और सैनिकों का केवल एक ही घर है और वह है राज्य। सम्पत्ति एवं पत्नी विहीन अभिभावक वर्ग की कल्पना उसने इस धारणा पर आधारित की कि सम्पत्ति का प्रलोभन तथा पत्नी और बच्चों का ममत्व शासकों को भ्रष्ट कर देता है। उन्हें निरंकुश, अत्याचारी और शोषक बना देता है। क्या प्लेटो अपने इन विचारों में मौलिक था? नहीं। स्पार्टा में सार्वजनिक भोजनालय (Common messing) की परम्परा थी और राज्य-प्रयोजन हेतु, अन्य व्यक्तियों को पतियों द्वारा अपनी पत्नियों को उधार देने की प्रथा प्रचलित थी (wives were lent by husbands to others for state purposes)। युरिपाइडस (Euripides) ने भी 'रिपब्लिक' के लिखे जाने से पूर्व 'पत्नियों के साम्यवाद' विषयक विचार प्रकट किए थे। प्लेटो इनके विचारों से अवश्य प्रभावित हुआ होगा। किन्तु आधुनिक साम्यवाद और प्लेटो के साम्यवाद में विशिष्ट अन्तर है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद नैतिक, राजनीतिक आध्यात्मिक और आत्मत्यागात्मक था जबकि आधुनिक साम्यवाद पदार्थवादी, आर्थिक और धर्म विहीन है। प्लेटो समाज को सजीव रूप प्रदान करता है, जब कि आधुनिक साम्यवाद वर्ग-विहीन समाज की कल्पना करता है। उसका मुख्य साधन आत्म-संयम (Self restraint) और त्याग था, अपेक्षाकृत उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के।[2] उसकी साम्यवादी व्यवस्था केवल अभिभावक वर्ग तक ही सीमित थी। जन-साधारण वर्ग कृषक, व्यवसायी और उत्पादक-वर्ग उसकी परिसीमा में नहीं आते। इसी कारण प्लेटो का साम्यवाद अर्द्ध साम्यवाद (Half Communism) कहा जाता है। प्लेटो के साम्यवाद में सर्वहारा का अभिभावकत्व, तथा

---

1 "Pull down walls," Plato replies, " they shelter at best a restricted family feeling they harbour at the worst avarice and ignorance Pull down the walls, and let the free air of a common life blow over the place where they have been "

2 "It is the way of surrender, and it is surrender imposed on the best and only on the best." (Barker)

सत्ता, धार्मिक एवं राजनीतिक सत्ता के सामंजस्य और राज्यविहीन समाज के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्लेटो की मृत्यु के लगभग १६०० वर्ष उपरान्त अंग्रेजी विचारक सर टॉमस मोर (Sir Thomas More), ने भी अपनी पुस्तक 'दि यूटोपिया' (The Utopia) में व्यक्तिगत सम्पत्ति-रहित आदर्श साम्यवादी-समाज का चित्रण किया था। उसने जिस आदर्श राज्य की कल्पना की थी उसे 'यूटोपिया' की संज्ञा प्रदान की। इस यूटोपिया राज्य में मुख्य व्यवसाय कृषि होगा। ६ घंटे प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी विभेद के कार्य करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादित पदार्थ में से आवश्यकतानुसार वस्तु मिलने का अधिकार होगा। दस वर्ष के बाद गृह-परिवर्तन भी लाटरी द्वारा होता रहेगा। यद्यपि सभी अपने-अपने घरों में रहेंगे किन्तु भोज्य-व्यवस्था सामूहिक ही होगी। घंटी बजते ही सभी परिवार अपने-अपने निर्धारित भोजन-कक्षों (Dinning halls) में चले जाएँगे। सभी की वेश-भूषा एक सी होगी किन्तु स्त्री और पुरुष की वेश-भूषा में भिन्नता होगी। प्रशासन में भी सभी को समान अधिकार होगा। इसी प्रकार के विचार फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने, न्यू एटलांटिस (New Atlantis) में इटली के कैम्पानेला (Canpanela) ने, सिटी ऑफ दि सन' (City of the Son) में और 'ओशियाना (Oceana) में अंग्रेजी विचारक जेम्स हैरिंगटन (James Harrington) ने प्रकट किए थे। इनके अतिरिक्त सेंट साइमन (St Simon), राबर्ट ओवेन (Robert Owen) और चार्ल्स फूरिये (Charls Fourier) प्रभृति काल्पनिक समाजवादी विचारक जिनकी समाजवादी भावनाएँ करुणा और दया पर आधारित थीं विशेष उल्लेखनीय हैं।

सेंट साइमन (St Simon)

(१७६०–१८२५)

सेंट साइमन फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रभावित विचारक था। उस समय उसकी अवस्था तीस वर्ष से भी कम थी उसका जन्म फ्रांस के प्रसिद्ध सामन्तवादी परिवार में १७६० में हुआ था। वह आरम्भ से ही ईसाई पादरियों के सम्पर्क में

रहा। वह १७७७ में फौज में भर्ती हो गया और १७७९ में अमेरिका चला गया। अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध में उसने भाग लिया। वह मेक्सिको भी गया और उसके बाद फ्रांस लौट आया। साइमन अपने सैन्य जीवन से ऊब चुका था। अतः उसने फौजी नौकरी छोड़ दी। उसने दार्शनिक वैज्ञानिक एवं बुद्धिजीवियों के सान्निध्य में रह कर ज्ञानार्जन किया और अपने विचारों में उग्रवादी हो गया। १७८९ की फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के समय उसने अपने कुलीनपद (Nobility) का परित्याग कर दिया और अपना नाम चार्ल्स हेनरी बानहाम (Charles Henri Bonhomme) रखा। उसने अपना विवाह किया, किन्तु मतभेद रहने के कारण अपनी पत्नी को तलाक दे दिया। उसने अल्पकाल में ही अपनी पूँजी जो कुछ उसके पास थी, खो दी और फलतः वह निर्धन हो गया। यहाँ तक कि उसे अपनी जीविका हेतु एक क्लर्क के रूप में भी काम करना पड़ा। साइमन ने अपने अन्तिम दिन बड़ी दरिद्रता में बिताये। यदि उसके मित्रों ने उसकी सहायता न की होती तो वह भूखों मर जाता। अपने इस आर्थिक संकटकाल में भी साइमन ने अपने लक्ष्य को नहीं छोड़ा। यद्यपि उसके शिष्यों की संख्या अधिक नहीं थी, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके शिष्यों ने उसके सिद्धान्तों का प्रचार जनता में जारी रखा और दस वर्ष के अन्दर ही वह फ्रांसीसी जनता का अवतार हो गया। सेंट साइमन ने 'दि इण्डस्ट्री (The Industry) और दि क्रिश्चियनिज्म' (The Christianism) नामक पुस्तकें लिखीं, जो उसके विचारों पर प्रकाश डालती हैं।

सेंट साइमन यह भलीभाँति जानता था कि धर्म का प्रभाव जनता पर से घट रहा है और ऐसी दशा में नैतिक सिद्धान्तों का भी कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। अतः उसकी इच्छा थी कि नैतिक सिद्धान्तों को ईसा के उपदेशों के आधार पर अभिनवीकृत किया जावे। उसने इस नवीन नैतिकता को 'सकारात्मक नैतिकता' की संज्ञा प्रदान की।

साइमन का लक्ष्य नैतिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से समाज का सुन्दर संगठन करना था। वह उद्योग के आधार पर समाज को संगठित करना चाहता था। उसने श्रम एवं पूँजी के सहयोग का समर्थन किया, जिससे कि सर्वोत्तम फल उपलब्ध हो सके। उसने वर्ग-संघर्ष का प्रतिपादन नहीं किया था। वस्तुतः उसके काल में पूँजीवाद अभी अपनी शैशवावस्था में ही था। अतः वह श्रमिक एवं पूँजीपति के परस्पर विरोध ईर्ष्या और घृणा को नहीं देख पाया था। उसने पारिश्रमिक समानता (equality of remuneration) का भी समर्थन नहीं किया था, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह व्यक्ति की क्षमता एवं पेशे पर निर्भर करती है।

सेंट साइमन ने प्रथम 'जनता के पत्र' द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, 'सभी मनुष्यों को काम करना चाहिए।' उसने फ्रांसीसी क्रान्ति को एक वर्ग युद्ध की संज्ञा प्रदान की थी जिसमें कि सभी वर्गों ने भाग लिया था। उसका यह कथन एक ऐतिहासिक तथ्य था जो उसकी उपलब्धि की प्रतिभा पर प्रकाश डालता है। सन् १८१६ में साइमन ने घोषित किया था कि राजनीति उत्पादन का ही विज्ञान है। उसका कथन था कि यदि हम किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना करना चाहते हैं तो हमें तत्कालीन उत्पत्ति के साधनों का अध्ययन करना होगा उनकी प्रवृत्ति को समझना होगा। उसकी दृष्टि में, राजनीतिक परिवर्तनों का आधार आर्थिक या उत्पत्ति के साधनों में होनेवाले परिवर्तन ही थे। उसने यह भी भविष्यवाणी की कि कुछ दिनों में राजनीति अर्थशास्त्र में विलुप्त हो जाएगी। इस प्रकार उसके मत में आर्थिक व्यवस्थाएँ ही राजनीतिक संस्थाओं की आधार भित्ति हैं। उसने 'राजसत्ता के उन्मूलन' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसने कहा था कि व्यक्तियों पर होनेवाला आधुनिक राजनीतिक शासन वस्तुओं पर होनेवाले शासन में परिवर्तित हो जायगा और ऐसी स्थिति में उस व्यवस्था का उद्देश्य उत्पादन-क्रिया का संचालनमात्र रह जाएगा।

सेंट साइमन की 'रिआर्गनाइजेशन ऑफ यूरोपियन सोसाइटी' (Reorganisation of European Society) नामक पुस्तक १८१४ में प्रकाशित हुई। उसने लिखा था कि यूरोप एक नवीन सामाजिक संगठन के लिए लूथर के समय से ही लालायित रहा है। ऐसे समाज में वैज्ञानिकों का समुचित मूल्यांकन होना चाहिए। उसका न तो किसी प्रकार की समानता में विश्वास था, और न स्वतन्त्रता में और न लोकप्रिय सार्वभौमता में ही। वह साम्यवादी अधिनायकत्व का समर्थक था। वह उत्तराधिकार की प्रणाली का उन्मूलन चाहता था। उत्पादन के साधनों को वह उन व्यक्तियों के अन्तर्गत रखना चाहता था जो उनका प्रयोग कर सकें। उसका लक्ष्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना था, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वरप्रदत्त क्षमता के अनुसार स्थान और कार्य के अनुसार पारिश्रमिक मिलता रहे। उसकी वर्ग-विहीन समाज की योजना में केवल श्रमजीवी वर्ग के लिए ही स्थान था। जो श्रम नहीं करेगा उसका अन्त हो जायेगा। उसने यहाँ तक कहा था कि यदि पूँजीवादी, सामन्तवादी और आभिजात्य वर्ग को आधुनिक समाज से बहिष्कृत कर दिया जाये तो कोई हानि नहीं है। किन्तु श्रमजीवी-वर्ग के निष्कासन का वह पक्षपाती नहीं था क्योंकि ऐसा करने से सम्पूर्ण समाज को विनष्ट करना होगा।

उस समय अन्य कारखानों में श्रमिकों के काम करने के घंटे १३ या १४ थे। किन्तु न्यू लानार्क मिल में मजदूरों को केवल साढ़े दस घंटे ही काम करना पड़ता था। एक बार जब रुई के अभाव में कारखाना चार मास के लिए बन्द हो गया तो भी बेकार श्रमिकों को उनका पूरा वेतन दिया गया। ऐसी दशा में भी कारखाने को घाटे की अपेक्षा दुगुना लाभ हुआ।

किन्तु ओवेन को श्रमिकों की इस आदर्श-व्यवस्था से मानसिक सन्तोष नहीं हुआ, क्योंकि अभी वे शोषित थे। ओवेन ने स्वयमेव ही कहा, 'ये सभी मेरे दास हैं।' उसका कहना था, '२,५०० व्यक्तियों का यह श्रमिक जनसमूह प्रतिदिन जितना वास्तविक धन पैदा करता है अर्ध शती पूर्व उसे उत्पन्न करने के लिए ६,००,००० व्यक्तियों की आवश्यकता होती। किन्तु ६ लाख व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह हेतु पहले जितनी धनराशि की आवश्यकता थी उससे बहुत ही कम धन से २५०० व्यक्तियों का जीवन निर्वाह हो जाता है। मैं अपने से ही प्रश्न करता हूँ कि शेष धन कहाँ चला जाता है?' उसका संकेत बड़ा स्पष्ट था। यह शेष धन 'न्यू लानार्क मिल' के उद्योगपतियों की जेबों में चला जाता है। ओवेन ने कहा था, यदि 'मशीनों द्वारा उत्पन्न किया हुआ यह धन न रहता तो न तो नैपोलियन को ही पराजित किया जा सकता था और न कुलीनवर्ग के सिद्धान्तों के रक्षार्थ युद्ध ही होते। फिर भी इस नवीन शक्ति को श्रमिक वर्ग ने ही पैदा किया था।" अतः ओवेन चाहता था कि श्रमिक-वर्ग को भी इस धन का उपभोग करना चाहिए।

किन्तु जब तक ओवेन ने अपने साम्यवादी विचारों को प्रकट नहीं किया तब तक वह एक उच्चकोटि का समाज-सुधारक और जनप्रिय लोक-नेता था। उसके प्रति अगाध निष्ठा थी। कुलीनवर्ग के लोग भी उसके विचारों का आदर करते थे। किन्तु ज्यों ही उसने अपने साम्यवादी विचारों को व्यक्त किया, पूँजीवादी वर्ग उसका कट्टर शत्रु हो गया। यूरोप का यह महामानव समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। समाचारपत्रों में उसके लिए कोई स्थान नहीं रहा और अमेरिका में उसकी योजना असफल हो गई। अब वह सम्पत्ति-हीन हो गया था।

ओवेन ने अब पूर्णतः अपना सम्बन्ध श्रमिक-वर्ग से जोड़ा और जीवन के शेष ३० वर्ष उनके बीच बिताये। उसने श्रमिक-आन्दोलन को सुदृढ़ किया। जनता हित चिन्तन ही अब उसका एकमात्र लक्ष्य था। ओवेन का नाम इंगलैण्ड में उन सभी कार्यों, समाज-सुधारवादी आन्दोलनों और कानूनों से जुड़ा हुआ है जिनके द्वारा मजदूरों का हित हुआ है या अन्य किसी प्रकार की कोई प्रगति [illegible]

है। इंग्लैण्ड के फैक्ट्री ऐक्ट का श्रेय ओवेन को ही है। उसने ही १८१३ में इंग्लैण्ड की प्रथम श्रमिक कांग्रेस का सभापतित्व किया था। इस कांग्रेस में इंग्लैण्ड की सभी श्रमिक-संस्थाओं ने भाग लिया था।

ओवेन का कथन था कि सरकार का लक्ष्य शासक और शासित दोनों का हित-चिन्तन होना चाहिए। शिक्षा समाज की भलाई में एक बहुत बड़ा भाग अदा करती है। वातावरण मानव का निर्माण करता है, किन्तु वह उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। मनुष्य आनन्द-प्राप्ति की इच्छा लेकर पैदा हुआ है। यही इच्छा उसकी समस्त गतिविधियों का प्रथम कारण है जो जीवन-पर्यन्त रहती है। इसे आत्म-हित (Self-interest) कहते हैं। वह दुःख जिसकी व्यक्ति अनुभूति करता है और वह सुख जिसका वह आनन्द लेता है, ज्ञान की उस मात्रा और गुण पर निर्भर करता है जिसे वह प्राप्त कर सकता है और जिस पर उसके चारों ओर के व्यक्तियों का अधिकार है। संसार में मिथ्या धारणाओं ने सदा बुराई और दुःख को पैदा किया है। इसके अस्तित्व का एकमात्र कारण मानव की मानवीय प्रकृति के प्रति अनभिज्ञता रही है। अधिकांश जनसंख्या श्रमिक-वर्ग की है। यही वर्ग सभी के सुख एवं सुविधा को प्रभावित करता है।

ओवेन समाज को पूर्णतः साम्यवादी ढंग पर संगठित करना चाहता था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने संगठन-स्वरूप सहयोग समितियों की स्थापना की। इनमें उत्पादक और उपभोक्ता दोनों थे। इसी प्रकार दूसरा संगठन, श्रम बाजार का था। इन बाजारों में वस्तुओं का विनिमय उनके उत्पादन में लगे श्रम के घंटों के आधार पर होता था। विनिमय की सुविधा हेतु 'श्रम के नोट' भी प्रचलित किये गये थे, जिनकी कीमत श्रम के घंटों में छपी थी। यह योजना सफलीभूत नहीं हो सकी। इसी योजना को प्रूधों ने 'विनिमय बैंक' के रूप में अपनाया।

कुछ विचारकों का कथन है कि ओवेन अपने जीवन-काल में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सका। उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक परीक्षण 'न्यू लानार्क मिल्स' का था, जिसने कि संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। लेकिन जब उसने अपना सम्बन्ध औद्योगिक जगत् से तोड़ा और सामाजिक परिवर्तनों के लिए एक सुधारक की भाँति कार्य किया तो उसे असफलताओं का सामना करना पड़ा। जब कवि एमर्सन (Emerson) ने ओवेन से पूछा कि आपके शिष्य कौन हैं? कितने व्यक्तियों ने आपके विचारों को अपनाया है? कौन आपके बाद आपके सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देगा तो ओवेन का उत्तर था 'एक भी नहीं।'

किन्तु ओवेन का यह मूल्यांकन उचित नहीं है। उसकी भूलों एवं योजनाओं की असफलताओं के होने पर भी इस असाधारण व्यक्तित्व ने विश्व की सामाजिक चिन्तनधारा को बड़ा प्रभावित किया था। उसका यह दोषारोपण कि आधुनिक सामाजिक ढाँचा अन्याय, बेकारी और बर्बादी के लिए उत्तरदायी है, उसका यह बल देना कि सामाजिक सुख मानवीय प्रगति का आदर्श है, उसका यह आग्रह कि सामाजिक वातावरण चरित्र को बहुत प्रभावित करता है, और उसका यह तर्क कि सामान्य कल्याण के लिए सम्पत्ति के उत्पादन एवं वितरण में सभी सहयोग करते हैं, आदि विचारों ने भावी पीढ़ी पर अपनी गहरी छाप लगाई। वस्तुतः जिन व्यक्तियों ने समाजवादी सहकारी तथा ट्रेड यूनियन आन्दोलनों में भाग लिया और जिन्होंने शिशु-शिक्षण, श्रमिक-कानून और जेल-सुधार आदि कार्यों में अपनी दिलचस्पी प्रदर्शित की, उनके लिए ओवेन का त्याग, तपस्या एवं लगन सदैव प्रेरणात्मक सिद्ध हुई।

चार्ल्स फूरिये (Charles Fourier)

(१७७२–१८३७)

फूरिये एक फ्रांसीसी समाजवादी विचारक था। उसका जन्म १७७२ में फ्रांस में हुआ था। उसने अपना जीवन एक क्लर्क के रूप में आरम्भ किया। उसके मानस को इस घटना से बड़ा आघात पहुँचा कि हजारों टन चावल समुद्र में इसलिए फेंक दिया गया क्योंकि उसे कम मूल्य पर नहीं बेचा जा सकता था। उसने फ्रांस में छद्म रूप से राजतन्त्र का समर्थन किया था किन्तु उसने आर्थिक सामाजिक राजनीतिक एवं नैतिक अव्यवस्था की ओर चिन्ता भी की थी क्योंकि समाज इससे उत्पीड़ित था। गरीबी, सामाजिक असमानता, युद्ध और कौटुम्बिक जीवन की विच्छिन्नता इस अव्यवस्था की ही देन थी।

फूरिये एक सुन्दर आलोचक और संसार के उच्चकोटि के व्यंग्य-लेखकों में से था। उसने फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति की पराजय के उपरान्त फ्रांस में फैली धोखेबाजी, सट्टेबाजी और घोर व्यावसायिक मनोवृत्ति का बड़ा नग्न चित्रण किया था। उसका कथन था कि किसी समाज की स्वाधीनता का अनुमान उस समाज की स्त्रियों की स्वतंत्रता से लगाया जा सकता है। उसने सामाजिक विकास के सम्पूर्ण इतिहास को चार युगों में विभक्त किया था—जंगल, बर्बर, पितृसत्तात्मक और सभ्य। उसका कहना था कि बर्बर युग में, "जो पाप साधारण ढंग प्रकाश्य रूप से हुआ करते थे, वे सभी सभ्य युग में भी होते हैं, किन्तु उन पर सभ्यता का आवरण

रहता है, पाखण्डपूर्ण जीवन का गहरा परदा पड़ा रहता है।" उसके मत में सभ्यता अपने ही अन्तर्विरोधों की परिधि में चक्कर काट रही है, और जिन अन्त विरोधों को वह समाप्त करना चाहती है उनका बार-बार प्रकटीकरण होता रहता है। इस प्रकार जितने भी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं उनके फल अपने वांछित लक्ष्य के विपरीत सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ, फूरिये ने कहा था कि "सभ्य युग में आवश्यकता से अधिक उत्पादन से निर्धनता का जन्म हुआ है।" उसने द्वन्द्ववाद के आधार पर यह सिद्ध किया कि प्रत्येक युग में उत्थान-पतन की दो अवस्थाएँ आती हैं। इसी आधार पर उसने भविष्यवाणी की कि एक दिन मनुष्य-जाति का भी अन्त हो जायगा।

फूरिये ने आदर्श समाजों की एक योजना बनाई थी जिसमें उसने समस्त मानवता को छोटे-छोटे समुदायों में बाँट दिया था। उसने इन समुदायों को 'फेलान्जे' (Phalange) की संज्ञा प्रदान की थी। उसके मत में, ऐसे प्रत्येक समुदाय की संख्या १६०० से २००० तक होनी चाहिए और चार-चार व्यक्तियों की एक पारिवारिक इकाई हो। काम के घंटे कम होने चाहिए और आय का प्रमुख स्रोत कृषि हो रहे। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि कम-से-कम इतना रुपया प्रत्येक परिवार को अवश्य मिले कि वह अपना जीवन-यापन भलीभाँति कर सके। जो व्यक्ति निम्न श्रेणी का कार्य करें उन्हें अधिक पारिश्रमिक मिले। सामुदायिक लाभ के सम्बन्ध में फूरिये का कहना था कि एक निश्चित अनुपात के अनुसार इसको समस्त परिवारों में बाँट दिया जाये। उसने इन समस्त वर्गों में श्रमिक-वर्ग को ही प्रधानता दी थी।

फूरिये ने राजनीतिक राज्य के पुनर्गठन पर विचार नहीं किया था। उसके कथनानुसार राज्य के अन्त के बाद ऐच्छिक समुदाय ही सामान्य मामलों की व्यवस्था करेंगे। फूरिये अराजकतावादी नहीं था। वह प्रधानतः सहकार वादी था। उसने व्यक्तिवाद और पितृवाद दोनों को अस्वीकार किया। यद्यपि फूरिये न तो अराजकतावादी था और न साम्यवादी, किन्तु फिर भी उसके विचार पूँजीवाद के शत्रुओं को बड़े लाभकारी सिद्ध हुए। 'अहस्तक्षेप नीति' के आलोचकों ने उसके दर्शन से अनेक तर्कों को ग्रहण किया। समाजवादियों ने उसके श्रम सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपनाया। निस्सन्देह उसके विचारों का फैक्टरी कानून और स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

प्रूधों (Proudhon)

(१८०९–१८६५)

प्रूधों "अराजकतावाद का पिता" माना जाता है। उसका जन्म १८०९ में हुआ था। वह पत्रकार और फ्रांसीसी संविधानिक सभा का सदस्य था। वह मार्क्सवाद के प्रमुख आलोचकों में से था। उसका कथन था 'सम्पत्ति शक्तिशाली द्वारा बलहीन का शोषण है। साम्यवाद बलहीन द्वारा शक्तिशाली का शोषण है।' "साम्यवाद काल्पनिक है। जब कभी साम्यवाद के लागू करने का प्रयास किया जाता है तो उसका परिणाम सम्पत्ति के एक प्रकार में होता है। मैं साम्यवाद का विरोधी हूँ क्योंकि मैंने वरदाता का परित्याग कर दिया है और समाजवादी सभी इसके वशीभूत हैं।" प्रूधों साम्यवाद को कुटुम्ब के साथ कुछ बेमेल-सा मानता था। "यह विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान का विनाश है। यह वितरण और संगठन के एक सूत्र को मालूम करने में असमर्थ रहा है। यह अनुदार-ग्राहक, असहिष्णु एवं अज्ञात है। यह दुर्गति का धर्म है। इसने अपने विचार अति प्राचीन, रहस्यात्मक अप्रचलित अनिश्चित और अपरिभाषित परम्पराओं से ग्रहण किये हैं। साम्यवाद का धर्म दर्शन और सर्वत्र सुख के अभाव से है।" मार्क्स ने भी प्रूधों की कटु आलोचना की थी। उसने उसे 'मूर्ख और बेकार' से सम्बोधित किया और उसकी पुस्तक फिलासफी ऑफ पावर्टी (Philosophy of Poverty) को 'पावर्टी ऑफ फिलासफी' (Poverty of Philosophy) की संज्ञा दी थी।

प्रूधों का दर्शन वितरणवादी था। वह सम्पत्ति के वितरण में विश्वास करता था। उसका कथन था कि पूर्ण प्रजातंत्र पूँजीपतियों को सत्ता-विहीन किये बिना सम्भव नहीं है। वह एक नरम समाजवादी था। उसका लक्ष्य आर्थिक पुनर्विभाजन एवं नियंत्रण द्वारा वर्गहीन समाज की प्राप्ति था। उसके विचारों ने प्रथम एवं द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ को भी प्रभावित किया था। निस्सन्देह वह समानता, स्वतंत्रता और श्रमिकों की अनिश्चिततासम्बन्धी समस्याओं का महान् विचारक था।

इन उपर्युक्त काल्पनिक समाजवादियों की विचारधारा ने उन्नीसवीं शताब्दी के समाजवादियों को बहुत काल तक प्रभावित किया। इंगलैण्ड और फ्रांस के सभी समाजवादी इन्हीं से प्रेरणा लेते थे और इन्हें ही अपना गुरु मानते थे। जर्मनी की प्रारम्भिक साम्यवादी विचारधारा पर भी इनका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। इनके अनुसार

समाजवाद परम सत्य, विवेक और न्याय की अभिव्यक्ति है। किन्तु अपने विचारों में मौलिक साम्य पाते हुए भी, ये एकमत नहीं थे और न इनके विचारों की पृष्ठभूमि वैज्ञानिक ही थी। यद्यपि इन विचारकों ने तत्कालीन सामाजिक अन्याय की भर्त्सना की थी किन्तु इनके पास न तो सामाजिक विश्लेषण की कोई प्रणाली ही थी और न संसार से अन्याय के उन्मूलनार्थ उसे दूर करने के उपाय ही थे।[1] अतः ये सभी विचारक 'काल्पनिक विचारक' (Utopion Thinkers) कहे जाते हैं। किन्तु हम इन विचारकों की उपेक्षा नहीं कर सकते। समाजवाद के इतिहास में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये भावी चिन्तकों के लिए अनुप्रेरक सिद्ध हुए। इन्होंने समाजवाद' को प्रचारित ही नहीं किया, प्रत्युत कार्ल मार्क्स को इनके द्वारा बहु सुन्दर एवं अनूठी सामग्री उपलब्ध हुई थी उसके विचारों की आधार भूमि बनी।[2] कार्ल मार्क्स ही सर्वप्रथम ऐसा विचारक था जिसने समाजवादी विचारधारा को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया।[3] 'उसने समाजवाद को एक षड्यन्त्र के रूप में पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप में छोड़ा।'[4] उसने इसे दर्शन एवं निर्देशन का रूप प्रदान किया और उसके द्वारा यह एक विश्वसंगठन बन

---

1 "The Utopianism of Owen, Fourier and Saint Simon was but devoid of historical perspective and largely unaware of economic process. Almost no attention was paid to the mechanics of change- it was confidently expected that persuation and example would suffice " (Wasserman)

2 "They voiced those irrational longings of the empty soul from which so much of the driving force of socialism comes. They provided him with many a useful brick and tool They popularised the idea of a socialist society They elaborated the labour theory of value " (C. L. Wayper)

3 "Marx, then, is the first socialist writer whose work can be termed scientific He not only sketched the kind of society which he desired but spoke in detail of the stages through which it must evolve " (C. E. M. Joad)

4 "He found Socialism a conspiracy and left it a movement " (Wasserman)

गया ।[1] मार्क्स का वर्ग-विहीन समाज का सपना कल्पना पर आधारित न होकर वास्तविक एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित था । इसी कारण मार्क्स की विचारधारा को 'वैज्ञानिक समाजवाद' की संज्ञा प्रदान की गयी है । कार्ज कैटलिन का कथन है, ''मार्क्स के दर्शन में पूर्ण क्रमबद्धता है । उसमें यह क्रम-बद्धता इसलिए है क्योंकि क्रान्तिकारी कार्यक्रम की आधार शिला वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त है; वर्ग-संघर्ष की आधारशिला अतिरिक्त मूल्य का आर्थिक सिद्धान्त है, आर्थिक सिद्धान्त की आधारशिला इतिहास की आर्थिक व्याख्या है और इस व्याख्या का आधार स्वयं मार्क्स-हीगेल का तर्क या द्वन्द्ववाद है और यह आधारित है भौतिकवादी अध्यात्म पर ।'[2]

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

(१८१८–१८८३)

मैक्सी (Maxey) का कथन है कि ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में संयम से लिखना बड़ा कठिन है, जिसे एक ओर असंख्य व्यक्ति देव-तुल्य समझते हैं और दूसरी ओर लाखों व्यक्ति दैत्य मानकर घृणा करते हैं । कार्ल मार्क्स के सम्बन्ध में निष्पक्षता से कुछ कहने का अर्थ अपनी भर्त्सना कराना होगा क्योंकि जो व्यक्ति मार्क्सवादी मंदिर में पूजा करते हैं वे एक ओर प्रतिक्रियावादी कहेंगे और जो व्यक्ति मार्क्सवादी अर्चना को पक्षपात समझते हैं अथवा उससे आतंकित हैं वे एक साम्यवाद या साम्यवाद-सहानुभूतिक की संज्ञा देंगे । ऐसे व्यक्ति को, जिसके विचारों ने संसार को दो प्रतिद्वन्द्वी खेमों में विभक्त कर दिया है, उपेक्षा

---

1 "Through him it acquired a philosophy and a direction. Through him, also, it became an international organisation laying continuous emphasis upon the unified interest of the working classes of all countries." (Laski—Communism)

2 "The Marxian Philosophy is a coherent whole. It is massive because revolutionary action is built upon class-war theory, the class-war upon the economic theory of surplus value, this economic theory upon the economic interpretation of history, this interpretation upon the Marxo-Hegelion logic or dialectic and this upon a meterialistic metaphysics." (George Catlin)

करना भी न्यायसंगत नहीं होगा । अतः ऐसे विचारक के सम्बन्ध में विचार करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि हम भावना-विहीन होकर उसे समझने का प्रयास करें ।

मार्क्स का जन्म ५ मई १८१८ में प्रशा प्रान्त के ट्रीर शहर में एक सुखी मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था । इनके पिता वकील थे और ऐसे यहूदी थे जिन्होंने मार्क्स के जन्म के ६ वर्ष बाद ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेण्ट मत को अपनाया था । उनकी माँ का जन्म एवं पालन-पोषण हालैण्ड में हुआ था । वह कट्टर धार्मिक महिला थी । मार्क्स ने ट्रियेर की पाठशाला में पढ़ने के उपरान्त, बोन और बर्लिन के विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई । यद्यपि वह कानून पढ़ता था किन्तु उसका अधिकांश समय इतिहास और दर्शन के अध्ययन में ही व्यतीत होता था । उसमें उच्चकोटि की बौद्धिक प्रतिभा थी । वह असाधारण प्रौढ़ छात्र था, जिसकी प्रतिभा के सम्बन्ध में उसके अध्यापकों ने कहा था, 'वह उन अनुकूल आशाओं की पूर्ति करेगा जिनका औचित्य उसकी क्षमता द्वारा सिद्ध होता है । १८४१ में विश्वविद्यालय की शिक्षा के बाद मार्क्स ने शोध-कार्य प्रारम्भ किया । उसका शोध विषय था Epicure s Philo-Sophy । मार्क्स अपने छात्र-जीवन में ही हीगेल के 'आदर्शवाद' से प्रभावित हुआ था और वह बर्लिन में ब्रूनोबायर आदि के साथ प्रगतिशील हीगेलपंथियों में से था । मार्क्स ने स्नातक होने के उपरान्त विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होने की बात सोची, किन्तु सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति ने उसे पत्रकारिता को अपनाने के लिए विवश कर दिया । १८१२ में सरकारी प्रतिक्रियावादी नीति का ल्युडविग फायरबाख भी शिकार हुआ था और फलतः उसे अध्यापक-पद छोड़ना पड़ा था । फायरबाख की विचारधारा से मार्क्स प्रभावित था, जैसा कि एंगेल्स ने लिखा था, "हम (मार्क्स सहित सभी प्रगतिशील हीगेलपंथी) शीघ्र ही फायरबाख के अनुयायी हो गए ।" कोलोन में 'राइनिश जाइटुंग' (Rhemische Zeitung) नामक पत्र का मार्क्स १८४२ में प्रधान सम्पादक हो गया, किन्तु सरकारी हस्तक्षेप के कारण १८४३ में उसे बन्द कर देना पड़ा । इस पत्रकारिता के जीवन में मार्क्स इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि उसे अभी अर्थशास्त्र का समुचित ज्ञान नहीं है । अतः वह अर्थशास्त्र के अध्ययन में लग गया ।

१८४१ में मार्क्स ने क्रायजनाख में जेनी फॉन वेस्ट फालेन से विवाह किया । जेनी उसकी बचपन की मित्र थी और कुलीन परिवार की थी । उसका बड़ा भाई

प्रथा सरकार में गृहमंत्री था। सितम्बर १८४४ में मार्क्स की पेरिस में एंगेल्स से भेंट हुई और तभी से दोनों घनिष्ठ मित्र हो गये। दोनों ने पेरिस के क्रान्तिकारी दलों के कामों में सक्रिय भाग लिया। मार्क्स ने प्रूधों की विचारधारा से जिसका फ्रांस में विशेष प्रभाव था मतभेद प्रकट किया। उसने प्रूधों की रचना 'फिलासफी ऑफ पावर्टी' (Philosophy of Poverty) को 'पावर्टी ऑफ फिलासफी' (Poverty of Philosophy) की संज्ञा प्रदान की। उसने निम्न-मध्यम वर्गीय समाजवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का विरोध करते हुए क्रान्तिकारी श्रमिक समाजवाद (Revolutionary Proletarian Socialism) के सिद्धान्तों एवं नीति रीति का प्रतिपादन किया। १८४५ में मार्क्स को पेरिस से निष्कासित होना पड़ा। १८४७ में मार्क्स और एंगेल्स लंदन में कम्युनिस्ट लीग (communist League) के सदस्य हो गये। नवम्बर १८४७ में इस लीग के द्वितीय अधिवेशन में दोनों ने भाग लिया। कम्युनिस्ट लीग ने मार्क्स से संगठन के लिए एक घोषणापत्र तैयार करने को कहा। फलतः मार्क्स और एंगेल्स दोनों ने प्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (Communist Manifesto)'[1] को तैयार किया जो

[1] उसके प्रकाशन के समय इसे सोशलिस्ट घोषणापत्र का नाम हम नहीं दे सकते थे। १८४७ में दो तरह के लोग सोशलिस्ट कहलाते थे। एक तरफ तो थे तरह-तरह के कल्पनावादी व्यवस्थाओं के अनुयायी, जैसे इंगलैंड के ओवेन-पंथी और फ्रांस के फुरियेवादी। ये दोनों पहले से ही उस समय गुटों के रूप में रह गये थे और मरणासन्न हो रहे थे। दूसरी ओर थे तरह-तरह के सामाजिक नीम-हकीम, जो पूँजी और मुनाफे को जरा भी क्षति पहुँचाये बिना ही तरह-तरह के अपने प्रचलित रामबाणों और तरह-तरह के जोड़-तोड़ों के द्वारा सामाजिक बुराइयों का अन्त कर देना चाहते थे। ये दोनों ही तरह के लोग मजदूर-आन्दोलन से बाहर थे और वे समर्थन के लिए 'शिक्षित' वर्ग की ओर टकटकी लगाते थे। किन्तु मजदूरवर्ग का वह हिस्सा जो राजनीतिक क्रान्ति को ही पर्याप्त नहीं समझता था और समाज के बुनियादी पुनर्निर्माण की माँग करता था उस समय अपने को कम्युनिस्ट कहता था गोकि इस कम्युनिज्म की रूपरेखा अभी अस्पष्ट केवल भावनात्मक और कुछ भोंडी-सी थी।' १८४७ में सोशलिज्म पूँजीवादी आन्दोलन था और कम्युनिज्म मजदूरवर्ग के आन्दोलन का सूचक था। कम-से-कम योरोप में सोशलिज्म को आदर की दृष्टि से देखा जाता था और कम्युनिज्म को अनादर की दृष्टि से और चूँकि हमारी पहले से ही यह पक्की धारणा बन गई थी कि

फरवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ। किन्तु इसके आधारभूत सिद्धान्त की रचना का श्रेय मार्क्स को ही है जैसा कि एंगिल्स ने कहा था, 'चूँकि 'घोषणापत्र हम दोनों की सम्मिलित कृति है इसलिए यह बतला देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ कि उसके केन्द्रीय आधारभूत सिद्धान्त की रचना मार्क्स ने ही की थी। इसका महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि इसका अनुवाद संसार की सभी भाषाओं में हो गया है। लास्की ने कहा था कि इसने प्रथम बार सर्वहारा की चेतना को जागृत किया। यह उन सब व्यक्तियों की रचना है जिन्होंने एक विशिष्ट ढंग से इतिहास की समस्त पद्धति पर विचार किया और उसमें से अनिवार्य परिणाम का अन्वेषण किया। कम्युनिस्ट घोषणापत्र साम्यवादी जगत् की वाणी एवं प्रेरकशक्ति है। यह मार्क्स की प्रतिभा, उसके विचारों की स्पष्टता एवं नवीन कल्पना को अभिव्यक्त करता है। यह बतलाता है कि गतिमूलक द्वन्द्ववाद विकास का सर्वव्यापक एवं आधारभूत सिद्धान्त है। यह वर्ग-संघर्ष के एक नवीन समाजवादी समाज की रचना तथा श्रमिकों की ऐतिहासिक क्रान्तिकारिता का स्पष्टीकरण करता है।

१८४८ की क्रान्ति के समय मार्क्स बेल्जियम से निकाल दिया गया। इसके बाद जर्मनी और पेरिस से भी उसे निष्कासित होना पड़ा। अन्ततोगत्वा इस महान् विचारक को अपने जीवन के शेष दिन लंदन में बिताने पड़े। वह 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' (New York Tribune) का संवाददाता भी रहा। किन्तु १९११ में प्रकाशित मार्क्स और एंगेल्स के पत्र-व्यवहार से मालूम होता है कि उसका पारिवारिक जीवन बड़ा कष्टपूर्ण रहा। सम्भवतः मानव इतिहास में सर्वाधिक निर्धन दार्शनिक वही था। उसके जीवन में ऐसे भी दिन आये जब उसके पास न खाने को अन्न था और न पहिनने को कपड़ा। ऋण से वह दबा जा रहा था। यदि एंगिल्स ने हाथ उठा कर उसकी आर्थिक सहायता न की होती तो वह भूखों मर जाता। ऐसी घोर दरिद्रता में भी वह निश्चल भाव से अपनी साधना में रत रहा। वह ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय में दिन भर अध्ययन किया करता था। मार्क्स लंदन में २८ सितम्बर १८६४ को स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का, जो बाद में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ (First International union) के नाम से विख्यात हुआ, प्राण था।

' मजदूरवर्ग का उद्धार स्वयं मजदूरवर्ग ही कर सकता है" इसलिए इन दोनों में से कौन सा नाम हम अपने लिए चुनें इसमें कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती थी और उसके बाद इस नाम को बदलने की जरूरत हमें कभी महसूस नहीं हुई।
(कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र)

२ दिसम्बर १८८१ को उसकी पत्नी जेनी की मृत्यु हो गई। मार्क्स का स्वास्थ्य भी खराब हो गया था, क्योंकि उसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा था और 'कैपिटल' के लिखने में भी अनेक भाषाओं को सीखना पड़ा था। उसकी मृत्यु १४ मार्च १८८३ को हो गई। १७ मार्च १८८३ को कार्ल मार्क्स की समाधि पर एंजिल्स ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था, "इस मनुष्य की मृत्यु से योरोप और अमेरिका के जुझारू सर्वहारा वर्ग और ऐतिहासिक विज्ञान की अपार हानि हुई है। जिस प्रकार सजीव प्रकृति में डार्विन ने विकास के नियम की खोज की थी, वैसे ही मार्क्स ने मानव-इतिहास में विकास के नियम की खोज की थी। इसने उस साधारण-सी बात का अन्वेषण किया जो अब तक सैद्धान्तिक घास से छिपी हुई थी—कि राजनीति, विज्ञान, धर्म, कला आदि को अपना समय देने से पूर्व मानव-जाति के लिए खाना-पीना कपड़े पहिनना और घर में रहना आवश्यक है। किसी भी युग में समाज के आर्थिक विकास की मंजिल ही वह आधार भित्ति है जिस पर राजकीय संस्थाएँ, न्याय-सम्बन्धी धारणाएँ, कला और यहाँ तक कि व्यक्तियों के धार्मिक विचार भी पनपते हैं। मार्क्स ने गति के उस विशिष्ट नियम का अन्वेषण किया जिससे उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति और इस पद्धति से पैदा पूँजीवादी समाज दोनों ही नियंत्रित हैं। अतिरिक्त मूल्य की खोज ने उस समस्या को प्रकाशित किया जिसके हल हेतु पूँजीवादी अर्थ-शास्त्री और समाजवादी आलोचक दोनों ही अंधकार में भटक रहे थे। सर्वप्रथम श्रमिक-वर्ग को मार्क्स ने ही उनकी स्थिति और आवश्यकताओं के प्रति सचेत किया और बताया कि किन परिस्थितियों में वे विमुक्त हो सकते हैं। मार्क्स अपने युग का सर्वाधिक लांछित एवं अपमानित व्यक्ति था। एक सत्तावादी और दूसरी जनवादी सरकारों ने उसे अपने राज्यों से निष्कासित कर दिया था। अब वह इस संसार में नहीं है। साइबेरिया की खानों से लेकर कैलिफोर्निया

डक्शन (An Introduction to the Criticism of Hegel's Philosophy of Rights) १८४४ ।

(२) दि होली फैमिली (The Holy Family) १८४२ ।

(३) पावर्टी ऑफ फिलासफी (Poverty of Philosophy) ।

(४) कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो (Communist Manifesto) १८४८ ।

(५) क्रिटिक्स् ऑफ पोलिटिकल इकोनामी (Critique of Political Economy) १८५९ ।

(६) लेटर्स ऑफ गोथा प्रोग्राम (Letters of Gotha Programme) १८७१ ।

(७) दि कैपिटल (The Capital) प्रथम खण्ड १८६७ ।

(एंजिल्स द्वारा द्वितीय एवं तृतीय खण्ड १८८५, १८९४ में प्रकाशित) ।

II मार्क्स की प्रेरक शक्तियाँ

मार्क्स पर तत्कालीन तीन विचार-धाराओं का विशेषतः प्रभाव पड़ा—(१) हीगेल का द्वन्द्ववाद, (२) ब्रिटेन का अर्थशास्त्र (एडम स्मिथ और रिकार्डो आदि) और (३) फ्रांस का काल्पनिक समाजवाद । मार्क्स इन तीनों विचार धाराओं से प्रभावित तो अवश्य हुआ, किन्तु उसने इन सिद्धान्तों को पूर्णतः अंगीकार नहीं किया । इसके विपरीत उसने इन तीन विचारधाराओं को पूर्णतः प्रदान किया । उसने हीगेल के द्वन्द्ववाद को तो अवश्य ग्रहण किया, किन्तु उसके काल्पनिक स्वरूप को स्वीकार नहीं किया । मार्क्स ने हीगेल के विचार-तत्त्व के स्थान पर भौतिक तत्व की प्रतिष्ठा की । इसी प्रकार मार्क्स ने तत्कालीन ब्रिटिश अर्थशास्त्र की पूँजीवाद के विश्लेषण में सहायता ली । ब्रिटेन के अर्थशास्त्रियों का (प्रमुखतः रिकार्डो) का कथन था कि कोई भी वस्तु केवल श्रम द्वारा ही उपयोगी होती है । यह जॉन लॉक (John Lock) की देन थी । लॉक के इस सिद्धान्त को रिकार्डो ने तत्कालीन अर्थशास्त्र पर लागू किया । मार्क्स ने रिकार्डो के इस विचार को ग्रहण कर तत्कालीन अर्थशास्त्र की व्याख्या की । किन्तु मार्क्स ने जिस प्रकार हीगेल के द्वन्द्ववाद को नवीन रूप प्रदान किया था उसी प्रकार अर्थशास्त्रीय नियम का भी नवीनीकरण किया । उसने इस नियम द्वारा पूँजीवाद की आन्तरिक असंगतियों (Inner Contradiction), पूँजीवादी संकटों तथा श्रमिक एवं पूँजीपति के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया । मार्क्स फ्रांस के समाजवादियों से भी प्रभावित हुआ । वह क्रान्ति तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के लिए इनका ऋणी

था। इन समाजवादियों के सम्बन्ध में हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इन समाजवादी विचारकों की धारणा थी कि औद्योगिक क्रान्ति ने नवीन उद्योग धंधों की स्थापना की है। इससे विज्ञान और उत्पादन में वृद्धि हुई है और मानव समाज आज प्रगति कर रहा है, किन्तु आज समाज में जो बेरोजगारी और श्रमिकों की दुःस्थिति है, उसका मूलभूत कारण वितरण-प्रणाली का दोषपूर्ण होना है। मार्क्स ने इन समाजवादियों की सभी बातों से सहमति प्रकट की, किन्तु बेरोजगारी और श्रमिकों की दैन्य-स्थिति का मूल कारण वितरण-प्रणाली की अपेक्षा उत्पादन-क्रिया का दोषी होना बताया। उसने कहा कि वितरण-व्यवस्था की आधार-भित्ति उत्पादन प्रणाली है। उत्पादन की शक्तियों पर चन्द पूँजीपतियों का एकाधिपत्य है। वे उत्पादन जन-हित की भावना की अपेक्षा स्व-हित भावना से करते हैं। जब तक उत्पादन के साधनों का समाजीकरण नहीं होता तब तक मजदूर वर्ग नाना व्याधियों का शिकार होता ही रहेगा। मार्क्स ने निम्नलिखित तथ्यों को सिद्ध किया—

(१) उत्पादन-प्रणाली के अनुरूप ही वर्गों की उत्पत्ति होती है। दास और सामन्त युगों में जैसी उत्पादन-व्यवस्था थी वैसी ही वर्गों की उत्पत्ति एवं संघर्ष रहा। पूँजीवादी युग में भी उत्पादन-व्यवस्था के अनुकूल ही वर्ग-सृष्टि और संघर्ष हुआ।

(२) वर्गों में परस्पर संघर्ष होना अनिवार्य है और यह वर्ग संघर्ष सर्वहारा की अधिनायकशाही का मार्ग प्रशस्त करता है।

(३) सर्वहारा का अधिनायकत्व संक्रमणकालीन होगा। इसमें केवल एक वर्ग रहेगा और वह भी सर्वहारा का होगा। अन्य वर्गों का अवसान हो जायगा और एक वर्ग एवं राज्य विहीन समाज की सृष्टि होगी।

(iii) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
(Dialectical Materialism)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दार्शनिक प्रणाली (Methodology) है जो हमें उन आन्तरिक नियमों का ज्ञान कराती है जिनके अनुसार इस भौतिक जगत् का विकास होता है, इस भौतिक जगत के रहने वाले प्राणियों का विकास होता है और उनके विचारों में रूपान्तर होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस

1 "The value of the Commodity depends on the relative quantity of labour necessary to its production" (Recardo)

जगत् की गति (Motion) के नियमों की व्याख्या करता है।' "यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसलिए कहलाता है कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने, परखने और पहचानने का इसका ढंग द्वन्द्वात्मक है तथा इन प्राकृतिक घटनाओं की इसकी व्याख्या, कल्पना और सिद्धान्त-विवेचना भौतिकवादी है।"[2] मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर हीगेल की स्पष्ट छाप है। स्वयं मार्क्स ने बड़ा होकर प्रकटरूप से हीगेल के उपकार को माना था और कहा था कि मैंने हीगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तों को अपनाया था। "परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मार्क्स और एंगेल्स के द्वन्द्ववाद का वही रूप है जो हीगेल के द्वन्द्ववाद का था। वास्तव में मार्क्स और एंगेल्स ने हीगेल के द्वन्द्व से वह सार-तत्व ले लिया था जो 'बुद्धिसंगत' था और उसका आगे इस तरह विकास किया था कि उसे एक आधुनिक वैज्ञानिक रूप मिल जाय।"[3]

हीगेल[4] और मार्क्स दोनों ही इस विचार के थे कि विरोधी तत्वों के संघर्ष द्वारा ही सत्य की प्रतिष्ठा होती है।[5] किन्तु मार्क्स ने इस सिद्धान्त को विचारों तक ही परिमित न रखकर प्रगतिशील ऐतिहासिक आन्दोलनों में भी इसे लागू किया। मानव इतिहास में जैसे ही एक प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा होती है वैसे ही एक अन्य विरोधात्मक प्रवृत्ति का जन्म हो जाता है जो पहली प्रवृत्ति के विकारों को दूर कर उसके स्थान को ग्रहण करना चाहती है। फलतः दोनों

---

१ आचार्य नरेन्द्र देव—राष्ट्रीयता और समाजवाद।

२ "It is Called dialectical materialism because its approach to the phenome a of nature, its method of studying and appre hending them, is dialectidal, while its interpretation of the phenomena of nature, its conc ption of these phenomena, its theory, is materialistic." (J Stalin)

३ जे स्टालिन—द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद।

४ हीगेल के द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का अध्याय देखिए।

५ "Contradiction is the root of all motion and of all life,' Hegel wrote, It is only because a thing contains a contradiction within itself, that it moves and acquires impulse and activity That is the purpose of all motion and all development."

में संघर्ष होता है। यह प्रवृत्ति भी एक विरोधात्मक प्रवृत्ति को जन्म देती है। इस प्रकार वाद (thesis) प्रतिवाद (antithesis) और संवाद (synthesis) के चक्र में घूमता हुआ मानव-इतिहास क्रमशः विकासोन्मुख है।

यद्यपि द्वन्द्वात्मक प्रणाली के द्वारा ऐतिहासिक उन्नति होने का विचार हीगेल और मार्क्स दोनों में ही मिलता है, किन्तु मार्क्स का संसार हीगेल के संसार से सर्वथा भिन्न है। यह अन्तर आदर्शवाद और भौतिकवाद का है। हीगेल के अनुसार बाह्य जगत (वस्तुएँ) विचार का ही प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः हीगेल की दृष्टि में विचारों का ही संसार सच्चा संसार है। किन्तु मार्क्स ने इससे अपनी असहमति प्रकट की। उसने हीगेल के द्वन्द्वात्मक विकासवाद को मान्यता तो प्रदान की, किन्तु उसके आत्मा के सिद्धान्त को परिकल्पना का विषय कह कर त्याग दिया और उसके स्थान पर भौतिक तत्त्व (matter) की स्थापना की। उसके लिए प्रतिदिन के अनुभव का संसार ही सच्चा संसार है। आत्मा के हमें प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो पाते, अतः उसका अस्तित्व एवं सत्ता हमारे लिए कोई महत्ता नहीं रखती। इसके विपरीत भौतिक पदार्थ जैसे मिट्टी, पत्थर, रक्त मांस, मज्जा आदि को हम प्रत्यक्षतः देखते और अनुभव करते हैं। अतः वे हमारे लिए सत्य एवं अन्तिम हैं। हीगेल के मतानुसार भौतिक वस्तुएँ या प्रकृति आत्मा की उपज हैं, किन्तु मार्क्स की दृष्टि में आत्मा मन या मस्तिष्क अथवा विचार की उत्पत्ति भौतिक शरीर से हुई है। विचार से पूर्व प्राणी आता है, क्योंकि विचार मानव के द्वारा और मानव के विषय में ही पैदा हो सकता है। हम बिना किसी वस्तु के देखे या समझे कोई कल्पना नहीं कर सकते। मार्क्स ने कहा था, "मेरी द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगेल से मूलतः भिन्न ही नहीं है, वरन् उसके नितान्त विरोधी अर्थ में है। हीगेल के अनुसार वास्तविक जगत का निर्माण चिन्तन क्रिया की प्रेरक-शक्ति से हुआ है, विचार-क्रिया को विचार-तत्त्व का नाम देकर वह उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह कहता है कि यह 'विचार-तत्त्व' ही वास्तविक जगत का निर्माण करता है। हीगेल के लिए वस्तु जगत् विचार-तत्त्व का बाह्य घटनात्मक स्वरूप है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि में विचार मानव चित्त में प्रतिबिम्बित भौतिक संसार को छोड़ कर और कुछ नहीं है, चिन्तन क्रिया में भौतिक-संसार का ही यह रूपान्तर है।'[1] हमारे मस्तिष्क पर जो

---

१ कार्ल मार्क्स — कैपिटल (उद्धृत—ज स्टालिन-द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद)।

कुछ बाह्य जगत् की छाया पड़ती है वही विचारों द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। यह बाह्य प्रकृति और संसार की छाया ही हमारे मस्तिष्क की विचार-क्षमता की आधार भित्ति है। विचारों का स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है, वह केवल हमारे दिमाग की एक प्रक्रिया है जो बाह्य प्रकृति के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। एंगेल्स ने लिखा था, 'संसार की एकता उसके अस्तित्व में नहीं है। संसार की वास्तविक एकता उसकी भौतिकता में है। जो दर्शन और सुदीर्घ और विलम्बित विकास से सिद्ध होती है। भूत (या प्रकृति) के अस्तित्व की पद्धति का नाम गति है। कहीं भी भूत का अस्तित्व गति के बिना नहीं रहा, न हो सकता है। गति के बिना पदार्थ उसी तरह अचिन्त्य है जिस तरह पदार्थ के बिना गति । यदि हम यह जानने की कोशिश करें कि विचार और चेतना क्या हैं, कहाँ से पैदा होते हैं, तो हमें पता चलता है कि वे मानव-मस्तिष्क की उत्पत्ति हैं, और मनुष्य स्वयं प्रकृति की उत्पत्ति है, तथा उसका विकास अपनी परिस्थिति के अनुसार एवं उसके साथ-साथ है। तो यह स्पष्ट है कि मानव-मस्तिष्क की उत्पत्ति, अन्त में, प्रकृति की उत्पत्ति है, और शेष प्रकृति से उसका कोई विरोध न होकर वह उससे मिलती जुलती है।" इस प्रकार मार्क्स का दर्शन हीगेल के दर्शन का बिलकुल उल्टा है। उसने हीगेल के दर्शन को शीर्षासन का उल्टा करा दिया। कैपिटल की भूमिका में मार्क्स ने लिखा था, कि मैंने हीगेल के दर्शन को सिर (मस्तिष्क या आत्मा) के बल खड़ा पाया, किन्तु मैंने उसे पैरों (भूतत्व या भौतिकता) के बल खड़ा कर दिया।[1] मार्क्स के इस कथन का तात्पर्य यही है कि हीगेल का दर्शन उल्टा था और मार्क्स का सीधा। मार्क्स ने हीगेल के उल्टे दर्शन को सीधा कर दिया।

द्वन्द्ववाद के नियम (Laws of Dialectic)

लेनिन की पुस्तक 'Notes on Hegel's logic में द्वन्द्ववाद के १६ सूत्रों का उल्लेख है किन्तु उसके ३ सूत्र ही प्रमुख हैं। हीगेल द्वारा निर्मित इन निम्न लिखित ३ सूत्रों को मार्क्स और एंगेल्स ने बिना किसी संशोधन के स्वीकार कर लिया है:—

(१) मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन और गुणात्मक परिवर्तन से मात्रात्मक परिवर्तन (The law of Transformation of quantity and vice versa) इस नियम के अनुसार किसी वस्तु में जो मात्रात्मक परिवर्तन हुआ

1 "I found the Hegelian dialectic standing on its head, I put it down on its feet" (Karl Marx

करता है उसकी परिणति अपनी चरमावस्था पर पहुँचने पर गुणात्मक परिवर्तन में हो जाती है।[1] मार्क्सवादियों के अनुसार समाज में भी ऐसे ऐसे विकट परिवर्तन क्रमिक विकास के फलस्वरूप न होकर आकस्मिक छलांगें मार कर होते हैं। ये छलांगें उनकी दृष्टि में क्रान्तियाँ हैं।

(२) विरोधी-समागम (The law of unity of opposites)—इससे अभिप्राय है कि संसार में गुण एवं स्वभाव में परस्पर विरोधी वस्तुओं का समागम पाया जाता है। उदाहरणार्थ "जो चर्म-चोर के लिए मृत्यु है वही महाजन के लिए धन है।" बिजली धन (Positive) और ऋण (Negative) के दो छोर पृथक्-पृथक् स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। मार्क्सवादी इस नियम को पूँजीवादी समाज पर लागू करते हैं। उनके कथनानुसार पूँजीपति और श्रमिक परस्पर विरोधी होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं। इन दोनों का जीवन एक-दूसरे पर निर्भर करता है क्योंकि पूँजीपति श्रमिकों के श्रम के शोषण बिना नहीं रह सकता और श्रमिक भी अपने श्रम को बिना बेचे नहीं रह सकते। यही विरोधी समागम समाज को गतिशील बनाता है। लेनिन ने इसे द्वन्द्ववाद के सार (the salt of dialecticalism) की संज्ञा प्रदान की है।

(३) प्रतिषेध का प्रतिषेध (The law of negation of the negation)—इस नियम के अनुसार विकास की 'वाद' 'प्रतिवाद' और 'संवाद' अवस्थाएँ हैं। जब 'वाद' अपने अन्तर्विरोधों के कारण विनष्ट हो जाता है तो वह 'प्रतिवाद' को जन्म देता है। यह 'प्रतिवाद' जो 'वाद' का प्रतिषेध (negation) है, 'वाद' के अन्तर्विरोधों को दूर करने का प्रयास करता है। कुछ समय बाद यह 'प्रतिवाद' भी अपने अन्तर्विरोधों के कारण भंग होकर 'संवाद' के जन्म का कारण बनता है। 'संवाद' में 'वाद' और 'प्रतिवाद' की किंचित् प्रवृत्तियों का समावेश रहता है। अतः यह प्रतिषेध का प्रतिषेध (negation of the negation) है। उदाहरण के लिए, पूँजीवाद सामन्तवाद का प्रतिषेध है और समाजवाद पूँजीवाद का प्रतिषेध है। इसलिए समाजवाद को हम प्रतिषेध का प्रतिषेध कह सकते हैं। इस प्रकार मार्क्स के मत में, "द्वन्द्ववाद आन्तरिक विचारों और बाह्य विश्व के विकास के नियमों का विज्ञान है।" एंगेल्स का

---

१ मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन के लिए उदाहरण देखिए—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएँ के अन्तर्गत बिन्दु तीन का।

2 Hegel

कथन है कि "द्वन्द्ववाद के द्वारा प्रत्येक बात के विकास, आन्दोलन, जन्म और मृत्यु का अध्ययन किया जाता है।"

⑥ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषताएँ

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति ऐसे तत्वों का आकस्मिक संगठन नहीं है जो एक-दूसरे से असम्बद्ध, प्रभावहीन तथा पूर्ण स्वतंत्र हो। यह किसी भी वस्तु को परम (absolute) स्वीकार करने को तैयार नहीं, वरन् द्वन्द्ववाद के अनुसार प्रकृति उन समस्त वस्तुओं एवं तत्वों से मिलकर निर्मित होती है जो परस्पर सम्बन्धित, निर्भर और प्रभावपूर्ण हैं। अतः किसी भी प्राकृतिक घटना को उसके चारों ओर के वातावरण से अलग करके देखा या समझा नहीं जा सकता।

(२) प्रकृति में अविराम गति, सतिशय नवोन्मेष परिवर्तन और विकास है। उसमें गतिहीनता, स्थिरता, एवं सतत जड़ता नहीं है जैसा कि एंगेल्स ने कहा था, "लघु-से-लघु वस्तु से लेकर विशाल-से-विशाल वस्तु तक, लघुतम जीव-कीट से लेकर मानव तक समस्त प्रकृति निरन्तर गतिमान् और परिवर्तनशील है, उसकी स्थिति रचना एवं ह्रास के सतत प्रवाह में है।"[४] परिवर्तन प्रगतिपूर्ण होता है न कि प्रतिक्रियावादी। इससे यह अभिप्राय नहीं है कि किसी पदार्थ का ह्रास नहीं होता। यह उत्थान-पतन एक खास वस्तु है। वस्तुतः प्रगति की गति चाहे कभी द्रुतगामी अथवा धीमी हो, किन्तु उसका मार्ग अबाध और अविराम है। जिस वस्तु का उत्थान और ह्रास जिस युग में होता है उसी को ध्यान में रख कर प्रगति का निर्णय किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति वस्तुएं और उसके भीतर कर्मों को एक-दूसरे से सम्बन्धित, गतिमान् एवं गूढ़ सापेक्ष तथा जब उनमें से कुछ का विनाश और कुछ का निर्माण हो रहा हो, अध्ययन करती है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद किसी वस्तु के स्थायी और स्थिर होने तथा उसके मूलभूत कारणों को वैसी बताने के सर्वथा विपरीत है।

(३) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति का विकास-क्रम सीधे-सीधे न होकर पेचकश की धारियों की भाँति (*grooves of a screw driver*) टेढ़ा-मेढ़ा चक्करदार और सतत ऊर्ध्वोन्मुख रेखा के समान होता है। लेनिन के शब्दों में "प्रकृति और उन्नति अपनी पूर्व स्थिति को दोहराते हैं, किन्तु एक उच्च स्तर पर। इस उत्थान की रीति सीधी न होकर चक्कर देते हुए ऊपर की ओर

४ एंगेल्स—प्रकृति-सम्बन्धी द्वन्द्ववाद।

उठती है। उत्थान में दुखता एवं नीचापन दोनों होता है, संकटापन्न स्थिति भी आती है, क्रान्तियाँ भी होती हैं और वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन भी होते हैं। उत्थान आन्तरिक विरोधों के फलस्वरूप संघर्षोपरान्त किसी वस्तु, नियम या समाज के अन्दर होता है। उत्थान प्रत्येक वस्तु या स्थिति के समस्त निजी सम्बन्धों और परस्पर आत्मनिर्भरता के कारण भी होता है। इतिहास पर दृष्टि-पात करने से हमें इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जब कि इन्हीं कारणों से नवीन वस्तुओं दशाओं एवं वातावरण में मूलत ढंग के रूपान्तर होते रहते हैं। इसी प्रकार नियमित रूप से संसार में प्रगति होती रहती है। विकास के सम्बन्ध में अनेक मत हैं, किन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार विकास के नियमों का अध्ययन करने पर हमें इन्हीं तथ्यों की उपलब्धि होती है।" द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, "विकास क्रम में हम अदृश्य और अकिंचन परिमाण-सम्बन्धी परिवर्तनों से स्पष्ट और मौलिक गुण-सम्बन्धी परिवर्तनों तक पहुँच जाते हैं। इस विकास-क्रम में गुण सम्बन्धी परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर हठात्, एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक छलाँग मार कर शीघ्रता से होते हैं। पहले की गुणात्मक परिस्थिति से दूसरी गुणात्मक परिस्थिति तक संक्रमण का नाम विकास है। द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह बड़ी महत्ता है कि मात्रा-परिवर्तन से उस वस्तु के गुण में परिवर्तन हो जाता है (quantitative accumulation leads to qualitative change)। उदाहरणार्थ जब पानी को गर्म करते हैं तो दिखाई देता है कि पानी के अन्दर तापमान की मात्रा बढ़ती रहती है और एक सीमा विशेष तक उसमें उबाल नहीं आता। किन्तु जब तापमान की मात्रा में पर्याप्त आधिक्य होने लगता है तो गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है, पानी उबलने लगता है और भाप बननी शुरू हो जाती है। इसी प्रकार यदि पानी का तापमान बराबर घटता ही चला जाय और उस ऐसी सीमा पर पहुँच जाय कि उसमें तापमान ही न रहे तो पानी बर्फ हो जायगा और पानी में शीतलता के आधिक्य के कारण गुणात्मक परिवर्तन हो जायगा। एँगेल्स ने अनेक ऐसे उदाहरण भौतिक-शास्त्र जीव-शास्त्र और रसायन शास्त्र से दिये थे।

(४) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति के समस्त बाह्य रूपों एवं पदार्थों में आन्तरिक असंगति या (inner contradiction) भी मौजूद है। "इन पदार्थों और रूपों के भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष दोनों हैं; उनका अतीत है, तो वर्तमान भी, एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख है। इन दो

विरोधी भावों का संघर्ष पुरातन और नवीन मरणशील और विकासोन्मुख निर्माण और विनाश का संघर्ष ही—विकास-क्रम की आन्तरिक प्रक्रिया है। परिमाण भेद के गुण-भेद में परिवर्तन होने की यही आन्तरिक प्रक्रिया है।" आन्तरिक असंगतियाँ ही विकास या परिवर्तन की अग्रगामी हैं। जब एक प्रणाली अपना कार्य कर लेती है तो उसी का अन्तर्विरोध उसे समाविष्ट कर देता है और इस प्रकार एक नवीन सामाजिक प्रणाली का जन्म हो जाता है। मानव-समाज को यह अन्तर्विरोध ही अनेक युगों में ढकेलता और विकसित करता रहा है। हिंसा पीड़ा और बलप्रयोग उसके आवश्यक तत्व हैं। लेनिन ने कहा था, 'विरोधी तत्वों के संघर्ष का नाम ही विकास है।'[2] शिशु का जन्म माता की प्रसव-वेदना बिना नहीं होता। हिंसक क्रान्ति परिवर्तनकारी शिशु के जन्म की नूतन समाजरूपी माँ की प्रसववेदना है। क्रान्ति साधारण समाज से नवीनतम समाज की ओर अग्रसर होने के लिए एक अनिवार्य सोपान है।

८. इतिहास की भौतिक व्याख्या

(Materialistic or Economic Interpretation of History)

जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद[1] के अनुसार विश्व के अन्य परिवर्तन होते हैं उसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाएँ भी भौतिक कारणों द्वारा निश्चित होती हैं। इतिहास की गतिविधियों का नियमन करनेवाला वह कौन सा भौतिक तत्व है? मार्क्स की दृष्टि में, वह आर्थिक प्रभाव है जिसका उत्पादन-प्रणाली का प्रभाव है। ऐसा आर्थिक प्रभाव मार्क्स की अपनी ही मौलिक खोज थी? वस्तुतः मार्क्स से पूर्व भी अनेक ऐसे विचारक हुए थे जिन्होंने इस पर प्रकाश डाला था। अरस्तू ने लिखा था कि मनुष्यों के पेशे उनके जीवन के ढंगों को प्रभावित करते हैं। एपीक्यूरस (Epicurus) हैरिंगटन (Harrington) डालरिम्पल (Dalry mple) मोजर (Moser) और गार्नियर (Garnier) ने भी इसका विवेचन किया था। सेण्ट साइमन ने तो फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति को एक आर्थिक क्रान्ति की संज्ञा प्रदान की। उसके मत में यह राजनीतिक क्रान्ति न थी। फूरिये ने इस विचार को साकार रूप प्रदान किया। किन्तु इन सभी चिन्तकों ने इस

१ जा० स्टालिन—द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद।

२. 'Development is the struggle' of opposites (Lenin)

उठती है। उत्थान में दुष्टता एवं भीमापन दोनों होता है, संकटापन्न स्थिति भी आती है, क्रान्तियाँ भी होती हैं और वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन भी होते हैं। उत्थान आन्तरिक विरोधों के फलस्वरूप संघर्षोपरान्त किसी वस्तु, नियम या समाज के अन्दर होता है। उत्थान प्रत्येक वस्तु या स्थिति के समस्त निजी सम्बन्धों और परस्पर आत्मनिर्भरता के कारण भी होता है। इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमें इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जब कि इन्हीं कारणों से नवीन वस्तुओं पदार्थों एवं वातावरण में मूलत ढंग के रूपान्तर होते रहते हैं। इसी प्रकार नियमित रूप से संसार में प्रगति होती रहती है। विकास के सम्बन्ध में अनेक मत हैं, किन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार विकास के नियमों का अध्ययन करने पर हमें इन्हीं तथ्यों की उपलब्धि होती है।" द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार "*विकास क्रम में हम अदृश्य और अकिंचन परिमाण सम्बन्धी परिवर्तनों* से स्पष्ट और मौलिक गुण-सम्बन्धी परिवर्तनों तक पहुँच जाते हैं। इस विकास क्रम में गुण-सम्बन्धी परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर हठात्, एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक छलाँग मार कर शीघ्रता से होते हैं। "पहले की गुणात्मक परिस्थिति से दूसरी गुणात्मक परिस्थिति तक संक्रमण का नाम विकास है। द्वन्द्वात्मक पद्धति की यह बड़ी महत्ता है कि मात्रा-परिवर्तन से उस वस्तु के गुण में परिवर्तन हो जाता है (quantitative accumulation leads to qualitative change)। उदाहरणार्थ जब पानी को गर्म करते हैं तो दिखाई देता है कि पानी के अन्दर तापमान की मात्रा बढ़ती रहती है और एक सीमा विशेष तक उसमें उबाल नहीं आता। किन्तु जब तापमान की मात्रा में पर्याप्त आधिक्य होने लगता है तो गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है, पानी उबलने लगता है और भाप बननी शुरू हो जाती है। इसी प्रकार यदि पानी का तापमान बराबर घटता ही चला जाय और जब ऐसी सीमा पर पहुँच जाय कि उसमें तापमान ही न रहे तो पानी बर्फ हो जमेगा और पानी में शीतलता के आधिक्य के कारण गुणात्मक परिवर्तन हो जाएगा। एंगिल्स ने अनेक ऐसे उदाहरण भौतिक-शास्त्र जीव-शास्त्र और रसायन शास्त्र से दिये थे।

(४) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति के समस्त बाह्य रूपों एवं पदार्थों में आन्तरिक असंगति या (inner contradiction) भी मौजूद है। "इन पदार्थों और रूपों के भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष दोनों हैं, इनका अतीत है, तो अनागत भी। एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख है। इन दो

विरोधी अंशों का संघर्ष पुरातन और नवीन, मरणशील और विकासोन्मुख निर्माण और निर्माण का संघर्ष ही—विकास-क्रम की आन्तरिक प्रक्रिया है। परिमाण-भेद के गुण-भेद में परिवर्तन होने की यही आन्तरिक प्रक्रिया है।[1] आन्तरिक अर्न्तविरोध ही विकास या परिवर्तन की जन्मदात्री हैं। जब एक प्रणाली अपना कार्य कर लेती है तो उसी का अन्तर्विरोध उसे समाविष्ट कर देता है और इस प्रकार एक नवीन सामाजिक प्रणाली का जन्म हो जाता है। मानव-समाज को यह अन्तर्विरोध ही अनेक युगों में बदलता और विकसित करता रहा है। हिंसा पीड़ा और बलप्रयोग उसके आवश्यक तत्त्व हैं। लेनिन ने कहा था, "विरोधी तत्त्वों के संघर्ष का नाम ही विकास है।"[2] शिशु का जन्म माता की प्रसव-वेदना बिना नहीं होता। हिंसक क्रान्ति परिवर्तनकारी शिशु के जन्म की सूचक समाजरूपी माँ की प्रसववेदना है। क्रान्ति सामान्य समाज से नवोन्नत समाज की ओर अग्रसर होने के लिए एक अनिवार्य सोपान है।

६ इतिहास की भौतिक व्याख्या

(Materialistic or Economic Interpretation of History)

जिस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद[1] के अनुसार विश्व के समग्र परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाएँ भी भौतिक कारणों द्वारा निश्चित होती हैं। इतिहास की गतिविधियों का नियमन करनेवाला यह कौन सा भौतिक तत्त्व है? मार्क्स की दृष्टि में, यह आर्थिक प्रभाव है किंवा उत्पादन-प्रणाली का प्रभाव है। क्या आर्थिक प्रभाव मार्क्स की अपनी ही मौलिक खोज थी? वस्तुतः मार्क्स से पूर्व भी अनेक ऐसे विचारक हुए थे जिन्होंने इस पर प्रकाश डाला था। अरस्तू ने लिखा था कि मनुष्यों के पेशे उनके जीवन के ढंगों को प्रभावित करते हैं। एपीक्यूरस (Epicurus), हैरिंग्टन (Harrington), डालरिम्पल (Dalrymple) मोजर (Moser) और गार्नियर (Garnier) ने भी इसका विवेचन किया था। सेण्ट साइमन ने तो फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति को एक आर्थिक क्रान्ति की संज्ञा प्रदान की। उसके मत में यह राजनीतिक क्रान्ति न थी। फूरिये ने इस विचार को साकार का प्रदान किया। किन्तु इन सभी चिन्तकों ने इस

१ आर० स्टालिन—द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद।

२ 'Development is the 'struggle' of opposites', (Lenin)

सिद्धान्त का प्रयोग स्थिर रूप में किया। वे ऐतिहासिक प्रगति के प्रति पराङ्मुखी बने रहे। कार्ल मार्क्स ही ऐसा वैज्ञानिक विचारक था जिसने इस सिद्धान्त को क्रमशः विकसित नहीं किया, वरन् इसे प्रगतिवादी परिप्रेक्ष्य से देखा और अपनी चिन्तनधारा की आधार-पीठिका बनाया। अतः इस सिद्धान्त की मौलिकता का श्रेय कार्ल मार्क्स को ही था।

मार्क्स ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र की विवेचना' (A Critique of Political Economy) में लिखा था "समाज में व्याप्त उत्पादन-व्यवस्था में लगे हुए मनुष्य निश्चयात्मक सम्बन्धों में प्रवेश करते हैं, जो कि निर्धारित रहते हैं—अर्थात् उनकी मानव-आकांक्षा पर निर्भरता नहीं है—ऐसे उत्पादक सम्बन्ध जो कि उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास के एक निश्चयात्मक सोपान के समानान्तर चलते हैं। इन्हीं उत्पादन सम्बन्धों के योग से सामाजिक-आर्थिक ढाँचा निर्मित होता है। यही वह वास्तविक आधार-भित्ति है जिस पर वैधानिक तथा राजनीतिक ढाँचे खड़े होते हैं और सामाजिक चैतन्य के निश्चयात्मक-रूप बनते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की प्रणाली जीवन की सामाजिक राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रणालियों के सामान्य-रूप को निश्चित करती है।' मार्क्स के इस उद्धरण में तीन बातें विशेषतः सन्निहित हैं—प्रथम, समाज के राजनीतिक और कानूनी ढाँचे की आधार-भित्ति उसका तत्कालीन आर्थिक ढाँचा होता है। यदि हम किसी युग विशेष की राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व्यवस्था से अवगत होना चाहते हैं तो हमें तत्कालिक प्रतिष्ठित आर्थिक ढाँचे को समझना होगा। आर्थिक ढाँचे की उपेक्षा कर हम जीवन के विविध रूपों को नहीं समझ सकते। द्वितीय, आर्थिक ढाँचा उत्पादन सम्बन्धों के योग से निर्मित होता है। तृतीय, उत्पादन-शक्तियों के विकास की स्थिति पर ही इन सम्बन्धों की निर्भरता है। जिस प्रकार आर्थिक ढाँचा अन्य जीवन के विविध क्षेत्रों—राजनीतिक, आध्यात्मिक की आधारशिला है, उसी प्रकार उत्पादन-शक्तियों का विकास भी आर्थिक ढाँचे का आधार-स्तम्भ है। बिना उत्पादन शक्तियों के विकास को समझे हम आर्थिक ढाँचे को नहीं समझ सकते। मार्क्स ने एक स्थल पर लिखा था "अपने विकास की एक अवस्थाविशेष में समाज के अन्दर उत्पादन की भौतिक शक्तियों की, उत्पादन-सम्पत्ति के उन सम्बन्धों से भिड़न्त हो उठती है जिनके भीतर रह कर उत्पादन-शक्तियाँ अब तक कार्यरत थीं। जहाँ पहिले वे सम्बन्ध उत्पादन-शक्तियों के विकास का रूप थे वहाँ अब वही उनके लिए शृंखला बन जाते हैं। तभी क्रान्ति-काल का उदय हो जाता है। आर्थिक नींव के इस परिवर्तन के साथ-साथ

सुनाधिक रूप में समस्त ऊपरी ढाँचा द्रुतगति से परिवर्तित होता जाता है।" एंगिल्स का कथन था "समस्त सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रान्तियों के अन्तिम कारण न तो मनुष्यों के मस्तिष्क में और न उनके परम सत्य और न्याय सम्बन्धी विशेष ज्ञान में पाये जाते हैं वरन् वे उत्पत्ति तथा विनिमय के ढंगों में ही मिल सकते हैं।" इस प्रकार इतिहास की भौतिक व्याख्या के अनुसार, समाज में जो राजनीतिक या सामाजिक क्रान्तियाँ होती हैं, उनका मूल कारण उत्पादन या वितरण-प्रणाली में परिवर्तन होना है। ये क्रान्तियाँ किसी अमूर्त विचार या भावात्मक-इच्छा या किसी सुधारवादी के कारण नहीं होतीं। इन क्रान्तियों के कारण तात्कालिक आर्थिक दशा में मिल सकते हैं। जैसे ही उत्पादन-प्रणाली में परिवर्तन होता है वैसे ही समाजगत राजनीतिक संस्थाएँ, दर्शन, कानून धर्म और कलों में परिवर्तन आ जाता है। समाज का समस्त ढाँचा एक नवीन कलेवर धारण कर लेता है।

किन्तु कुछ विचारक इतिहास की इस भौतिकवादी व्याख्या पर आपत्ति करते हैं। प्रो० सेलिगमेन का कहना है कि इतिहास की केवल आर्थिक व्याख्या ही नहीं है अपितु एक नैतिक, सौन्दर्य-प्रधान, राजनीतिक धार्मिक तथा वैज्ञानिक व्याख्या भी है। लास्की ने भी आर्थिक आधार को ही पूर्ण व्याख्या नहीं माना था। कुछ समाजवादी और डाक्टर लौस्टन भी इससे सहमत नहीं हैं। सुधारवादी बर्नस्टीन और रैमज़ मेकडानल्ड ने भी इसे तर्क-सुगत नहीं माना। किन्तु मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित इतिहास की इस भौतिकवादी व्याख्या से यह निष्कर्ष निकालना कि केवल आर्थिक तत्व ही सामाजिक जीवन के विविध रूपों को नियमित करता है और एक तानाशाह की भाँति जिधर चाहता है मोड़ देता है, बहुत बड़ी भ्रान्ति है। मार्क्स ने विचारों की महत्ता को अंगीकार तो किया, किन्तु प्रधानता उसने आर्थिक तत्व को ही दी थी। एंगेल्स ने इस भ्रान्ति के निवारणार्थ सन् १८९० में अपने पत्रों में कहा था "मैं और कार्ल मार्क्स आंशिक रूप में इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि युवकगण कभी कभी आर्थिक कारणों पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देते हैं। अपने विरोधियों के आक्षेपों का सामना करने के लिए हमें यह आवश्यक था कि हम उनके द्वारा उपेक्षित किए गये सिद्धान्त पर विशेष ज़ोर दें और हमको इस बात का समय, स्थान तथा अवसर न मिला कि हम अन्य कारणों की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते।" 'इतिहास के लिए अन्तिम निश्चयात्मक कारण वास्तविक जीवन वस्तुओं का उत्पादन और प्रजनन है। इससे अधिक पर न मैंने ज़ोर दिया है और न मार्क्स ने। लेकिन जब कोई इस कथन

की तोड़-मोड़ करता है ; और कहता है कि सिर्फ आर्थिक बातें ही एकमात्र तत्त्व हैं, तो वह अर्थ का अनर्थ करता है। आर्थिक परिस्थिति आधार है; किन्तु ऊपरी ढाँचे की कितनी ही बातें वर्ग-प्रतियोगिता के राजनीतिक रूप और उनके परिणाम कानूनी सुधार, और इन वास्तविक प्रतियोगिताओं में भाग लेनेवालों के दिमागों में होती प्रतिक्रियाएँ—राजनीतिक, वैधानिक दार्शनिक सिद्धान्त, धार्मिक विचार ये सभी ऐतिहासिक संघर्ष पर प्रभाव डालती हैं, और कितनी बातों में भी उनके रूप को निश्चित करती हैं। इस प्रकार मार्क्स ने आर्थिक तत्त्व को केवल प्रधानता दी थी। जिस युग विशेष में उत्पादन प्रणाली का जो रूप रहा है उसी के अनुरूप ही तात्कालिक सामाजिक ढाँचे का निर्माण हुआ है वैसी ही संस्कृति, सभ्यता, कानून, दर्शन धर्म रीति-रिवाज और रहन-सहन हो गई। जब आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन हुआ और सामन्तवाद का स्थान पूँजीवाद ने लिया तो इस आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ यूरोप के सम्पूर्ण विचार-क्षेत्र में प्रबल वेग से परिवर्तन हो गया। राजनीतिक क्षेत्र में सामन्तों की प्रभुता का अन्त हो गया, राजा के दैवी अधिकार (Divine Right of King) केवल काल्पनिक मात्र रह गये और जनवाद तथा राष्ट्रवाद की भावनाओं का उदय हुआ। निस्सन्देह अतीत-कालीन इतिहास रीति-रिवाज और संस्कारों का भी प्रभाव पड़ता है, किन्तु आधारभूत कारण उत्पादन-प्रणाली ही है जो युगविशेष का निर्माण करती है।" मार्क्स ने 'दर्शन की दरिद्रता' में लिखा था 'सामाजिक सम्बन्ध उत्पादक-शक्तियों से जुड़े हुए हैं। नयी उत्पादक शक्तियों के अर्जन में मनुष्य अपनी उत्पादन-पद्धति बदल देते हैं। अपनी उत्पादन पद्धति बदलने से, अपनी जीविकोपार्जन की प्रणाली बदलने से वे अपने तमाम सामाजिक सम्बन्ध बदल देते हैं। हाथ की चक्की वह समाज बनाती है जिसमें प्रमुख सामंत का होता है, भाप से चलनेवाली चक्की वह समाज बनाती है जिसमें प्रमुख औद्योगिक पूँजीपति का होता है।"[1] इस प्रकार उत्पादन-प्रणाली के प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ समस्त सामाजिक ढाँचा उसके विभिन्न वर्गों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है। इतिहास ऐसे चार युगों से गुजर चुका है—(१) प्रारम्भिक साम्यवादी युग (Primitive Communistic age) (२) दास-युग (The age of Slavery) (३) सामन्त वादी युग (The Feudal age) (४) पूँजीवादी युग (The Capitalistic age), (५) सर्वहारा के अधिनायकत्व का युग (The age of Proletarion dictator

१ जे स्तालिन—द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद से उद्धृत।

ship) और (६) साम्यवादी युग (The Communistic age)। पाँचवें युग का प्रारम्भ रूस और चीन में हो गया है। इसके उपरान्त मानव-समाज साम्यवादी युग में प्रवेश करेगा। यह साम्यवादी युग वर्ग एवं राज्य-विहीन होगा। इसमें न वर्ग-संघर्ष होगा और न राज्य का अस्तित्व एवं उसकी सत्ता ही। राज्य मुरझा कर गिर जायेगा (The State will wither away) और उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का एकाधिपत्य होगा।

घ वर्ग-संघर्ष (Class War)

कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो (Communist Manifesto) में मार्क्स ने लिखा था "मानव जाति का इतिहास श्रेणी-संघर्ष का इतिहास रहा है।"[1] सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में शोषक और शोषितों का, प्रभु और सेवक वर्गों का संघर्ष रहा है।" वस्तुतः यदि हम आदि-काल से अब तक के मानव इतिहास पर दृष्टिपात करें तो निश्चितरूप से हमें मानव-समाज प्रत्येक युग में दो विभिन्न वर्गों में विभाजित मिलेगा। ये वर्ग एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी तथा एक शोषक तो दूसरा शोषित रहा है। प्राचीनकाल में एक वर्ग स्वामियों का था दूसरा दासों का। मध्यकाल में एक वर्ग सामन्तों का था तो अन्य कृषकों (Serfs) का; किन्तु आधुनिक काल में, जब कि एक वर्ग पूँजीपतियों का है तो दूसरा मजदूरों का है। इस प्रकार प्रत्येक युग में एक वर्ग साधन-सम्पन्न (Haves) का तो दूसरा साधन विहीन (Haves not) का रहा है। ये दोनों वर्ग प्रत्येक युग में संघर्षरत रहे हैं। अरस्तू का कथन था, "संघर्ष सभी क्रान्तियों की जननी है।" प्राचीन यूनान में जब प्लेटो और अरस्तू का युग था, दास अपने स्वामियों की सम्पत्ति थे और उनका क्रय-विक्रय इन स्वामियों की इच्छा पर निर्भर करता था। ये दास ही जीवन की समस्त उपभोग्य वस्तुओं को अपने श्रम से पैदा करते थे। अरस्तू इस वर्ग-संघर्ष को समझ सकता था, किन्तु उसने भी स्वामि-वर्ग के इस विशेषाधिकार का ही औचित्य सिद्ध किया। मार्क्स ही ऐसा सर्वप्रथम विचारक था जिसने वर्ग संघर्ष के महत्त्व को समझा और जो वर्ग-संघर्ष को वर्गों की उत्पत्ति के साथ उदित होनेवाला और वर्गों के विनाश के साथ ही विनष्ट होने वाला मानता था। उसके मत में समाज एक दिन फिर अपनी प्रारम्भिक साम्यवादी अवस्था पर, जो कि वर्ग-विहीन थी पहुँच जायेगा। भले ही

1 "The history of all hitherto existing society is the history of class struggles." (Karl Marx)

नैसर्गिक संघर्ष बना रहे, किन्तु इस साम्यवादी अवस्था में वर्ग-संघर्ष नहीं रहेगा । वर्ग-संघर्ष मार्क्स की अपनी देन नहीं थी । १८५२ में उसने वेडमेयर को लिखा था, "आधुनिक समाज में वर्गों के अस्तित्व तथा वर्ग-संघर्ष की खोज का श्रेय मुझको नहीं है । मुझ से बहुत पूर्व पूँजीवादी इतिहासकारों ने इस श्रेणी-युद्ध के ऐतिहासिक विकास का वर्णन किया था और पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने वर्गों के आर्थिक ढाँचे को बताया था । मेरी नूतन सूझ यह थी कि मैंने यह सिद्ध कर दिया कि वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास क्रम की विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्था से सम्बद्ध है, और वर्ग-युद्ध निश्चित रूप से सर्वहारा वर्ग की अधिनायकत्व में परिणत होता है, और यह अधिनायकत्व अस्थायी है और इसका अस्तित्व तभी तक है जब तक कि वर्ग-विहीन समाज की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती । मार्क्स ने आगस्टीन थेरे (Augustin Thierry) को 'फ्रांसीसी ऐतिहासिक लेखों में वर्ग-संघर्ष का जनक (The father of class struggle in French Historical Writings) माना था । फिर भी वर्ग-संघर्ष के प्रसारण एवं विकास का श्रेय कार्ल मार्क्स को था । निःसन्देह विश्व राजनीति में वर्ग-संघर्ष की विशदता एवं महत्ता के स्थापन में उसका अभूतपूर्व योगदान था । विश्व के श्रमिक वर्ग में 'वर्ग-संघर्ष' की भावना को उद्बुद्ध करा कर उसी ने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को प्रामाण्य स्थिति प्रदान की । उसने वर्ग-संघर्ष का यह शंखनाद किया जिसमें मजदूरों को अनुप्राणित ही नहीं किया, वरन् उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध किया । पूँजीवाद के लिए मार्क्स की शंख-ध्वनि स्पुटनिक सिद्ध हुई । वर्ग-सम्बन्धी मौसमी सुधारकों की इस स्पुटनिक के सम्मुख एक न चली । वे वर्ग-संघर्ष का मूल्यांकन करने में सर्वथा असमर्थ रहे । वर्ग-संघर्ष सामाजिक प्रगति का जीवन तत्त्व है । आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, "अब तक समाज में जो प्रगति हुई है, प्रगति की एक मंजिल से बढ़कर जब-जब मानव समाज एक दूसरी ऊँची मंजिल पर पहुँचा है तब-तब यह कार्य वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही सम्पादित हुआ है ।"[1] सत्ता के लिए यह वर्ग संघर्ष इन दो परस्पर विरोधी वर्गों में अनवरत रूप से चलता रहा है जिसमें से एक सर्वसाधन-सम्पन्न अल्पसंख्यक वर्ग, अर्थात् जिसका उत्पादन के समस्त साधनों पर एकाधिपत्य बना रहा है और दूसरा वह बहुसंख्यक श्रमजीवी वर्ग है जो पूर्णतः साधन-विहीन रहा है, जिसे रोटी-रोटी की समस्या सदैव घेरती रहा है । यही वर्ग उत्पादक-वर्ग है, जो

१ राष्ट्रीयता और समाजवाद ।

कच्चे माल को तैयार माल में परिणत करता है। साधन-सम्पन्न वर्ग साधन विहीन वर्ग का खुल कर शोषण करता रहा है। वह उसे केवल उतनी ही मजदूरी देता है जिससे कि वह वर्ग केवल जीवित रह सके और सदैव निर्निमेष नेत्रों से उनकी ओर निहारता रहे। इस प्रकार शोषक-वर्ग का उत्पादन के समस्त साधनों पर ही प्रभुता नहीं है, वरन् धर्म राजनीति कानून और दर्शन आदि से सम्बन्धित संस्थाओं पर भी उसका एकाधिकार रहा है।

यह सत्ता का संघर्ष समाज परिवर्तन का जन्मदाता है। मार्क्स के शब्दों में 'आर्थिक उत्पादन से प्रत्येक ऐतिहासिक युग के समाज का ढांचा बनता है। यह ढांचा और आर्थिक उत्पादन दोनों मिल कर उस युग के राजनीतिक और बौद्धिक इतिहास का आधार बनते हैं। इसलिए आदि प्राचीन भूमि-सम्बन्धी पंचायती व्यवस्था के भंग होने के काल से ही समग्र इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है, सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में शोषक और शोषितों का, प्रभु और सेवक वर्गों का संघर्ष रहा है। परन्तु यह संघर्ष अब इस दशा को पहुंच गया है कि शोषित और पीड़ित (सर्वहारा) वर्ग के अपने शोषकों और पीड़कों (पूंजीपतियों) से मुक्ति पाने के साथ साथ समाज भी शोषण पीड़न और वर्गसंघर्षों से मुक्त हो जायगा।'[1]

मार्क्स के उपर्युक्त उद्धरण में पाँच तथ्यों का समावेश है —(१) वर्ग वैभिन्न्य तथा वर्ग-संघर्ष समाज के आर्थिक जीवन के परिणाम हैं।

(२) जब से प्रारम्भिक साम्यवादी समाज भंग हुआ है तब से मानव-जाति वर्गों में विभक्त हो गई है, और उसका इतिहास वर्ग-युद्ध का इतिहास है।

(३) प्रत्येक काल में शासक वर्ग का ही आधिपत्य रहा है और उसी का हित साधन हुआ है।

(४) समाज के विकास में अब वह स्थिति आ पहुंची है जिसमें वर्ग-संघर्ष पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग में होगा।

(५) सर्वहारा वर्ग अपनी विमुक्ति के प्रयास में सभी वर्गों को [illegible] विहीन कर देगा और उसका समस्त मानव-समाज वर्ग-युद्ध से सदैव के लिए छुटकारा पा लेगा।

---

१ जे. स्टालिन—द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद से उद्धृत।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

(Labour Theory of Value & Theory of Surplus Value)

मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Value) का सर्वप्रथम प्रतिपादक जॉन लाक (J Locke) था। उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर किया कि कोई व्यक्ति सम्पत्ति का अधिकारी तभी बन सकता है जब उसने श्रम के द्वारा उसके लिए मूल्य चुकाया हो। इस प्रकार श्रम वस्तु के मूल्य का आधार बन गया। रिकार्डो (Recardo) ने इसी तथ्य को प्रकाशित करते हुए कहा था, "किसी वस्तु का मूल्य श्रम की उस सापेक्ष मात्रा पर निर्भर करता है जो उस वस्तु के निर्माण में लगा था।"[1] प्रूधों (Proudhon) का कथन था "श्रमिक का अपनी मजदूरी की प्राप्ति के बाद भी, उन वस्तुओं पर अधिकार बना रहना चाहिए जिन्हें उसने अपने श्रम से बनाया है।"[2] मार्क्स ने परम्परागत अर्थशास्त्रियों के मत को अंगीकार करते हुए कहा था, "यदि किसी वस्तु का पूर्ण मूल्य उस श्रम पर निर्भर करता है जो उस वस्तु के उत्पादन पर लगा है तो फिर उसका समस्त मूल्य उन व्यक्तियों को क्यों नहीं मिलना चाहिए जिन्होंने अपना श्रम उस वस्तु के निर्माण में लगाया है।"[3] मार्क्स का कहना था "समस्त उपयोगी वस्तुओं में श्रम पदार्थ का सम्मिश्रण है, जो कि सभी की साझेदारी है। किसी पदार्थ का निर्माण अकेला एक व्यक्ति नहीं करता, वरन् उसकी रचना में सम्पूर्ण समाज का श्रम लगता है। जैसे, एक घड़े का निर्माण कुम्हार करता है, किन्तु उसके बनाने में वह मजदूर, बढ़ई और लुहार आदि आदि के श्रम का ही उपयोग नहीं लेता, अपितु पीढ़ियों से तत्सम्बन्धी विषय के विकसित होते हुए अनुभव का भी उपयोग करता है। फलतः समस्त उपयोगी वस्तुएं सामाजिक श्रम का फल हैं। मार्क्स ने आगे कहा, "समस्त वस्तुओं का

---

1 "The Value of the Commodity depends on the relative quantity of labour necessary to its production" (Recardo)

2 "The worker retains even after having received his wage a natural propritory right over what he has produced"

(Proodhon)

3 Bertrend Russell—Freedom and organisation

सामान्य सामाजिक पदार्थ श्रम है। एक वस्तु का मूल्य उसमें सम्मिलित सामाजिक श्रम के कारण है। वस्तु के मूल्य का बड़प्पन या उसका सापेक्ष मूल्य (Relative Value) उसमें सम्मिलित उसी सामाजिक पदार्थ (श्रम) की बड़ी या कम मात्रा पर निर्भर है अर्थात् वस्तु के उत्पादन में जितनी मात्रा में श्रम की आवश्यकता है। अतएव वस्तुओं का सापेक्ष मूल्य श्रम की इस मात्रा या परिश्रम द्वारा निश्चित होता है जिसे कि उन वस्तुओं में कार्य करके, मनुष्य करके भर दिया गया है।' ट्राटस्की ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक भिन्न दृष्टिकोण से किया था, "एक वस्तु में मूल्य केवल इस कारण है कि उसमें एक सा (Homogeneous) या सामान्य मानव-श्रम सम्मिलित है।"

मार्क्स के मूल सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके सामाजिक परिवेश के महत्त्व को समझें। मार्क्स ने लिखा था, ' उन समाजों का धन, जिनमें उत्पत्ति की पूँजीवादी पद्धति प्रचलित है अनेक वस्तुओं के संग्रहीकरण में प्रकट होता है, और उसकी इकाई वस्तु है।' इस प्रकार वस्तु के रूप में धन का एकत्रीकरण केवल उन्हीं समाजों में होता है जहाँ पूँजीवादी पद्धति की प्रतिष्ठा है। एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि वस्तु है क्या ? मार्क्स के अनुसार, वस्तु वह भौतिक पदार्थ है जिसके द्वारा मनुष्यों की आवश्यकताओं की परितुष्टि होती है। वस्तु की परितुष्टि के गुण को भोग्य मूल्य (Use value) कहते हैं। किन्तु प्रत्येक भोग्य मूल्यवाले पदार्थ का वस्तु होना जरूरी नहीं है। बहुत से पदार्थों में भोग्यमूल्य होता है किन्तु वे वस्तु नहीं होते। जैसे धूप, वायु और प्रकाश आदि। इनमें भोग्यमूल्य तो है किन्तु वे विनिमय-साध्य (exchangable) न होने के कारण वस्तु नहीं हैं। अतः मार्क्स के मत में, किसी वस्तु में भोग्यमूल्य और विनिमय मूल्य दोनों का सन्निहित होना आवश्यक है। आधुनिक युग में मुद्रा (Money) समस्त वस्तुओं की विनिमय मूल्य (exchange value) का मापदंड बन गयी है। इस प्रकार एक वस्तु का मूल्य उसके विनिमय मूल्य से निश्चित होता है। किन्तु इस स्थल पर वस्तु के साथ-साथ श्रम का अर्थ और उसकी महत्ता का जानना भी परमावश्यक है। मार्क्स ने कहा था "श्रम से व्यक्ति की उस समस्त शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों से अभिप्राय है जिनका प्रयोग वह भोग्य मूल्य के पैदा करने में करता है।" प्रत्येक पदार्थ में श्रम शामिल रहता है। संसार में जितने भी पदार्थ वस्तु के रूप में विद्यमान हैं उनमें सामाजिक आवश्यकीय श्रम (Socially necessarily labour) समान रूप से रहता है। यह श्रम उस वस्तुविशेष के मूल्य को निश्चित करने का मूलाधार है।

क्या अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मार्क्स की एक मौलिक देन थी? सेबाइन के अनुसार, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का विशेषत: एक परिवर्द्धन था जिसका विवेचन रिकार्डो और प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने पहिले ही किया था।' आधुनिक पूँजीवादी पद्धति का एकमात्र लक्ष्य 'लाभ' की उपलब्धि करना है। उत्पादन के साधनों द्वारा लाभोपार्जन करना है। उत्पादन के ये समस्त साधन पूँजीपति की सम्पत्ति हैं। पूँजीपति अपने लाभार्थ श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति को खरीद लेता है और मजदूर, जिसमें उत्पादन के साधनों को खरीदने की शक्ति नहीं है, विवश होकर अपनी आजीविका के लिए अपनी श्रम शक्ति को पूँजीपति को बेच देता है। पूँजीपति श्रमिकों को केवल इतनी ही मजदूरी देता है जिससे कि वह अगले दिन काम करने लायक रह सकें। किन्तु मजदूर के श्रम से जो उत्पादन होता है उसका मूल्य बहुत अधिक होता है। श्रमिक की मजदूरी और मूल्य में बड़ा अन्तर होता है। जैसे चप्पल बनाने में मशीन, चमड़ा और श्रम को लगाया जाता है। यहाँ चमड़ा अपने मूल्य में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं करता, जो उसका मूल्य है वही रहता है। किन्तु श्रमशक्ति प्रयोगित होने पर अपने मूल्य में अवश्य वृद्धि करती है। मान लीजिए, एक पूँजीपति निरपेक्ष एवं निर्धन श्रमिकों की श्रम-शक्ति को आठ घंटे प्रतिदिन के हिसाब से खरीद लेता है और मजदूरों को बाजार भाव के अनुसार मजदूरी दे देता है। यह श्रमशक्ति उत्पादन-क्रिया में लगा दी जाती है। जब मजदूर चार घंटे काम कर चुके होते हैं तो वे उतना मूल्य पैदा कर लेते हैं जितनी कि उन्हें मजदूरी मिली है। यदि श्रमिकों को इस समय अवकाश दे दिया जाय तो कच्चे माल का मूल्य वे अपनी मजदूरी के बराबर बढ़ा देंगे और इस प्रकार पूँजीपति किसी प्रकार के लाभ या हानि से वंचित रह जायगा। किन्तु ऐसा नहीं होता। श्रमिकों को और चार घंटे काम करना पड़ता है और अधिक मूल्य पैदा करना पड़ता है। इस प्रकार मजदूरी के बराबर मूल्य के उत्पादन से अतिरिक्त जो मूल्य पैदा किया जाता है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) कहते हैं। अतिरिक्त मूल्य के स्पष्टीकरण के लिए एक अन्य उदाहरण दिया जाता है। एक श्रमिक कारखाना है, जिसमें १००० श्रमिक आठ घंटे १ रु० प्रतिदिन की मजदूरी के हिसाब से काम करते हैं और लगभग १००० रु० का कच्चा माल प्रतिदिन काम में लाया जाता है तथा ५० रु० प्रतिदिन मशीन का मूल्य घट जाता है। इस प्रकार उत्पादित वस्तु में श्रम-शक्ति, कच्चा माल और मशीन की कीमत सम्मिलित है। इस उत्पादित वस्तु का मूल्य तीनों वस्तुओं के संयुक्त मूल्य

के बराबर है—अर्थात् २०१० रु० है, किन्तु उत्पादित वस्तु ४०१० रु० में बिकती है। अतः २००० रु० का मुनाफा होता है, जो कि अतिरिक्त मूल्य है। और इस अतिरिक्त मूल्य पर पूँजीपति का एकाधिकार है। इस अतिरिक्त मूल्य की उत्पत्ति मजदूरों के श्रम का ही फल है जिसे पूँजीपति हड़प लेता है। वस्तुतः अतिरिक्त मूल्य वह श्रम है जिसका पूँजीपति कोई मूल्य नहीं देता। पूँजीपति के इस लाभ में मजदूर भागीदार नहीं है। यही शोषण है जिसके विरुद्ध मजदूर बगावत करता है। पूँजीपति का लाभ श्रमिक के श्रम द्वारा ही बना है न कि बाजार में उतार-चढ़ाव या माँग-पूर्ति के नियम द्वारा। पूँजीपति किसी वस्तु को बाजार में लागत मूल्य से कम में नहीं बेचता। पूँजीपति जो व्यापार करता है या उद्योग-धन्धों को खोलता है, उसके पीछे मुनाफे की यही भावना काम करती है। उसका उद्देश्य अधिकतम मुनाफा लेना है। अतः श्रमिक और पूँजीपति में कोई समझौता नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के स्वार्थ परस्पर टकराते हैं। यदि पूँजीपति वेतन में वृद्धि करता है तो वस्तु में जो लागत लगी है उसमें वृद्धि हो जायगी और फलतः पूँजीपति का मुनाफा घट जायगा। इसीलिए पूँजीपति मजदूरी के भाव घटाते रहते हैं। इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य ही वर्ग-संघर्ष का मूल कारण है। इसी अतिरिक्त मूल्य के कारण उत्तरोत्तर कुछ लोग अमीर होते जायेंगे और कुछ धन-विहीन होते जायेंगे। किन्तु दोनों साथ-साथ संगठित एवं सुदृढ़ भी होते जायेंगे और अन्ततोगत्वा दोनों में संघर्ष भी अनिवार्य होगा।

७ पूँजीवाद के विनाश की अनिवार्यता

(Inevitability of destruction of Capitalism)

मार्क्स ने कहा था कि समाज स्थिर (Static) नहीं है, अपितु प्रगतिशील (dynamic) है। विकास की अन्तिम मंजिल में पूँजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी है। पूँजीवाद का विनाश अनिवार्य है क्योंकि उसमें आन्तरिक विरोध है। सर्वप्रथम, अतिरिक्त मूल्य जो उत्पत्ति ही जिस पर कि पूँजीवादी वर्ग जीवित रहता है, सर्वहारा वर्ग को जन्म देती है। सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण के कारण समस्त समाज पूँजीपति और सर्वहारा में विभक्त हो जायगा तथा मध्यमवर्ग का विलोप हो जायगा। मध्यम वर्ग में निम्नश्रेणी के व्यक्ति, छोटे-छोटे दुकानदार और कारीगर तथा कृषक आदि सभी सर्वहारावर्ग में मिल जायेंगे। इस

प्रकार समाज में एक छोटा-सा पूँजीपतिवर्ग और एक बड़ा-सा सर्वहारावर्ग ही रह जायगा। यह सर्वहारावर्ग अपना संगठन इस प्रकार करेगा कि पूँजीवाद जो इसका जन्मदाता है उसे विजित कर सके। द्वितीय अन्तर्विरोध है उत्पादन और वितरण-प्रणाली का सन्तुलित न होना। नवीन आविष्कारों द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था की उत्पादन शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और दूसरी ओर वितरण प्रणाली सदोष होने के कारण धन पूँजीपतियों के हाथों में एकत्र होता जाता है। इन नये-नये आविष्कारों के कारण कम श्रमिकों की भी आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः श्रम के औजार ही श्रमिकों की रोटी-रोजी छीनने के साधन बनते हैं और उसके द्वारा निर्मित वस्तुएं ही श्रमिक को दासत्व की शृंखलाओं में जकड़ देती हैं। बड़े-बड़े उद्योगपति अपने देश की जनता की क्रय शक्ति (Purchasing Power) को इतना क्षीण कर देते हैं कि वह भुखमरी के चंगुल में फँस जाती है। मार्क्स ने कहा था, "पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का नियम है ज्यों-ज्यों पूँजी-संचय की गति और परिमाण की मात्रा बढ़ती है त्यों त्यों जन-संख्या अथवा औद्योगिक कोउम-सेना की संख्या सापेक्ष रूप से बढ़ जाती है। इस नियम के कारण मजदूर पूँजी के रूप में वल्कन द्वारा प्रमीथियस को चट्टान से बाँधने से भी ज्यादा निर्ममतापूर्वक जोड़ दिया जाता है। जैसे-जैसे पूँजी का संचय बढ़ता है वैसे-वैसे जनता की दीनता बढ़ती है। समाज के एक छोर पर तो धन का ढेर लग जाता है और दूसरे छोर पर दरिद्रता, श्रम की यंत्रणा, दासता, अज्ञान, क्रूरता और मानसिक पतन का मेला लगा होता है। इस दूसरे छोर पर उस वर्ग का निवास है जिसकी पैदावार पूँजी का रूप धारण करती है।" इस प्रकार एक ओर प्रचुर मात्रा में उत्पादन का विस्तार और दूसरी ओर जनता की क्रयशक्ति का ह्रास तथा देशी बाजार में उत्पादन की खपत का न होना आर्थिक संकट (Trade depression) पैदा कर देता है। सर्व-प्रथम ऐसा आर्थिक संकट १८२५ में आया था। उसके बाद लगभग प्रत्येक दसवें वर्ष ऐसा आर्थिक संकट उत्पादन शक्तियों में प्रगति और सामाजिक बन्धनों की अपरिवर्तनशीलता के कारण आता है। इस संकट के कारण समस्त समाज का जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। उत्पादन और विनिमय में अस्त-व्यस्तता आ जाती है। माल के आधिक्य के कारण बाजार जड़वत् हो जाते हैं। बाजार में न पैसा दीखता है, न बिक्री होती है और न व्यापार चल पाता

---

१ पूँजी, भाग १ फ्रेडरिक एंगेल्स समाजवाद काल्पनिक और वैज्ञानिक से उद्धृत।

है। उद्योग-धंधे ठप्प हो जाते हैं। दिवाले का क्रम चलता है। व्यक्तियों की सम्पत्तियों की बोलियाँ बोली जाती हैं। यह क्रम क्यों चलता है। किन्तु जब प्रचुर मात्रा में उत्पादित वस्तुएँ नष्ट कर दी जाती हैं तब वहीं बचा हुआ माल न्यूनाधिक हानि के साथ निकाल दिया जाता है। उत्पादन और विनिमय का फिर दौर-दौरा शुरू हो जाता है। उसकी गति तीव्रतर हो जाती है और अन्ततोगत्वा उद्योग व्यापार और लेने-देने का चक्र सट्टेबाजी की घुड़दौड़ में चलने लगता है और वह फिर कूदता-फाँदता और कुलाँचें मारता हुआ नये आर्थिक संकट के दलदल में फँस जाता है। इसी क्रम की पुनरावृत्ति होती रहती है। आर्थिक संकट के काल में बड़े-बड़े और छोटे-छोटे पूँजीपतियों का व्यापार चौपट हो जाता है और उनकी पूँजी कुछ पूँजीपतियों के हाथों में एकत्र हो जाती है। जब स्वदेश में माल खपत नहीं हो पाता तो पूँजीपति देश के बाहर बाजारों की खोज करते हैं और बड़े-बड़े ट्रस्टों (Trusts) का निर्माण करते हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद का जन्म होता है। जैसे जैसे उत्पादन में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे नये बाजारों के लिए प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती जाती है। पिछड़े देशों का शोषण और अनुयोजन पूँजीवादी राष्ट्रों का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। समस्त संसार थोड़े से साम्राज्यवादी देशों में विभक्त हो जाता है। लेनिन ने कहा था "साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है।[1]" साम्राज्यवाद में पूँजीवाद की समस्त असंगतियाँ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती हैं। साम्राज्यवाद की परिभाषा लेनिन के शब्दों में 'पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है, जिसमें एकाधिकारों एवं वित्तीय पूँजी का अत्यधिक प्रभाव बढ़ जाता है, पूँजी का निर्यात बड़ा महत्त्वपूर्ण हो जाता है, अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों द्वारा संसार का विभाजन प्रारम्भ कर दिया जाता है और महत्तम पूँजीवादी राष्ट्र आपस में संसार के समस्त प्रदेशों का बँटवारा कर चुके होते हैं।' साम्राज्यवाद शोषित औपनिवेशिक जनता को भी पूँजीवाद के विरुद्ध संगठित कर देता है। साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण एक सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति करता है। जैसे जैसे शोषण बढ़ता जाता है, वैसे वैसे जनता में राष्ट्रीय जागृति भी आती जाती है और फलतः राष्ट्रीय चैतन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों का रूप ले लेता है। इन राष्ट्रीय आन्दोलनों से सर्वहारा-वर्ग को बड़ी सहायता मिलती है और इस प्रकार स्टालिन के शब्दों में 'उपनिवेश साम्राज्यवाद के पृष्ठ (Reserves of Capitalism) होने की अपेक्षा सर्वहारावर्गीय क्रान्ति के पृष्ठ बन जाते हैं।" अब

1 "Imperialism is the last stage of capitalism." (Lenin)

साम्राज्यवाद भी अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाता है और साम्राज्य-विस्तार के लिए कोई अन्य विकल्प नहीं रह जाता तो साम्राज्यवादी देश परस्पर आक्रमक का रुख ले लेते हैं और फिर साम्राज्यवाद विश्व-युद्ध में परिणत हो जाता है। इस विश्व-युद्ध की उत्पत्ति का कारण आर्थिक होता है। पूँजीवाद अपने आन्तरिक विरोधों के कारण अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त करता है। लेनिन के शब्दों में, 'पूँजीवाद अपने कर से अपनी कब्र खोदता है।'[1]

सर्वहारा की क्रान्ति

(Revolution of the proletariat)

मार्क्स ने कहा था कि सर्वहारा-वर्ग पूँजीवाद की कब्र खोदता है। इसका जन्म पूँजीवाद के द्वारा होता है और उसी के विनाश के लिए वह संघर्षरत रहता है। केवल श्रमिक वर्ग ही स्थायी रूप से पूँजीवाद का विरोध कर सकता है, क्योंकि वह धन, धरती और सम्पत्ति-विहीन होता है। उसका कोई ऐसा स्वार्थ नहीं है जो उसे क्रान्ति करने से रोक सके। केवल उसका श्रम ही उसका एकमात्र सम्बल है। समाज में अन्य वर्ग भी हैं जो पूँजीवाद का विरोध करते हैं, किन्तु उनमें वह क्रान्तिकारिता नहीं है जो श्रमिक वर्ग में है। उनका किसी-न-किसी वस्तु-विशेष से लगाव रहता है। वे क्रान्तिकारी की अपेक्षा सुधारवादी अधिक हैं। अतः केवल श्रमिक वर्ग ही क्रान्ति करने में समर्थ है, यद्यपि चीन में जो क्रान्ति हुई वह सर्वहारा की क्रान्ति न होकर कृषकों की क्रान्ति थी। माओ-त्से तुंग जो आज चीन के राष्ट्रपति थे, उनका कथन था कि चीनी क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति न थी वरन् पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति थी। इस क्रांति के द्वारा सामन्तवाद समाप्त हुआ, न कि पूँजीवाद। किन्तु फिर भी चीनी क्रान्ति मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत हुई।

मार्क्स ने कहा था कि सर्वहारा क्रान्ति पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकेगी। यह क्रान्ति कोई अनोखी क्रान्ति नहीं होगी। इतिहास में ऐसी अनेक क्रान्तियाँ हो चुकी हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक वर्ग जिसकी कभी समाज में प्रभुता रही वह अपने अन्तर्विरोध से ही विनष्ट हुआ, जिसका निर्माण उसी के द्वारा हुआ था। उदाहरणार्थ सामन्तवाद ने जिस मध्यमवर्ग को जन्म दिया उसी ने वाणिज्य का प्रसार एवं विस्तार कर सामन्तवाद को समाप्त कर दिया। किन्तु

---

1 'Capitalism is digging its own grave' —Lenin

सर्वहारा की क्रान्ति का अपेक्षाकृत अन्य क्रान्तियों से एक वैशिष्ट्य है। अभी तक जितनी क्रान्तियाँ हुईं वे एक शोषक-वर्ग के स्थान में अन्य शोषक-वर्ग के उन्मूलनार्थ हुईं। उन्होंने एक वर्ग को अपदस्थ करके दूसरे वर्ग का अन्त किया। परिणामतः समाज और राज्य पर एक शोषक वर्ग के स्थान पर दूसरे शोषक-वर्ग का एकाधिपत्य बना रहा, और इस प्रकार शोषण की प्रक्रिया यथावत् बनी रही। किन्तु सर्वहारा क्रान्ति द्वारा वर्गों का उन्मूलन हो जायगा। इसके द्वारा वर्ग-विहीन समाज की प्रतिष्ठा होगी। इसमें न वर्ग होगा और न वर्ग-संघर्ष। यह पूर्णत शोषण विहीन समाज होगा।

किस प्रकार पूँजीवाद का अन्त उसके अन्तर्विरोध द्वारा होगा? मार्क्स ने कहा था कि एक ओर तो आर्थिक संकट पूँजीवाद की शक्ति को नष्ट भ्रष्ट करके उसे मरणासन्न स्थिति में पहुँचा देंगे और दूसरी ओर सर्वहारावर्ग की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निर्धनता, दासता और बेबसी उसे संगठित करके क्रान्ति की ओर अग्रसर करेगी और उससे हिंसात्मक क्रान्ति करायेगी। यद्यपि मार्क्स ने सशस्त्र क्रान्ति पर अधिक बल दिया था किन्तु उसने देश काल और परिस्थिति पर यह छोड़ दिया था कि वहाँ किन साधनों का अवलम्बन किया जायगा। उसकी पहिले तो हिंसात्मक साधनों में ही निष्ठा थी, जैसा कि उसने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में लिखा था "साम्यवादी स्पष्टतः घोषणा करते हैं कि उनकी लक्ष्य-प्राप्ति समस्त प्रतिष्ठित ढाँचे को एकमात्र बलात् उखाड़ फेंकने से ही हो सकती है।" मार्क्स ने स्वयं भी १८४८ की क्रान्ति में भाग लिया था। उसका १८७१ में पेरिस कम्यून (Paris Commune) के विद्रोह में भी हाथ था। किन्तु बाद में मार्क्स ने वैधानिक साधनों की उपयोगिता को भी समझा और सन् १८७२ में, एमस्टर्डम में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ (First International) की बैठक में अपने भाषण में कहा था, "हम दृढ़तापूर्वक नहीं कहते कि साधन आवश्यक रूप से इस लक्ष्य प्राप्ति (अधिकों के स्वातंत्र्य) के लिए सर्वत्र एक से ही प्रयुक्त किये जायेंगे। हमें यह जानना आवश्यक है कि हम विभिन्न देशों के संस्थान, रीति-रिवाज और परम्पराओं पर विचार करें, जैसे अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन, और यदि मुझे आपके संस्थानों का भली भाँति ज्ञान है तो मैं शायद हालैण्ड को भी शामिल करता हूँ—जहाँ श्रमिक अपने उद्देश्य की प्राप्ति शान्तिमय साधनों द्वारा करने में समर्थ होंगे।"[1] एंगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की भूमिका में लिखा

1 'We do not claim that the means necessary for bringing

था, "ऐसी चेतना-विहीन जनता का नेतृत्व कर छोटे समुदायों द्वारा क्रान्ति का अब समय निकल गया है। पिछले पचास वर्ष के इतिहास ने इतना तो हमें सिखा दिया है। सर्वत्र सामान्य वोट का प्रयोग किया जा रहा है। फ्रांस में प्रचार का धीमा काम और संसदीय कार्य पार्टी का प्रथम प्रोग्राम समझा जाता है। हम 'क्रान्तिकारी' और 'राज्य के उलटनेवाले' गैर-कानूनी, उपायों की अपेक्षा कानूनी उपायों का आश्रय लेकर कहीं अधिक सफलता प्राप्त करते हैं।" मार्क्स को हिंसा में कोई मजा नहीं आता था। वह आतंकवाद का घोर विरोधी था। उसको वह दूर वर्ग के लिए हानिकारक समझता था। मार्क्स कम्युनिस्ट लीग को भंग करने के बाद वह फिर कभी भी किसी षड्यंत्र में सम्मिलित नहीं हुआ। उसका यह मत था कि इस प्रकार के कार्य तब होने चाहिए जब देश क्रान्ति चाहता हो। यही कारण था कि प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना मार्क्स और एंगेल्स के इंग्लैंड आने के उपरान्त हुई और वह कोई क्रान्तिकारी पार्टी न होकर एक 'मास पार्टी' थी। इस प्रकार मार्क्स की 'मास पार्टी' 'सार्वभौम मताधिकार' और 'शान्तिमय' साधनों में भी पूर्ण निष्ठ थी। मार्क्स ने यह स्वीकार किया था, 'राजनीतिक सत्ता को हस्तगत करने के लिए साधन, विभिन्न कालों और विभिन्न देशों में, भिन्न हो सकते हैं। यदि एक समय और स्थान में प्रत्यक्ष आर्थिक कार्यवाही की पद्धति सम्भव हो सकती है तो दूसरे स्थान में एक क्रान्ति का मार्ग तथा अन्य और जगह राजनीतिक प्रभाव की एक धीमी सिद्धि का तरीका अपनाया जा सकता है।"[1]

---

about this aim (the emancipation of labour) will be the same every where We must know that we must take account of these institutions, customs and traditions of various countries, such as the United States and Great Britain and if I know your institutions better I should perhaps add Holland where the workers will be able to achieve their aims by peaceful means'

1 The means for securing political power might differ at different times and in different countries the method might be direct economic action at one time and place a revolution at another and a slow achievement of political predominance at another

किन्तु साम्यवादी मार्क्स के सशस्त्र क्रान्ति के कथन पर ही विशेष बल देते हैं। लेनिन ने तो क्रान्ति को ही साम्यवाद की प्रतिष्ठा का एकमात्र साधन माना था। साम्यवादियों का दृढ़ विश्वास है कि संसद द्वारा पूँजीवाद का विनाश सम्भव नहीं होगा। मजदूर-वर्ग आधुनिक पूँजीवादी राज्य-व्यवस्था पर आसानी से एकाधिपत्य करके अपने उद्देश्यों को मूर्तरूप नहीं दे सकेगा, क्योंकि राज्य का ढाँचा क्रान्तिकारी कार्यक्रम के लिए मूलतः अनुपयुक्त है। इसका कारण नौकरशाही का अविश्वसनीय होना इसकी कार्य-पद्धति का प्रभावहीन होना और इसकी प्रकृति में उन तत्त्वों का भी न होना है, जो केवल स्वामियों के परिवर्तन से ही परिवर्तित हो जायँ। अतः पूँजीपति अपने अधिकारों का कभी भी परित्याग नहीं करेगा। जैसे ही वैधानिक परिवर्तन का प्रश्न आयेगा और पूँजीवादी-वर्ग के स्वार्थों को आघात पहुँचना वैसे ही वह हिंसात्मक विरोध करेगा। इसलिए केवल सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ही नये समाज का जन्म सम्भव है। श्रमिकों को न केवल पूँजीवादी वर्ग को विशेषाधिकार च्युत करने के लिए ही, वरन् उनके पुनः प्रतिष्ठापन के लिए किये जाने वाले क्रान्तिविरोधी षड्यन्त्रों को कुचलने के लिए भी सशस्त्र-क्रान्ति के अस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। साम्यवादी अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए मार्क्स के इस कथन को उल्लिखित करते हैं कि प्रत्येक नये समाज का जन्म हिंसात्मक क्रान्तिकारी धाय की सहायता से ही हो सकता है।

(ii) सर्वहारा का अधिनायकत्व
(Dictatorship of the proletariat)

शासन-सूत्र पर सर्वहारा वर्ग का एकाधिपत्य हो जाने के उपरान्त साम्यवादी क्रान्ति सम्पन्न नहीं हो जाती। पूँजीवादी वर्ग को पराभूत करने के बाद भी इस बात का निरन्तर भय बना रहेगा कि कहीं क्रान्ति के बचे हुए शत्रु सर्वहारा के अधिनायकत्व को पलटने का प्रयास न करें। अतः मार्क्स के अनुसार क्रान्ति के बाद का समय दो भागों में विभाजित हो जायगा—प्रथम, क्रान्तिकारी संक्रमण काल (*Revolutionary transitional period*) और दूसरा वर्ग-विहीन साम्यवादी समाज। क्रान्तिकारी संक्रमण काल में श्रमिक-वर्ग का लक्ष्य क्रान्ति के शत्रुओं को समूल नष्ट करके अपनी सत्ता को चिरस्थायी एवं सबल बनाना होगा। एंगिल्स के कथनानुसार, जो पार्टी क्रान्ति में विजयी होगी उसके लिए यह नितान्त आवश्यक होगा कि वह अपने शासन को बनाए रखने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियों को शस्त्र बल का परिचय दिखा कर उन्हें अपने नियंत्रण में

में रखने के लिए विवश हो।' लेनिन का भी ऐसा ही विचार था कि प्रत्येक गम्भीर क्रान्ति में शोषकवर्ग दीर्घ काल तक जबर्दस्त एवं उग्र रूप से विरोध करता रहेगा, क्योंकि उसकी स्थिति शोषित वर्ग की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ रहेगी। अतः शासक-वर्ग बिना अन्तिम तेज संघर्ष किये बहुसंख्यक शोषित वर्ग के सम्मुख आत्म समर्पण नहीं करेगा। इन परिस्थितियों में सर्वहारा-वर्ग अपने अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat) की स्थापना कर लेगा। यह अधिनायकत्व जनवाद-विहीन होगा। इसमें अन्य वर्ग या दल को सत्ता एवं अधिकार का कोई स्थान नहीं होगा। सर्वहारा-वर्ग का प्रमुख उद्देश्य पूँजीवादी तत्वों को विनष्ट करना होगा, अतः इसकी कार्य प्रणाली कठोर एवं दमनात्मक होगी। राज्य का भी संक्रमण काल में प्रयोग किया जायगा। मार्क्स ने कहा था 'धनिक बुर्जुआ वर्ग के विरोध को समाप्त करने के लिए राज्य को एक क्रान्तिकारी तथा अस्थायी रूप में प्रतिष्ठित रखते हैं। फलतः इस संक्रमणशील युग में राज्य दमनात्मक, स्वेच्छाचारी एवं असहनशील होगा। राज्य का प्रयोग क्रान्तिविरोधी तत्वों के उन्मूलनार्थ किया जायगा। एंगेल्स ने कहा था, सर्वहारा वर्ग का राज्य की आवश्यकता स्वतंत्रता के लिए नहीं होती, अपितु अपने विरोधियों के दमनार्थ होती है और जब स्वतंत्रता सम्भव होगी तब राज्य का विलोप हो जायगा।" इस प्रकार संक्रमण काल में राज्य की उपयोगिता यही है कि वह क्रान्ति के विरोधियों का दमन करने के एक जबर्दस्त साधन सिद्ध होगा और ऐसी अवस्था में जनवाद न तो अपेक्षित ही है और न सम्भव ही। सर्वहारा के अधिनायकत्व-काल में उत्पादन पर राज्य का एकाधिकार होगा। उत्पादन उपभोग के लिए होगा, न कि लाभ के लिए। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति को काम करना अनिवार्य होगा। जो काम नहीं करेगा वह पायेगा भी नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और काम के अनुसार पायेगा।[1] मजदूरी में अधिक अन्तर नहीं रहेगा। देश के सभी नैसर्गिक साधनों को विकसित किया जायगा। उत्पादन-वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति में भी वृद्धि होगी। कला, विज्ञान और शिक्षा आदि को प्रोत्साहन मिलेगा। श्रम की चोटी पर बोझ बढ़ानेवाला कोई वर्ग नहीं होगा। न शोषक होगा और न शोषित। उत्पादन का आधार सामाजिक उपयोगिता होगी, मुनाफा नहीं।

1 "From each according to his ability, to each according to his work";

सन् १९१७ की क्रान्ति के बाद, जब रूस में सर्वहारा की अधिनायकशाही स्थापित हुई तो वहाँ जिन वर्गों का पूँजीवादी वर्ग के साथ सम्बन्ध रहा उन्हें मताधिकार तथा राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इनमें पूँजीपति, पादरी, पुलिस विभाग के व्यक्ति समस्त सम्पत्तिशाली दुकानदार और उद्योगपति सम्मिलित थे। क्रान्ति के विरोधियों की जीवन-लीला समाप्त कर दी गई। यहाँ तक कि साम्यवादी दल के लोग जिन्होंने क्रान्ति का विरोध किया जैसे ट्राटस्की और बुखारिन प्रभृति नेताओं को भी अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। संक्रमण काल में राजनीतिक स्वातंत्र्य से जनसाधारण वंचित रहा। आज रूस में राजनीतिक स्वातंत्र्य मजाक बन कर रह गया है। साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य कोई दल नहीं है और न किसी को भाषण प्रेस लेखन, मुद्रण तथा प्रकाशन की स्वतंत्रता है। बच्चों को साम्यवादी ढाँचे में ढाला जाता है। साम्यवादी विचारधारा के अनुरूप ही बच्चों को शिक्षा दी जाती है। उत्पादन के साधनों पर सरकारी तंत्र का एकाधिपत्य है और पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश का नव-निर्माण हो रहा है। निःसन्देह आज रूस में बेकारी नहीं है, जैसी कि अन्य पूँजीवादी देशों में व्याप्त है। उत्पादन-वृद्धि अपनी चरमावस्था पर है। रूस ने पूँजीवादी राष्ट्रों को वैज्ञानिक क्षेत्र में पछाड़ दिया है। वे हतप्रभ हो गये हैं। वहाँ आर्थिक जनतंत्र प्रतिष्ठित है किन्तु राजनीतिक जनतंत्र का अभाव खटकता है। यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कब तक यह अधिनायकशाही या एक दल की सत्ता चलेगी? स्टालिन ने कहा था वहाँ कोई शोषक-वर्ग नहीं है, तो फिर अधिनायकत्व क्यों स्थापित है? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

वर्ग विहीन समाज (Classless Society)

यह संक्रमण-काल या सर्वहारा का अधिनायकत्व तब तक जारी रहेगा जब तक कि पूँजीवादी तत्वों का उन्मूलन नहीं हो जाता। जैसे ही शोषकवर्ग का अन्त होगा वैसे ही राज्य की भी कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। जब संघर्ष एवं वर्गीय भावना का अन्त हो जायगा तो फिर समाज में राज्य जैसी दमनकारी संस्था की आवश्यकता नहीं रहेगी। उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का एकाधिपत्य होगा। श्रम के उपकरण समाज की सम्पत्ति होंगे और उत्पादन व्यवस्था ऐसी होगी कि उत्पादक स्वतन्त्रतापूर्वक समानता के आधार पर परस्पर सहयोग करेंगे। शासन व्यक्तियों पर न होकर वस्तुओं पर होने लगेगा और शासन का कार्य उत्पादन क्रियाओं का संचालन ही रहेगा। गाँव और नगर में कोई विभेद नहीं रहेगा।

उत्पादन-वृद्धि द्वारा ग्राम और नगर की दूरी समाप्त हो जायगी । गाँव भी शहर की भाँति उन्नत और सर्व-सुविधाजनक हो जायेंगे । योग्यता के अनुसार कार्य और कार्य के अनुसार वेतन का सिद्धान्त उत्पादन-वृद्धि के कारण "योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन"[1] के सिद्धान्त में परिणत हो जायगा । शारीरिक और बौद्धिक कार्य में भी कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि विज्ञान की प्रगति इस विभेद को मिटा देगी । विज्ञान शारीरिक श्रम को सर्व-सुलभ बना देगा । शैक्षिक प्रगति के कारण नागरिक भी प्रशासन-सम्बन्धी कार्यों में निष्णात हो जायेंगे और फिर शासन के लिए किसी विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं रहेगी । राज्य का भी कोई विशेष कार्य नहीं रह जायगा । इससे स्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा होगी । प्रगति इस वर्ग-विहीन समाज का मूलमंत्र होगी । मानव स्वतः ही सामाजिक नियमों के पालन के आदी हो जायेंगे, तो ऐसी अवस्था में राज्य के वे अंग जिनका कार्य केवल नियंत्रण करने और दण्ड देने का है निरर्थक हो जायेंगे । जब समाज अपने इस चरम रूप को प्राप्त कर लेगा तो राज्य 'भंग' नहीं होगा परन्तु 'विलुप्त' हो जायगा (The Stat will wither away) अर्थात् सेना, पुलिस और राज्य के वे भाग जिनका कार्य नियंत्रण-सम्बन्धी है, विलुप्त हो जायेंगे । यही साम्यवादी समाज होगा ।

किन्तु कई साम्यवादी विचारक मार्क्स और एंजिल्स के राज्य विलुप्ति (The State will wither away) के मन्तव्य का कुछ अन्य ही अर्थ बताते हैं । उनका कथन है कि मार्क्स और एंजिल्स का यह तात्पर्य नहीं था कि संक्रमण काल के बाद वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होने पर राज्य का लोप हो जायगा । इससे उनका आशय राज्य के वर्गीय स्वभाव का लोप होना मात्र था क्योंकि राज्य एक-वर्गीय संगठन न रह कर अब एक जन-संस्था में परिणत हो जायगा । इसके शासनात्मक रूप की परिणति जनराज में हो जायगी जिसमें समस्त जनता का प्रतिनिधित्व सन्निहित होगा । लेनिन ने कहा था "हम कल्पनावादी नहीं हैं । हम भलीभाँति जानते हैं कि समाज दुष्ट, अत्याचारी और अपराधी लोगों से सदा परिपूर्ण रहेगा और उनके नियंत्रण के लिए सदा राज्य की आवश्यकता पड़ती रहेगी ।" वस्तुतः राज्य का लोप तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि समस्त राष्ट्र समाजवादी न हो जायें और वे भी वर्ग-विहीन समाज की ओर अग्रसर न हों । चारों ओर पूँजीवादी राष्ट्रों के बने रहने पर राज्य का विलोप करना बौद्धिक विकृति का द्योतक होगा

---

1 'Form each according to his ability, to each according to his needs"

और अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा। यही कारण है कि रूस जो कि एक समाजवादी राष्ट्र है, राज्य की विलुप्ति की ओर प्रयत्नशील नहीं है। किन्तु रूस में दीर्घकाल तक अधिनायकशाही का बना रहना भी अपवाद है। उसे आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण की ओर कदम बढ़ाना चाहिए। यद्यपि युगोस्लाविया में तानाशाही प्रतिष्ठित है, किन्तु वहाँ विकेन्द्रित समाज-रचना की ओर प्रयास हमारी आशावादिता को द्विगुणित कर देता है। काश! रूस भी इस ओर मुड़े तो पूँजीवादी राष्ट्रों को वह राजनीतिक क्षेत्र में भी पराजित कर सके।

जनतंत्र (Democracy)

जनतंत्र को लेकर साम्यवादियों की सर्वाधिक कटु आलोचना की गयी है। आज जनतंत्र बड़ा विवादास्पद प्रश्न हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर इसी प्रश्न को लेकर संसार दो विभिन्न गुटों में बँट गया है। पूँजीवादी राष्ट्र प्रकारान्तर से जनतंत्र के आधार पर रूस के अधिनायकत्व की आलोचना करते हैं। यह सैद्धान्तिक मतभेद है। अतः 'जनतंत्र' का प्रश्न विचारणीय है।

मार्क्स उच्चकोटि का जनवादी था। उसकी जो वर्ग-विहीन समाज की कल्पना है उससे यह स्पष्ट है कि उसकी लोकतंत्र में निष्ठा थी। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, "कम्युनिज्म की जो चरम अवस्था है वह मार्क्स के अनुसार आत्म-निग्रह सम्पन्न है। उनका सांस्कृतिक स्तर इतना ऊँचा हो गया है कि जनसाधारण स्वतः बिना किसी बाहरी नियंत्रण के या राज-दण्ड के भय के बिना ही सहयोग की भावना से प्रेरित हो समाज का संचालन करते हैं। जनतंत्र का यह चरम विकास है। जनतंत्र को अलग रख कर इस समाज की कल्पना हो ही नहीं सकती।" किन्तु मार्क्स पूँजीवादी जनतंत्र को सच्चा जनतंत्र नहीं मानता था। गांधी जी भी पूँजीवादी जनतंत्र को सच्चा जनतंत्र नहीं कहते थे। मार्क्स ने पूँजीवादी जनतंत्र की आलोचना की थी। उसका मत था कि पूँजीवादी लोकतंत्र में जो हर पाँचवें वर्ष संसद के लिए निर्वाचन होता है, उसका अर्थ है कि श्रमिक अपने चुने प्रतिनिधित्व के लिए किसी पूँजीवादी प्रत्याशी को, जिसे वह चाहता है, मत दे। साम्यवादी इसी आधार पर पूँजीवादी लोकतंत्र की आलोचना करते हैं। पूँजीवादी लोकतंत्र में राजनीतिक स्वातंत्र्य होता है। किन्तु यह राजनीतिक स्वातंत्र्य तभी तक है जब तक कि पूँजीपतियों के अधिकारों पर कुठाराघात नहीं होता है। जैसे ही पूँजीपतियों के अधिकारों का अतिक्रमण होगा, जनतंत्र का पुनीत रूप पुलिस राज्य में परिणत हो जायगा। जनतंत्र का भव्य प्रासाद ढह जायगा और दमनचक्र [illegible] अपना दौर

शुरू हो जायगा। अतः साम्यवादियों की दृष्टि में, पूँजीवादी जनतन्त्र एक बड़ा आडम्बर और धोखा है। वे राज्यों का विभाजन पूँजीपति के अधिनायकत्व और सर्वहारा के अधिनायकत्व में करते हैं। लेनिन ने सर्वहारा के अधिनायकत्व का पिष्टपेषण किया था। उसका विश्वास तत्कालीन जनवादी ढाँचे में नहीं था। उसने इस सम्बन्ध में कौटस्की (kautsky) की आलोचना भी की थी। उसने कहा था कि सर्वहारा के अधिनायकत्व का प्रश्न सर्वहारा के राज्य और पूँजीवादी राज्य के बीच तथा सर्वहारा का जनवाद और पूँजीवादी जनवाद के मध्य सम्बन्ध का प्रश्न है। अधिनायकत्व का आवश्यक रूप में यह अर्थ नहीं है कि जिस वर्ग के हाथ में अन्य वर्ग के विरुद्ध यह सत्ता है उसके लिए जनवाद को हटा दिया जाय किन्तु आवश्यक रूप में इससे यह अभिप्राय है कि उस वर्ग के लिए जनतंत्र हटा दिया जाय जिसके विरुद्ध अधिनायकत्व सत्तासीन हुआ है। सर्वहारा का जनतंत्र अमीर की अपेक्षा गरीब का जनतंत्र है। पूँजीपति के लिए ऐसे जनतंत्र में कोई स्थान नहीं है। ऐसे जनतन्त्र में उसे सभी अधिकारों से वंचित कर देता है। इस प्रकार पूँजीवादी जनतंत्र में अल्पसंख्यक पूँजीपतियों की अधिकार-सत्ता उत्पादन और उपभोग के समस्त साधनों पर होती है और यह शासन अल्पसंख्यकों का बहुसंख्यक वर्ग पर होता है। किन्तु रूस में बहुसंख्यक वर्ग का अल्पसंख्यक (पूँजीपति)-वर्ग पर शासन है। अतः यही सच्चा जनतंत्र है। लेनिन ने यह कहा था कि ऐसा जनतंत्रीय राज्य पूँजीपति जनतंत्र से हजारों गुना अधिक जनतंत्रीय है। वेब दम्पति[1] ने भी कहा था कि संसार में रूस जैसा सर्वव्यापक एवं साम्यभावनापूर्ण जनतंत्र कहीं नहीं है। ब्रिटेन और अमेरिका के आम चुनावों में लगभग ६० प्रतिशत मतदाता भाग लेते हैं। जब रूस में लगभग ८० प्रतिशत मतदाता निर्वाचन में भाग लेते हैं। पूँजीवादी राज्य में जो राजनीतिक स्वतंत्रता का ढोल पीटा जाता है, वह श्रमिक के लिए नाममात्र की है। आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है। ऐसी स्वतंत्रता का जब कि अधिकांश लोग गरीबी के शिकार हैं, कोई औचित्य नहीं है। यह पूँजीपति की स्वतंत्रता है। पूँजीवादी वर्ग का जन-जीवन के समस्त साधनों पर एकाधिकार है। वह इन सबका उपभोग करता है। एक गरीब के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं होता सिवाय इसके कि यह उसके शोषण एवं उत्पीड़न के लिए

---

1 Sydney and Beatrice Webb-Soviet Communism.

शासकों के हाथ की कठपुतली बना रहे। जब तक जनता का अधिकांश भाग सम्पत्तिहीन है तब तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बात करना निरर्थक है क्योंकि श्रमिक के पास अन्य कोई विकल्प नहीं है, सिवाय इसके कि वह अपनी श्रम-शक्ति को सबसे अधिक मूल्य देनेवाले को बेच दे। चाहे शासन जनवादी ही क्यों न हो किन्तु समाज में सत्ता सरकार की अपेक्षा उन्हीं के हाथों में रहेगी जिनका उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार है। अतः आर्थिक साम्य के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है। इस राजनीतिक स्वतंत्रता से शोषक-वर्ग ही लाभान्वित होता है, न कि श्रमिक-वर्ग। इस प्रकार पूँजीवादी जनतंत्र सच्चा जनतंत्र नहीं है।

एफ० एंजेल्स (Engels)

(१८२०–९५)

एंजेल्स का नाम मार्क्स के साथ जुड़ा हुआ है। वह मार्क्स का अभिन्न मित्र और सहयोगी था। सन् १८४४ में पेरिस में एंजेल्स मार्क्स के सान्निध्य में आया और यह मित्रता कार्ल मार्क्स के जीवनपर्यन्त बनी रही। एंजेल्स एक उद्योगपति का पुत्र था। और उसके पिता की एंजेल्स के उग्र विचारों से कोई सहानुभूति नहीं थी। एंजेल्स ने अपना व्यापारिक जीवन १७ वर्ष की अवस्था में ही प्रारम्भ किया। वह अपने पिता का एजेण्ट बन कर मैनचेस्टर गया। एंजेल्स की सन् १८४४ में 'इंग्लैण्ड में श्रमिक वर्गों की दशाएँ' (The conditions of working classes in England) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। सन् १८४८ में कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) मार्क्स और एंजेल्स दोनों के प्रयास से प्रकाशित हुआ। सन् १८४८ की फ्रांस और जर्मनी की क्रान्तिकारी गतिविधियों में मार्क्स और एंजेल्स ने भाग लिया और इस आन्दोलन की असफलता के कारण दोनों इंग्लैण्ड चले गये। एंजेल्स ने फिर एक बार अपने पिता के व्यापार को सँभाला। एंजेल्स ने मार्क्स की पर्याप्त आर्थिक सहायता की। यदि एंजेल्स उसकी सहायता नहीं करता तो सम्भवतः मार्क्स भूखों मर जाता। मार्क्स जीवनभर घोर दरिद्रता में रहा। मार्क्स की अनेक रचनाओं में एंजेल्स का सहयोग था। एंजेल्स की अपनी रचनाएँ हैं—Socialism, Utopian and Scientific, Anti-Duhring, Origin of the Family, Private Property and the State। मार्क्स की मृत्यु के उपरान्त एंजेल्स ने उसके दास कैपिटल (Das Capital) के द्वितीय और तृतीय खण्ड का सम्पादन किया।

लेनिन (Lenin)

(१८७०–१९२४)

लेनिन का असली नाम ब्लेडिमिर इलिच यूलिनोव (Vladimir Ilyitch Ulianov) था। जब लेनिन का निष्कासन हुआ तभी उसने अपना नाम लेनिन रख लिया। लेनिन का पिता एक स्कूल-निरीक्षक था। उसके पिता के ६ बच्चे थे, जिनमें लेनिन दूसरा था। लेनिन के सभी भाई क्रान्तिकारी थे। लेनिन के बड़े भाई को एलेक्जेण्डर तृतीय के विरुद्ध षड्यंत्र में दोषी बता कर गिरफ्तार कर लिया गया और उसे फाँसी की सजा दे दी गई। लेनिन ने १८८७ में कजान विश्वविद्यालय (Kazan University) में कानून पढ़ने के लिए प्रवेश लिया। किन्तु छात्र-आन्दोलन में भाग लेने के कारण उसे विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया। लेनिन ने प्राइवेट उम्मीदवार की हैसियत से सन् १८९१ में सेण्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय से कानून की परीक्षा उत्तीर्ण की। लेनिन अपनी क्रान्तिकारी कार्यवाहियों के कारण साइबेरिया में ३ वर्ष के निष्कासन के लिए भेज दिया गया। १९०० में लेनिन लंदन चला गया और म्यूनिक में 'दि इस्क्रा' (The Iskra) नामक पत्र निकाला। लेनिन की ट्राटस्की (Trotsky) से लंदन में भेंट हुई। लेनिन के जीवन में उत्थान और पतन के दिन आये, किन्तु वह चट्टान के समान अचल और अडिग रहा। उसने १९०० से १९१४ तक अपने विचारों के प्रचार करने में और रूस की जन-शक्ति को संगठित करने में लगाया। सन् १९१४ से सन् १९१७ तक लेनिन ज़ार (Czar) और उसकी सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करता रहा। १९१७ में ज़ारशाही का अन्त हो गया और रूसी जन-प्रजा को आशा मिल गयी। किन्तु लेनिन के अल्पसंख्या में होने के कारण शासन-सत्ता मेन्शेविक्स (Mensheviks) के हाथों में आ गयी। फिर भी, नवम्बर १९१७ में वह अपने समर्थकों द्वारा मेन्शेविकों को सत्ताच्युत करने में सफल हो गया। सत्ता हस्तगत करने के बाद लेनिन अभी बड़ी संकटापन्न स्थिति में था। रूस पर विदेशी सेनाएँ आक्रमण कर रही थीं और आर्थिक स्थिति डाँवाडोल थी। आर्थिक संकट का मुकाबला करने के लिए लेनिन ने एक आर्थिक नीति का निर्माण किया। उसकी आर्थिक नीति ने देश को भूख के चंगुल से बचा लिया और रूस प्रगति की ओर अग्रसर होने लगा। उसने देश के विद्युतीकरण पर अधिक बल दिया, जिसके द्वारा कि रूस प्रगति कर सकता था। लेनिन की मृत्यु जनवरी १९२४ में हो गयी।

लेनिन राजनीति का प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। सम्भवतः इतिहास में

✓ जूलियस सीजर के समय से अब तक इतना प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हुआ। वह एक प्रख्यात क्रान्तिकारी सुन्दर संगठनकर्ता उच्च कोटि का शासक, विद्वान् और लेखक था। उसने मार्क्सवाद को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाया। उसके विचारों का स्टालिन (Stalin) ने 'लेनिनवाद' (Leninism) की दशा प्रदान की थी। वह रूस का राष्ट्रपिता, संस्थापक और उद्धारक था। वह मार्क्सवाद का प्रवक्ता और शोषित एवं उत्पीड़ित-वर्ग का मसीहा था।

मार्क्सवाद को लेनिन की देन

स्टालिन ने कहा था, "मेरा विचार है कि लेनिन ने मार्क्सवाद में कोई नये सिद्धान्त नहीं जोड़े न उन्होंने मार्क्सवाद के 'पुरान' सिद्धान्तों में से किसी को छोड़ा। वह मार्क्स और एंगेल्स के अनुयायी चार विश्वासगत रूप में से वे और बने रहे, परन्तु लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के विचारों को कार्य-रूप में परिणत ही नहीं किया उन्होंने उन्हें विकास की नयी परिस्थितियों के साथ पूजीवाद के नये रूप के साथ, साम्राज्यवाद के साथ आगे बढ़ाया। इसका यह अर्थ है कि मार्क्स और एंगेल्स ने जो कुछ निर्माण किया था और पूँजीवाद ने प्राक् साम्राज्यवादी युग में जितना वे निर्माण कर सकते थे उसे देखते हुए लेनिन ने वर्ग संघर्ष की नयी परिस्थितियों में मार्क्स के विचारों को आगे बढ़ाते हुए मार्क्सवाद की साधारण निधि को नयी चीजें दीं। इसके अलावा मार्क्सवाद को लेनिन की देन का आधार पूर्ण रूप से मार्क्स और एंगेल्स का प्रतिष्ठित सिद्धान्त नहीं है। इस भाव से हम लेनिनवाद को साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग का मार्क्सवाद कह सकते हैं।"[१]

(१) साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है (Imperialism as the last stage of capitalism) यह लेनिन की ऐतिहासिक उक्ति हो गयी है। यह उसकी मार्क्सवाद को महानतम देन है। यद्यपि मार्क्स ने भी परिकल्पना कर ली थी कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था होगी और वह केवल कल्पना ही कर सकता था, क्योंकि उन दिनों साम्राज्यवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही था। किन्तु लेनिन ने उसके पूर्ण विकसित स्वरूप को ही नहीं देखा प्रत्युत उसके द्वारा पूँजीवाद को मरणासन्न करते देखा था। अतः लेनिन ही इस विचार को पूर्ण विकसित करने में सफल हो सका जैसा कि स्टालिन

१ कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धान्त—एंगेल्स लेनिन और स्टालिन।

लेनिन (Lenin)

(१८७०–१९२४)

लेनिन का असली नाम व्लोडिमिर इलिच यूलियनोव (Vladimir Ilyitch Ulianov) था। जब लेनिन का निष्कासन हुआ तभी उसने अपना नाम लेनिन रख लिया। लेनिन का पिता एक स्कूल-निरीक्षक था। उसके पिता के ६ बच्चे थे जिनमें लेनिन दूसरा था। लेनिन के सभी भाई क्रान्तिकारी थे। लेनिन के बड़े भाई को एलेक्जेण्डर तृतीय के विरुद्ध षड्यंत्र में दोषी बता कर गिरफ्तार कर लिया गया और उसे फाँसी की सजा दे दी गई। लेनिन ने १८८७ में कजान विश्व विद्यालय (Kazan University) में कानून पढ़ने के लिए प्रवेश लिया। किन्तु छात्र-आन्दोलन में भाग लेने के कारण उसे विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया। लेनिन ने प्राइवेट उम्मीदवार की हैसियत से सन् १८९१ में सेण्ट पीटर्सबर्ग विश्व विद्यालय से कानून की परीक्षा उत्तीर्ण की। लेनिन अपनी क्रान्तिकारी कार्यवाहियों के कारण साइबेरिया में ३ वर्ष के निष्कासन के लिए भेज दिया गया। १९   में लेनिन लंदन चला गया और म्यूनिक में "दि इस्करा (The Iskra) नामक पत्र निकाला। लेनिन की ट्राटस्की (Trotsky) से लंदन में भेंट हुई। लेनिन के जीवन में उत्थान और पतन के दिन आये किन्तु वह चट्टान के समान अचल और अडिग रहा। उसने १९०० से १९१४ तक अपने विचारों के प्रचार करने में और रूस की जन-शक्ति को संगठित करने में लगाया। सन् १९१४ से सन् १९१७ तक लेनिन जार (Czar) और उसकी सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करता रहा। १९१७ में जारशाही का अन्त हो गया और उसे स्व-प्रदेश की आज्ञा मिल गयी। किन्तु लेनिन के विलम्ब हो जाने के कारण शासन-सत्ता मन्शेविक्स (Mansheviks) के हाथों में आ गयी। फिर भी, नवम्बर १९१७ में वह अपने समर्थकों द्वारा मेन्शेविकों को सत्ताच्युत करने में सफल हो गया। सत्ता हस्तगत करने के बाद लेनिन अभी बड़ी संकटापन्न स्थिति में था। रूस पर विदेशी सेनाएँ आक्रमण कर रही थी और आर्थिक स्थिति डावाँडोल थी। आर्थिक संकट का मुकाबला करने के लिए लेनिन ने एक आर्थिक नीति का निर्धारण किया। उसकी आर्थिक नीति ने देश को भूख के चंगुल से बचा लिया और देश उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा। उसने देश के विद्युतीकरण पर अधिक बल दिया, जिसके द्वारा कि रूस प्रगति कर सकता था। लेनिन की मृत्यु जनवरी १९२४ में हो गयी।

लेनिन राजनीति का प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति था। सम्भवतः इतिहास में

✓ जूलियस सीज़र के समय से अब तक इतना प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हुआ। वह एक प्रख्यात क्रान्तिकारी, सुन्दर संगठनकर्त्ता, उच्च कोटि का शासक, विद्वान् और लेखक था। उसने मार्क्सवाद को अपनी परिस्थितियों के अनुरूप बनाया। उसके विचारों को स्टालिन (Stalin) ने 'लेनिनवाद' (Leninism) की संज्ञा प्रदान की थी। वह रूस का राष्ट्रपिता, संस्थापक और उद्धारक था। वह मार्क्सवाद का प्रवक्ता और शोषित एवं उत्पीड़ित-वर्ग का मसीहा था।

मार्क्सवाद को लेनिन की देन

स्टालिन ने कहा था, "मेरा विचार है कि लेनिन ने मार्क्सवाद में कोई नये सिद्धान्त नहीं जोड़े न उन्होंने मार्क्सवाद के 'पुराने' सिद्धान्तों में से किसी को छोड़ा। वह मार्क्स और एंगिल्स के अनुयायी और शिष्यवत् रूप में से थे और बने रहे, परन्तु लेनिन ने मार्क्स और एंगिल्स के विचारों को कार्य-रूप में परिणत ही नहीं किया, उन्होंने उन्हें विकास की नयी परिस्थितियों के साथ पूँजीवाद के नये रूप के साथ साम्राज्यवाद के साथ आगे बढ़ाया। इसका यह अर्थ है कि मार्क्स और एंगिल्स ने जो कुछ निर्माण किया था और पूँजीवाद में साम्राज्यवादी युग में जिसका वे निर्माण कर सकते थे उसे देखते हुए लेनिन ने वर्ग-संघर्ष को नयी परिस्थितियों में मार्क्स के विचारों को आगे बढ़ाते हुए, मार्क्सवाद की साधारण निधि को नयी चीजें दीं। इसके अलावा मार्क्सवाद को लेनिन की देन का आधार पूर्ण रूप से मार्क्स और एंगिल्स का प्रतिष्ठित सिद्धान्त नहीं है। इस भाव से हम लेनिनवाद को साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग का मार्क्सवाद कह सकते हैं।"[1]

(१) साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है (Imperialism is the last stage of capitalism) यह लेनिन की ऐतिहासिक उक्ति हो गयी है। यह उसकी मार्क्सवाद को महानतम देन है। यद्यपि मार्क्स ने यह परिकल्पना कर ली थी कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था होगी और वह कल्पना ही कर सकता था क्योंकि उन दिनों साम्राज्यवाद अपनी शैशवावस्था में ही था। किन्तु लेनिन ने उसके पूर्ण विकसित स्वरूप को ही नहीं देखा, प्रत्युत उसके द्वारा पूँजीवाद को मरणासन्न करते देखा था। अतः लेनिन ही इस विचार को पूर्ण विकसित करने में सक्षम हो सका जैसा कि स्टालिन ने

१ कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धान्त— एंगेल्स लेनिन और स्टालिन।

कहा था 'पूँजी' में मार्क्स और एंगिल्स पूँजीवाद के उस युग में थे जब पूँजीवाद का समतल विकास हो रहा था और सारे संसार में उसका शांतिपूर्ण प्रसार हो रहा था। पूँजीवाद का यह पुराना और पूरा हुआ उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में। तब मार्क्स और एंगिल्स का देहान्त हो चुका था। यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद के पुराने दौर के बाद जो नया दौर शुरू हुआ, उससे पूँजीवाद के विकास की जो नयी परिस्थितियाँ विकसित हुईं उनका अनुमान ही मार्क्स और एंगेल्स के लिए सम्भव था। "लेनिन ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया और फलतः उनकी जो देन थी वह यह है कि 'पूँजी' में जिन मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, उन्हीं के आधार पर उन्होंने साम्राज्यवाद का महत्वपूर्ण मार्क्सीय विश्लेषण किया कि वह पूँजीवाद का अन्तिम रूप है। उन्होंने उसके फोड़ों को दिखाया और बताया कि किन परिस्थितियों में उसका नाश होगा। इस विश्लेषण के आधार पर ही लेनिन की यह प्रसिद्ध धारणा निर्भर थी कि साम्राज्यवाद की परिस्थितियों से विभिन्न पूँजीवादी देशों में समाजवाद की विजय होती है।" विस्तृत अध्ययन के लिए 'पूँजीवाद के विनाश की अनिवार्यता' नामक शीर्षक भी इसी अध्याय में देखिए।

(२) क्रान्ति की पद्धति—मार्क्स का श्रमिक क्रान्ति के सम्बन्ध में कथन था कि यह उसी देश में फलीभूत हो सकती है जहाँ औद्योगीकरण अपनी चरमावस्था पर पहुँच चुका हो किन्तु रूस जैसे सामन्तवादी देश में मार्क्स की धारणा के विपरीत श्रमिक क्रान्ति कैसे सफल हुई? लेनिन का कथन था कि रूस पूँजीवाद की चरमावस्था का अनुभव नहीं कर रहा था, फिर भी उसने अप्रत्यक्षरूप से पूँजीवाद और उपनिवेशवाद की अनुभूति की थी और रूस में क्रान्ति के आरम्भ हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि युद्ध होगा और युद्ध में रूस पराजित होगा अतः उसके लिए एक ऐसे दल का निर्माण करना, जो क्रान्ति को सफल बना सके, आवश्यक था। किन्तु मार्क्स रूसी क्रान्तिकारियों को अस्वीकृत कर देता क्योंकि रूसी सामाजिक और आर्थिक ढाँचा उस एक शर्त को भी पूरी नहीं करता था, जिसे वह क्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक समझता था। प्लेखनोव (Plakhanov) [illegible] रूसी मार्क्सवादी इस तथ्य से भली भाँति अवगत थे। निस्सन्देह लेनिन ने सिद्धान्तवादिता की दल-दल में न फँसकर व्यावहारिकता से कार्य किया और उसने सिद्धान्तों के औचित्य की अपेक्षा अपनी इस नीति के कार्यान्वयन में अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की।

(३) दलीय आवश्यकता—मार्क्स और एंगेल्स ने पार्टी स्थापना की कल्पना की थी। उनकी दृष्टि में, दल सर्वहारा-वर्ग का प्रमुख दल होगा, जिसके द्वारा संगठित सर्वहारावर्ग अपने कष्टों से मुक्ति पा सकेगा। बिना दल के श्रमिक-वर्ग न तो शासन सत्ता पर एकाधिकार ही कर सकेगा और न वर्ग-विहीन समाज की स्थापना ही सम्भव होगी। किन्तु इस दिशा में लेनिन की देन यह है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इस रूपरेखा को विकसित और स्पष्ट किया तथा नयी परिस्थितियों के अनुसार इसे प्रयुक्त किया। उसने यह निस्संकोच स्वीकार किया कि सर्वहारा के पास अपने शक्ति-संघर्ष में दलीय संगठन को छोड़कर अन्य कोई शस्त्र नहीं है। दल सम्पूर्ण श्रमिक-आन्दोलनों के मध्य रहता है और वह मार्ग प्रदर्शन तथा नेतृत्व प्रदान करता है, जिसकी आवश्यकता ऐसे आन्दोलनों को होती है, किन्तु वह सर्वथा श्रमिक संगठन से विभेदित होता है। लेनिन ने बताया कि (१) सर्वहारा संगठन के अन्य रूपों (श्रमिक संघ, सहकार-संघ तथा राज्य के संगठन) की अपेक्षा पार्टी सर्वहारा के वर्ग-संगठन का एक उच्चतर रूप है। वह इन संगठनों के कार्य में साम्य-स्थापन तथा संचालन करे। (२) सर्वहारा का एकाधिपत्य तभी सम्भव है जब कि पार्टी को निर्देश शक्ति हो। (३) सर्वहारा वर्ग का एकाधिकार तभी पूर्ण हो सकता है जबकि उसका नेतृत्व एक ही पार्टी करती हो। (४) पार्टी में कठोर अनुशासन परम आवश्यक है और तभी शोषकों का पतन और वर्गीय समाज की वर्ग विहीन समाज में परिणति सम्भव है।

(४) सर्वहारा का अधिनायकत्व एवं सर्वोपरिता—मार्क्स ने कहा था कि सर्वहारा की क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की प्रतिष्ठा होगी, उसका शासन-सूत्र पर एकाधिपत्य होगा और जनतंत्र की प्रतिष्ठा होगी, जैसा कि कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में उल्लिखित है।[1] सन् १८९१ में एंगेल्स ने कहा था, "यदि कोई बात निश्चित है तो यह है कि हमारा दल और श्रमिक वर्ग जनवादी गणतंत्रीय स्वरूप के अन्तर्गत ही सत्ता शक्ति में आ सकता है।"[2] एंगेल्स का यह संकेत १८७० के पेरिस कम्यून की ओर था जिसकी स्था-

---

1 "The first step in the revolution by the working class is the raising of the proletariat to the position of ruling class and to establish democracy" (Karl Marx)

2 "If anything is certain, it is that our party and the working class can only come to power under the form of the democratic republic." (Engels)

रहा था 'पूँजी' में मार्क्स और एंगिल्स पूँजीवाद के उस युग में थे जब पूँजीवाद का समतल विकास हो रहा था और सारे संसार में उसका शांतिपूर्ण प्रसार हो रहा था। पूँजीवाद का यह पुराना और पूरा हुआ उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में। तब मार्क्स और एंगिल्स का देहान्त हो चुका था। यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद के पुराने दौर के बाद जो नया और युग हुआ, उससे पूँजीवाद के विकास की जो नयी परिस्थितियाँ विकसित हुईं उनका अनुमान ही मार्क्स और एंगेल्स के लिए सम्भव था।' "लेनिन ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया और उसकी जो देन थी, वह यह है कि 'पूँजी' में जिन मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, उन्हीं के आधार पर उन्होंने साम्राज्यवाद का महत्वपूर्ण मार्क्सीय विश्लेषण किया कि यह पूँजीवाद का अन्तिम रूप है। उन्होंने उसके फोड़ों को दिखाया और बताया कि किन परिस्थितियों में उसका नाश होगा। इस विश्लेषण के आधार पर ही लेनिन की यह प्रसिद्ध धारणा निर्भर थी कि साम्राज्यवाद की परिस्थितियों से विभिन्न पूँजीवादी देशों में समाजवाद की विजय होती है।' विस्तृत अध्ययन के लिए 'पूँजीवाद के विनाश की अनिवार्यता' नामक शीर्षक को इसी अध्याय में देखिए।

(२) क्रान्ति की पद्धति—मार्क्स का श्रमिक क्रान्ति के सम्बन्ध में कथन था कि यह उसी देश में सफलीभूत हो सकती है जहाँ औद्योगीकरण अपनी चरमावस्था पर पहुँच चुका हो, किन्तु रूस जैसे सामन्तशाही देश में मार्क्स की आशा के विपरीत श्रमिक क्रान्ति कैसे सफल हुई? लेनिन का कथन था कि रूस पूँजीवाद की चरमावस्था का अनुभव नहीं कर सका था, फिर भी उसने अप्रत्यक्षरूप से पूँजीवाद और उपनिवेशवाद की अनुभूति की थी और रूस में क्रान्ति के सफलता हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। उसे पूर्ण विश्वास था कि युद्ध होगा और युद्ध में रूस पराजित होगा, अतः उसके लिए एक ऐसे दल का निर्माण करना जो क्रान्ति को सफल बना सके, आवश्यक था। किन्तु मार्क्स रूसी क्रान्तिकारियों को अस्वीकृत कर देता क्योंकि रूसी सामाजिक और आर्थिक ढाँचा उस एक शर्त को भी पूरी नहीं करता था जिसे वह क्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक समझता था। प्लेखनोव (Plakhanov) जैसे रूसी मार्क्सवादी इस तथ्य से भली भाँति अवगत थे। निःसन्देह लेनिन ने सिद्धान्तवादिता की दल-दल में न फँसकर व्यावहारिकता से कार्य किया और उसने सिद्धान्तों के औचित्य की अपेक्षा अपनी इस नीति के कार्यान्वयन में अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की।

(३) दलीय आवश्यकता—मार्क्स और एंगेल्स ने पार्टी स्थापना की कल्पना की थी। उनकी दृष्टि में, दल सर्वहारा-वर्ग का प्रमुख दल होगा जिसके द्वारा उत्पीड़ित सर्वहारावर्ग अपने कष्टों से मुक्ति पा सकेगा। बिना दल के श्रमिक-वर्ग न तो शासन सत्ता पर एकाधिकार ही कर सकेगा और न वर्ग विहीन समाज की स्थापना ही सम्भव होगी। किन्तु इस दिशा में लेनिन की देन यह है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इस रूपरेखा को विकसित और स्पष्ट किया तथा नयी परिस्थितियों के अनुसार इसे प्रयुक्त किया। उसने यह निःसङ्कोच स्वीकार किया कि सर्वहारा के पास अपने शक्ति-संघर्ष में दलीय सङ्गठन को छोड़कर अन्य कोई शस्त्र नहीं है। दल सम्पूर्ण श्रमिक-आन्दोलनों के मध्य रहता है और वह मार्ग प्रदर्शन तथा नेतृत्व प्रदान करता है, जिसकी आवश्यकता ऐसे आन्दोलनों को होती है, किन्तु यह सर्वथा श्रमिक सङ्गठन से भिन्न होता है। लेनिन ने बताया कि (१) सर्वहारा सङ्गठन के अन्य रूपों (श्रमिक सङ्घ सहकार-सङ्घ तथा राज्य के सङ्गठन) की अपेक्षा पार्टी सर्वहारा के वर्ग-सङ्गठन का एक उच्चतर रूप है। वह इन सङ्गठनों के कार्य में साम्य-स्थापन तथा संचालन करे। (२) सर्वहारा का एकाधिपत्य तभी सम्भव है जब कि पार्टी को निर्देश शक्ति हो। (३) सर्वहारा वर्ग का एकाधिकार तभी पूर्ण हो सकता है जबकि उसका नेतृत्व एक ही पार्टी करती हो। (४) पार्टी में कठोर अनुशासन परम आवश्यक है और तभी शोषकों का दमन और वर्गीय समाज की वर्ग-विहीन समाज में परिणति सम्भव है।

(४) सर्वहारा का अधिनायकत्व एवं सर्वोच्चता—मार्क्स ने कहा था कि सर्वहारा की क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की प्रतिष्ठा होगी, उसका शासन-सूत्र पर एकाधिपत्य होगा और जनतंत्र की प्रतिष्ठा होगी जैसा कि कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में उल्लिखित है।[1] सन् १८९१ में एंगेल्स ने कहा था, "यदि कोई बात निश्चित है तो यह है कि हमारा दल और श्रमिक वर्ग जनवादी गणतंत्रीय सरकार के अन्तर्गत ही केवल शक्ति में आ सकता है।"[2] एंगेल्स का यह संकेत १८७० के पेरिस कम्यून की ओर था, जिसकी स्था

---

1 "The first step in the revolution by the working class is the raising of the proletariat to the position of ruling class and to establish democracy." (Karl Marx)

2 "If anything is certain, it is that our party and the working class can only come to power under the form of the democratic republic." (Engels)

पना वयस्क मताधिकार के आधार पर हुई थी। किन्तु लेनिन का सर्वहारा के अधिनायकत्व से अभिप्राय एकदलीय राज्य के अधिनायकत्व से था। लेनिन का मार्क्स के सिद्धान्त से यह स्पष्ट प्रस्थान था। किन्तु ट्राटस्की (Trotsky) ने यह अंगीकार किया था कि एक अल्पसंख्यक-वर्ग जनवादी साधनों द्वारा सत्ता हस्तगत नहीं कर सकता। लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा था कि सर्वहारा की शासक वर्ग में परिणति जनवाद की प्रतिष्ठा के समकक्ष है। "हम सभी जानते हैं कि उस समय राज्य का राजनीतिक स्वरूप (क्रान्ति के उपरान्त) नितान्त जनतंत्र है।"[1] इस प्रकार लेनिन ने सर्वहारा राज्य को नितान्ततम जनतंत्र कहा अर्थात् यह जनतंत्र एक राज्य में ही सम्भव है, किन्तु जहां तक पूर्ण जनतंत्र का प्रश्न है यह तभी सम्भव है जब कि इस राज्य का विनाश हो जाय। 'पूर्ण जनतंत्र' की उपलब्धि केवल विलुप्ति के लिए ही होगी। राज्य के विलोप के साथ स्वयं जनतंत्र भी स्वयमेव विलोप प्रारम्भ करेगा (well democracy itself begin to wither away)। यह उसके विचारों में विरोधाभास है, क्योंकि उसने पूर्व कहा था 'जनतंत्र भी एक राज्य है और फलस्वरूप जनतंत्र भी विलुप्त हो जायगा, जब राज्य का विलोप होगा।'[2]

(५) मार्क्स का कथन था कि सर्वहारा अधिनायकत्व का युग दीर्घकालीन होगा जो क्रान्तिकारी संघर्षों और गृह-युद्धों से परिपूर्ण होगा। उस समय नवीन समाजवादी समाज की स्थापना हेतु सर्वहारा वर्ग आवश्यक साधनों को प्रयुक्त करेगा। पूर्ववत् समाज की अपेक्षा यह समाज वर्ग एवं राज्य विहीन होगा। स्टालिन के अनुसार लेनिन की इस क्षेत्र में देन थी '(१) सर्वहारा-एकाधिपत्य का देश चारों ओर के पूँजीवादी राज्यों के सैनिक हस्तक्षेप से न कुचला जाय, तो वहां पूर्ण सोशलिस्ट समाज का निर्माण सम्भव है, (२) उन्होंने आर्थिक नीति ('नवीन आर्थिक नीति') का स्पष्ट मार्ग निर्धारित किया जिससे कि सर्वहारा-वर्ग आर्थिक महत्त्व की चीजों (उद्योग-धन्धों, भूमि, यातायात बैंकों

---

1 "We all know that the political form of the 'State at that time [after the revolution] is complete democracy"— (Lenin)

2 'democracy is also a state" and that "Consequently democracy will also disappear when the state disappears" (Lenin)

आदि) पर अधिकारी होने से समाजवादी उद्योग पक्षों से कृषि का सम्बन्ध (उद्योग-धन्धों और किसानों की खेती का सम्बन्ध) स्थापित करता है, और इस प्रकार राष्ट्र की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को समाजवाद की ओर ले चलता है। (३) उन्होंने स्पष्ट मार्ग बताने जिससे किसानों का बहुभाग सहकार संस्थाओं द्वारा धीरे धीरे समाजवादी निर्माण के अनुकूल बन जाता है। ये सहकार संस्थाएँ सर्वहारा-एकाधिपत्य के हाथ में एक प्रकार अस्त्र बन जाती हैं, जिससे कि किसानों की टुटपुँजिया आर्थिक व्यवस्था को बदला जा सकता है और किसानों के प्रमुख मार्ग को समाजवाद के अनुकूल पुनः शिक्षित किया जा सकता है।"[१]

(६) जातियाँ और उपनिवेश—मार्क्स और एंगेल्स ने आयरलैण्ड चीन, भारत, हंगरी और पोलैण्ड आदि देशों की तत्कालीन घटनाओं का समुचित विश्लेषण कर जातीय एवं उप निवेशीय प्रश्नों के मूलभूत विचारों को स्थिर किया था। स्टालिन के शब्दों में लेनिन का इस क्षेत्र में अनुदान था '(१) उन्होंने साम्राज्यवाद के युग में जातीय और औपनिवेशिक क्रान्तियों के सम्बन्ध में मुख्य व स्वत धारणाओं के रूप में इन विचारों का संकलन किया। (२) उन्होंने साम्राज्यवाद के ध्वंस के प्रश्न के साथ जातीय और औपनिवेशिक प्रश्नों को जोड़ दिया। और (३) उन्होंने बताया कि जातीय और औपनिवेशिक प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा क्रान्ति का आनुषंगिक प्रश्न है।"[२]

(७) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—लेनिन की मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में पूर्ण निष्ठा थी। उसकी दृष्टि में, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से विलक्षण प्रतिक्रियात्मक था। मार्क्स ने कहा था कि द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया समाज-शास्त्रों के म्युरोलम में एक विशिष्ट स्थान रखती है, क्योंकि इसकी विषय-वस्तु में विकासात्मकता है। किन्तु इसके विपरीत भौतिक शास्त्रों की विषय-वस्तु पदार्थ है वहाँ अद्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Non-dialectical materialism) से भी कार्य हो जाता है। लेनिन ने मार्क्स के इस विचार को विकसित करते हुए कहा कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं। यह दोनों के विचारों का स्पष्ट अन्तर है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जैसा कि लेनिन ने इसकी कल्पना की थी, एक सार्वभौम प्रक्रिया हो गयी, जिसे विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है और जिसके द्वारा विज्ञान के जटिलतम

१ २ कार्ल मार्क्स और उनके सिद्धान्त—एंगेल्स, लेनिन और स्टालिन

प्रश्नों को हल किया जा सकता है। वस्तुतः इसकी परिणति एक उच्चस्तरीय ज्ञान और एक प्रकार के धर्म में हो गयी।[1]

(८) एक देश में समाजवाद—लेनिन ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की एक राष्ट्रीय व्याख्या की। उसने 'एक देश में समाजवाद' (Socialism in one Country) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने १९१७ की रूसी क्रान्ति को रूस तक ही परिमित किया। उसका विश्वास था कि रूसी क्रान्ति सर्वहारा-वर्ग की अन्य क्रान्तियों के लिए प्रकाश-दीप का कार्य करेगी। उसका यह दृढ़ मत था कि जिस प्रकार पूँजीवाद का विकास संसार के सभी देशों में एक समान नहीं रहा उसी प्रकार समाजवाद का विस्तार भी सभी देशों में एक समान नहीं होगा। साम्यवाद की प्रतिष्ठा एक ही प्रयास में सर्वत्र सम्भव नहीं होगी। लेनिन के बाद ट्राटस्की और स्टालिन में यही विचार विवाद का कारण बना। स्टालिन ने लेनिन के इसी विचार का औचित्य सिद्ध किया और वस्तुतः रूस अन्य देशों की सर्वहारा-क्रान्तियों के लिए प्रेरक सिद्ध हुआ।

लेनिन की आलोचना और मूल्यांकन

लेनिन का मार्क्सवाद से पलायन उसकी मार्क्सवादी व्याख्या से स्पष्ट है। लेनिन ने मार्क्स की जनवादी भावना का अन्त कर दिया। वर्गवाद विहीन सर्वहारा के अधिनायकत्व की प्रतिष्ठा तथा उसकी परिणति पार्टी की अधिनायकशाही में और अन्ततोगत्वा एक व्यक्ति-विशेष की तानाशाही में मार्क्सवाद की मूल भित्ति पर कठोर प्रहार है। मार्क्स का जनतांत्रिक आधार ढह जाता है। और उसकी मानव-हित-चिन्तन-धारा तिरोहित हो जाती है। मार्क्स उच्चकोटि का मानवतावादी था। जो सिद्धान्त मानव का मूल्य घटाता है, उसे वह अमान्य था। पार्टी अथवा एक व्यक्ति विशेष की तानाशाही मार्क्स को कैसे सह्य होती ?[1] लेनिन द्वारा सर्वहारा की क्रान्ति भी मार्क्सवाद के सर्वथा विपरीत थी। सर्वहारा-क्रान्ति से पूर्व पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की आन्तरी असंगतियों का प्रकटीकरण आवश्यक था और असङ्गतियाँ ही सर्वहारा की अग्रगामी होती हैं। लेनिन द्वारा 'एक देश में समाजवाद' का प्रतिपादन भी मार्क्सवादी अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का संशोधन था। फिर भी, समाजवाद के इतिहास में जो लेनिन की महत्त्वपूर्ण देनें हैं, उनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। वास्तविकता तो यह है कि लेनिन एक मात्र सैद्धान्तिक भूल-भुलैयों में ही उलझना नहीं चाहता था। वह व्यावहारिक बुद्धि का मेधावी

---

1 Staline

पुरुष था। उसने मार्क्सवाद को यथार्थ की कसौटी पर कसा और रूस की परिस्थितियों के अनुकूल ढाला। उसने मार्क्सवाद को वह परिधान पहनाया जो रूसी शरीर पर फिट हो सकता था। मार्क्सवादियों के अनुसार लेनिन की प्रधान देन सिद्धान्त की बारीक व्याख्या में उतनी नहीं है, जितनी सक्रिय एवं गतिशील नेतृत्व में है, जो उन्होंने अपने देश को उसके संकट काल में दिया, जैसा कि एक लेखक ने लिखा है, "लेनिनवाद एक वैज्ञानिक की अपेक्षा एक भावनात्मक आह्वान अधिक है। यही कारण है कि उसके विचार इतिहास-वेत्ताओं और उसके मार्क्सवादी साथियों को पलायनवादी और असम्बद्ध-से मालूम पड़े। किन्तु वह लेनिन ही था जिसने स्टालिन के मार्ग को सरल और सुगम बना दिया।"[1]

स्टालिन (Joseph Vissarionovitch Stalin)

(१८७९–१९५३)

स्टालिन टिफलिस प्रान्त के एक ग्राम में पैदा हुआ। उसका पिता पेशे से मोची था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में स्टालिन क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आया और तभी से वह मार्क्सवाद का अध्ययन करने लगा। १९०१ से १९१७ तक उसका जीवन एक क्रान्तिकारी का रहा। १९०२ में वह लेनिन के सान्निध्य में आया और जीवन-पर्यन्त लेनिन के प्रति भक्ति प्रदर्शित की। किन्तु लेनिन अपनी मृत्यु से पूर्व स्टालिन को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था। वह उसकी शक्ति को देखकर भयभीत हो गया था। इस भय के कारण ही उसने स्टालिन की सार्वजनिक रूप से प्रावदा में आलोचना की और अपनी मृत्यु के थोड़ा पहले उसने स्टालिन से अपने समस्त व्यक्तिगत सम्बन्धों को तोड़ दिया था।

लेनिन की मृत्यु के पश्चात् स्टालिन और ट्राटस्की (Leon Trotsky) में शासन तथा पार्टी के नेतृत्व के प्रश्न पर गम्भीर विचार वैभिन्न्य रहा। इस वैचारिक भिन्नता का प्रमुख कारण विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त था। ट्राटस्की विश्वक्रान्ति का समर्थक था। वह चाहता था कि समाजवाद का प्रसार ही और

1 "It was Lenin indeed, who had made pssible Stalin's Russia. That Stalin drove more reckles ly and welcomed more joyfully the goal which was being more clearly revealed with every mile left behind, must not blind us to the fact that it was Lenin who had built the car and Started it off on the road along which it has been driven ever since." (C. L. Wayper)

यह क्रान्ति रूस तक ही सीमित नहीं रहे। इसके विपरीत स्टालिन का मत था कि रूस विश्व-क्रान्ति का नेतृत्व करने में अभी असमर्थ है, क्योंकि वह आन्तरिक दृष्टि से अभी निर्बल है। रूस के सम्मुख अभी अपनी ही समस्याएं हैं। साम्यवाद का पूर्ण विकास पहले रूस में आवश्यक है। अतः 'एक देश में समाजवाद' का औचित्य स्टालिन ने सिद्ध किया। इस संघर्ष में ट्राटस्की पराजित ही नहीं हुआ, बल्कि १९२८ में उसे देश से निष्कासित किया गया और १९४० में मेक्सिको में एक आततायी ने उसके सिर के टुकड़े कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। १९०५ और १९१७ की रूसी क्रान्तियों में ट्राटस्की का विशिष्ट योग-दान था। History of the Russian Revolution और Revolution betrayed उसकी सुप्रसिद्ध रचनाएं हैं। किन्तु स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त ख्रुश्चेव ट्राटस्की को रूसी क्रान्ति में यथोचित स्थान दिलाने और स्टालिन के व्यक्तित्व-पूजा (Personality Cult) सिद्धान्त के खण्डन में रत हैं।

स्टालिन का मार्क्सवाद और लेनिनवाद को अनुदाय

एक देश में समाजवाद सिद्धान्त के प्रतिपादक लेनिन ने मार्क्स के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की जो राष्ट्रीय व्याख्या की, उसे ही स्टालिन ने महत्त्व प्रदान किया। किन्तु यह सिद्धान्त इतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि इसके निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। स्टालिन का मार्क्सवाद से [illegible] प्रस्थान नहीं था। उसने विश्व-क्रान्ति का परित्याग नहीं किया था। रूस को उस समय सर्वाधिक आवश्यकता थी सशक्त करने की और तदुपरान्त ही अन्य देशों की श्रमिक-क्रान्तियों में सहयोग अथवा नेतृत्व करने का प्रश्न उठता था। 'एक देश में समाजवाद' सिद्धान्त ने रूसी प्रशासन को अत्यधिक प्रभावित किया। स्टालिन इसके द्वारा शक्ति की चरमावस्था पर पहुँच गया। लेनिन ने देश के औद्योगीकरण पर बल दिया था किन्तु स्टालिन ने आर्थिक और प्राकृतिक साधनों को समुन्नत करने पर बल दिया। उसने 'एक देश में साम्यवाद' के साफल्यहेतु लेनिन के लोकतान्त्रिक केन्द्रीयकरण (Democratic Centralisation) के प्रति केवल मौखिक निष्ठा ही अर्पित की। लोकतंत्र के स्थान पर केन्द्रीयकरण की भावना को प्रमुख किया। सर्वहारा के अधिनायकत्व को पार्टी के अधिनायकत्व में परिणत कर दिया और पार्टी के सदस्यों को आन्तरिक जनतंत्र (Internal democracy) से भी वंचित कर दिया जिसका प्रतिपादन लेनिन ने किया था। स्टालिन ने राज्य के अस्तित्व का औचित्य इस आधार पर सिद्ध किया कि पूँजीवादी राज्य और सर्वहारा के राज्य में विशिष्ट

अन्तर है। सर्वहारा का राज्य सम्पूर्ण समाज का हितसाधन करता है। अतः राज्य की विलुप्ति का प्रश्न तभी उठता है जब कि राज्य शक्ति का विकास अपनी चरमावस्था को पहुँच जाय। "राज्य विलुप्ति की परिस्थितियाँ तैयार करने के लिए राज्य-शक्ति को निरन्तर विकसित करते रहना, यही मार्क्सवादी सिद्धान्त है।" स्टालिन की दृष्टि में, यह अन्तर्विरोध (Contradiction) है और मार्क्स के द्वन्द्ववाद की अभिव्यक्ति करता है। जिसने हमारे संक्रमित काल के इस अन्तर्विरोध को और ऐतिहासिक प्रक्रिया के इस द्वन्द्ववाद को नहीं समझा, वह व्यक्ति मार्क्सवाद के लिए मृत है। स्टालिन साम्यवादी समाज में भी राज्य के बने रहने पर बल देता है, जब तक कि पूँजीवादी राष्ट्रों से वह घिरा है।[1] इस प्रकार स्टालिन ने मार्क्स और एंजिल्स के विचारों में ही संशोधन नहीं किया वरन् लेनिन के विचारों में भी।

स्टालिन ने लेनिन द्वारा संस्थापित तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय को जिसे साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (Communist International) भी कहते हैं, भंग कर दिया और विशुद्ध राष्ट्रीय नीति को अपनाया। यह तथा रूसी राष्ट्रवाद मार्क्स की शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध था। स्टालिन का तर्क था कि यदि रूस को युद्धों में पराजय मिली है तो उसका प्रमुख कारण उसका पिछड़ापन है। यह पिछड़ापन सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। द्वितीय महायुद्ध के समय में रूसी नव-युवकों को आवाहन करने के लिए "आपकी मातृभूमि को आपकी आवश्यकता है (your mother land needs you) वाक्य का प्रयोग किया गया था। यही नहीं, रूसी प्राचीन महानात्माओं को जिनमें दिमित्रि डॉन्स्कोई (Dimitri Donskoi), पीटर महान् (Peter the Great), सुवारोव (Suvarov) प्रभृति उल्लेखनीय हैं, जिनकी पुण्यगाथाओं को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया।

एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त के मार्ग में, लेनिन का सिद्धान्त कि सभी को निम्नतम समान वेतन दिया जाय व्यवधान का कारण बना। इससे देश का औद्योगीकरण तथा वैज्ञानीकरण असम्भव था। स्टालिन यह भलीभाँति जानता था कि प्रशिक्षित व्यक्तियों को अधिक वेतन देना आवश्यक है तभी देश में समाजवादी सिद्धान्त साकार कर ले सकेगा। अतः 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के

---

1 Will our state", he went on "remain in the period of communism also ? yes, it will, unless the capitalist encirclement is liquidated and unless the danger of foreign military attack has disappeared " (Stalin)

अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार' (From each according to his ability, to each according to his needs) के स्थान पर 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार' (From each according to his ability, to each according to his work) के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया। इस सिद्धान्त के औचित्य में मार्क्स के इस कथन को उद्धृत किया गया कि वर्गविहीन समाज में भी केवल पहले आवश्यकताओं के अनुसार न होकर श्रम के अनुसार ही मिलेगा (That even in a classless society pay *at first would be according to labour* and not needs)। इस प्रकार मार्गोलियस के शब्दों में, "लेनिनवाद स्टालिन के हाथों में आकर भ्रष्ट हो गया। जिस आन्दोलन को स्टालिन ने आरम्भ किया उसे सच्चे अर्थों में मजदूरों और किसानों का नहीं कहा जा सकता।' 'लेनिन की, जो एक असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति थे, तुलना में स्टालिन एक अल्प बुद्धि और मध्यम कोटि की योग्यता वाले व्यक्ति थे। उनके तरीके अत्यसंस्कृत (crude) और तानाशाही (dictatorial) होते थे।'

निकिता ख्रुश्चेव के हाथों में जब से साम्यवादी दल की शासन सत्ता आयी है आंतरिक रूप से नीति-परिवर्तन और अधिनायकशाही में शैथिल्य के लक्षण दिखाई देते हैं। स्टालिन की व्यक्ति-पूजा (Personality cult) के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) के सिद्धान्त को अपनाया गया है। सह अस्तित्व (Co-existence) के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है। इसके अनुसार साम्यवादी राष्ट्र विभिन्न धर्मों, सिद्धान्तों और राजनैतिक ढाँचे के साथ दूर साथ साथ रह सकते हैं।

माओत्से (Mao Tse-Tung)

माओ चीन के असाधारण व्यक्तियों में से है। वह मार्क्सवाद का व्याख्याकार ही नहीं है, प्रत्युत उच्चकोटि का सेनापति और राजनेता भी है। उसने चीनी क्रान्ति का नेतृत्व किया। मार्क्सवाद को चीनी परिस्थितियों के अनुसार नया जामा पहनाया। नवीन जनतंत्र (New democracy) का प्रतिपादन किया।

चीन में भी क्रान्ति हुई वह भी मार्क्स की भविष्यवाणी के विरुद्ध हुई। मार्क्स का कथन था कि क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के द्वारा होगी, किन्तु चीन में क्रान्ति किसानों के द्वारा हुई। माओ का विचार है कि यह क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति न होकर पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति (Bourgeois democratic revolution)

है। इस क्रान्ति द्वारा सामन्तवाद पराशायी हुआ न कि पूँजीवाद। लेनिन की भविष्यवाणी भी असत्य सिद्ध हुई कि अविकसित सामन्तवादी अथवा पूँजीवादी राष्ट्र में पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति को समाजवादी क्रान्ति में परिणत किया जा सकता है किन्तु चीन में ऐसा नहीं हुआ।

माओ ने मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को चीन की परिस्थिति के अनुरूप ही स्वरूपित किया है। सामन्तवाद पूँजीवाद और साम्राज्यवाद पर प्रहारों का क्रम प्रबलतम रहा है। चीन में कानून द्वारा सोवियट रूस जैसी सामूहिक फार्म (Collecture farms) व्यवस्था को लागू नहीं किया गया है। वहाँ बोत भी भूमि पर किसानों को स्वामित्व दिया गया है। किसी भी व्यक्ति का भूमि पर एकाधिकार तब तक अवैध है जब तक कि वह स्वयमेव भूमि को नहीं जोतता हो। परिणामतः मध्यम वर्ग विलुप्त हो गया है। ग्रामीण और शहरी सर्वहारा का विभेद चीन में स्पष्ट है। अतः अधिकांश विचारकों की धारणा है कि चीन का साम्यवाद ग्रामीण सर्वहारा-वर्ग का साम्यवाद है।

यद्यपि माओ ने अपने विरोधियों के उन्मूलनार्थ कठोर दमनकारी नीति का अवलम्बन किया है, किन्तु उसका वैशिष्ट्य साम्यवाद के शत्रुओं के विनाश की अपेक्षा उन्हें शिक्षा देने में रहा है। साम्यवादी दल में कृषकों तथा शहरी सर्वहारावर्ग के अतिरिक्त राष्ट्र-प्रेमी और मध्यम वर्गीय व्यक्तियों को लेने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं किया गया। यह वर्ग-सहयोग का अनुपम उदाहरण है। सर्वहारा-वर्ग के प्रभुत्वपूर्ण विचार को वर्ग-सहयोग की दिशा में संयोजित करने का सत्प्रयत्न है।

माओ अपनी आस्था हीगेल और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'अन्तर्विरोध के सिद्धान्त' में प्रकट करता है। उसका यह भी विश्वास है कि विचार पदार्थ द्वारा निरूपित होते हैं। वह यह भी मानता है कि समाजवादी और पूँजीवादी दोनों शासन-पद्धतियों में अन्तर्विरोध (Inner contradiction) है और इन दोनों के अन्तर्विरोधों में एक मूलभूत अन्तर है। माओ के विचार में पूँजीवाद में जो अन्तर्विरोध है उसका अन्त तो केवल युद्ध और हिंसक क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है, किन्तु समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को शान्तिपूर्वक समाप्त किया जा सकता है।

चीन में अभी पूँजीवाद जीवित है क्यों कि पूँजीपतियों को सरकार उनकी पूँजी पर निर्धारित सूद देती है। यहाँ अभी चीनी क्रान्ति के शत्रुओं को भी अल्प-

तत्त्व है वह जड़ (matter) है, न कि चेतन। मार्क्स प्रत्यक्षवादी था। उसके लिए प्रतिदिन के अनुभव का संसार ही सच्चा संसार है। आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन न होने के कारण उसका कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा या मन अथवा मस्तिष्क की उत्पत्ति भौतिक शरीर से हुई है। यह भौतिक पदार्थ ही अन्तिम एवं सत्य है। अतः मार्क्स नितान्त भौतिकवादी था। उसने जीवन के आध्यात्मपक्ष की सर्वथा उपेक्षा कर दी। अध्यात्मवादी जगत् के जो मूल में तत्त्व हैं वे उसे चेतन मानते हैं, न कि जड़। गांधीजी भी उस मूलतत्त्व को चेतन मानते थे। उनकी दृष्टि में, यह जड़ सृष्टि भी उसी चैतन्य का परिणाम है और उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इस चेतन में आस्था रखे बिना जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। जिनकी इसमें निष्ठा नहीं है वे समुद्र से अलग आ पड़नेवाली उस बूंद के समान हैं जिसका विनाश होकर ही रहता है। निःसन्देह हम जीवन को एकमात्र भौतिकवादी परिप्रेक्ष्य से नहीं देख सकते। इसका आध्यात्मिक पहलू भी है। आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा कर जीवन का समुचित विकास नहीं हो सकता। किन्तु मार्क्स को हम अमानवतावादी नहीं कह सकते। वह उच्चकोटि का मानवतावादी था। उसकी चिन्तनधारा का विषय मानव था। उसने इस संकट-स्थिति में घोर आर्थिक कष्ट सहते हुए भी एक क्षण के लिए भी मानव समाज की सेवा के लक्ष्य को नहीं छोड़ा। उसकी खाल इतनी मोटी नहीं थी कि वह मानव-समाज के कष्टों की ओर अपनी पीठ मोड़ लेता। इञ्जेल्स ने मार्क्स के सम्बन्ध में कहा था कि उसका हृदय इतना विशाल एवं सुकोमल था कि अपनों की अपेक्षा मानव-समाज के साधारण-से-साधारण कष्ट भी उसको अधिक प्रभावित करते थे। वस्तुतः मार्क्स ने सर्वहारावर्ग के लिए प्रतिदिन के भोजन की अपेक्षा शौर्य, आत्मविश्वास स्वाभिमान और स्वातंत्र्य की कहीं अधिक आवश्यकता पर बल दिया था। योहा अन्देस्सर्ग ने अपने एक पत्र में फॉन मेहरिंग को लिखा था कि समाजवाद केवल रोटी-मक्खन का ही प्रश्न नहीं है किन्तु एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। इस सांस्कृतिक आन्दोलन का आधार मानव है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, "जो सिद्धान्त, वाद या विचार,—चाहे वह कोई धर्म हो या दर्शन या अर्थशास्त्र, मानव के उत्कर्ष को घटाता है, वह मार्क्स को मान्य नहीं है।'

(२) आलोचकों का कथन है कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या इतिहास की भौतिक व्याख्या अधूरी है। उसने सैकड़ों—हजारों वर्षों के मानव इतिहास में से दस पांच उपयोगी घटनाओं को उद्धृत करके अपने सिद्धान्त का

नहीं किया गया है, क्योंकि च्यांग काई शेक का अभी भी ताइवान पर एकाधिकार है और साम्यवादी चीन के लिए यह सिरदर्द बना हुआ है। कुछ भी हो, यह तथ्य नजरन्दाज नहीं किया जा सकता है कि चीन ने पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा जो देश का विकास किया है वह स्तुत्य एवं प्रशस्तिपूर्ण है। फिर भी चीन के सम्मुख आज जो सर्वाधिक जटिल समस्या है वह मुझे मार्क्सवादियों का रोचक प्रश्न है। माओ इसका समाधान कर लेगा, उस जैसे बुद्धिवादी नेता से ऐसी आशा करना स्वाभाविक है। चीन का भविष्य उज्ज्वल है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु उसकी प्रसारवादी नीति जो भारत, बर्मा, नेपाल, पाकिस्तान और अन्य पड़ोसी राष्ट्रों के लिए सिर दर्द बनी है, क्या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का औचित्य सिद्ध करती है? ऐसा प्रतिध्वनित होता है कि चीन क्रान्ति की दीप-शिखा को प्रज्वलित बनाए रखना चाहता है। किन्तु भारत, बर्मा और लंका, जो समाजवाद की राह पर हैं, उन्हें पूँजीवादी और साम्राज्यवादी घोषित करना बौद्धिक दिवालियेपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चीन को इन नवोदित समाजवादी राष्ट्रों के साथ धौंसपट्टी और छापामार नीति का परित्याग कर मधुर सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। गांधी का यह देश झुका नहीं और न झुकेगा। क्रान्ति की लहरों से इसने खेला भी है, उन्हें बचपन से लेकर सुलाया, पढ़ाया और दुलारा है। इसके इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ इसकी गौरव-गाथा है। कुशलता से योजनाओं के प्रांगण में निश्चयात्मक यह भारत देश चीन के बुद्धि-विभ्रम का निराकरण करने में पूर्णतः समर्थ है। चीन की यह छेड़-छाड़ उसके लिए आत्मघाती सिद्ध होगी।

साम्यवाद की आलोचना

जैसे-जैसे मार्क्स के विचारों का प्रचार एवं प्रसार होता जाता है, वैसे-वैसे ही उसके आलोचकों की संख्या बढ़ती जाती है। देखने में यह अजीब-सी बात लगती है, किन्तु वस्तुस्थिति यही है। साम्यवाद का भय आज पूँजीवादी राष्ट्रों को उत्पीड़ित किए है और इनके बजट का अधिकांश भाग आज साम्यवाद के प्रभाव-क्षेत्र को परिमित करने में व्यय होता है। किन्तु इनके प्रयत्नों के बावजूद साम्यवाद एक युगीन विचारधारा हो गयी है जिसकी सीमाएँ विस्तृत होती ही जाती हैं। मार्क्सवाद के इतने आलोचक हैं कि उन सभी के विचारों को संकलित करना भी सम्भव नहीं है। फिर भी, मार्क्सवाद की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है —

(१) मार्क्स पूर्णतः भौतिकवादी था। उसके मत में जो जगत् के मूल में

तत्त्व है वह जड़ (matter) है, न कि चेतन। मार्क्स प्रत्यक्षदर्शी था। उसके लिए प्रतिदिन के अनुभव का संसार ही सच्चा संसार है। आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन न होने के कारण उसका कोई महत्त्व नहीं है। आत्मा या मन अथवा मस्तिष्क की उत्पत्ति भौतिक शरीर से हुई है। यह भौतिक पदार्थ ही अन्तिम एवं सत्य है। अतः मार्क्स नितान्त भौतिकवादी था। उसने जीवन के अध्यात्मपक्ष की सर्वथा उपेक्षा कर दी। अध्यात्मवादी जगत् के जो मूल में तत्त्व हैं वे उसे चेतन मानते हैं, न कि जड़। गांधीजी भी उस मूलतत्त्व को चेतन मानते थे। उनकी दृष्टि में, यह जड़ सृष्टि भी उसी चैतन्य का परिणाम है और उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इस चेतन में आस्था रखे बिना जीवन का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हो सकता। जिनकी इसमें निष्ठा नहीं है वे समुद्र से अलग जा पड़नेवाली उस बूँद के समान हैं जिसका विनाश होकर ही रहता है। निःसन्देह हम जीवन को एकमात्र भौतिकवादी परिप्रेक्ष्य से ही नहीं देख सकते। इसका आध्यात्मिक पहलू भी है। आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा कर जीवन का समुचित विकास नहीं हो सकता। किन्तु मार्क्स को हम अमानवतावादी नहीं कह सकते। वह उच्चकोटि का मानवतावादी था। उसकी चिन्तनधारा का विषय मानव था। उसने इस साधन-सिद्धि में घोर आर्थिक कष्ट सहते हुए भी एक क्षण के लिए भी मानव समाज की सेवा के लक्ष्य को नहीं छोड़ा। उसकी खाल इतनी मोटी नहीं थी कि वह मानव-समाज के कष्टों की ओर अपनी पीठ मोड़ लेता। हुक ने मार्क्स के सम्बन्ध में कहा था कि उसका हृदय इतना विशाल एवं सुकोमल था कि अन्यों की अपेक्षा मानव-समाज के साधारण-से-साधारण कष्ट भी उसको अधिक प्रभावित करते थे। वस्तुतः मार्क्स ने सर्वहारावर्ग के लिए प्रतिदिन के भोजन की अपेक्षा शौर्य, आत्मविश्वास, स्वाभिमान और स्वातंत्र्य की कहीं अधिक आवश्यकता पर बल दिया था। ऐंजेल्स ने अपने एक पत्र में फ्रेंच मेहरिंग को लिखा था कि समाजवाद केवल रोटी-मक्खन का ही प्रश्न नहीं है किन्तु एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। इस सांस्कृतिक आन्दोलन का आधार मानव है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, "जो सिद्धान्त, वाद या विचार,—चाहे वह कोई धर्म हो या दर्शन या अर्थशास्त्र, मानव के उत्कर्ष को घटाता है, वह मार्क्स को मान्य नहीं है।'

(२) आलोचकों का कथन है कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या इतिहास की भौतिक व्याख्या अपूर्ण है। उसने सैकड़ों—हजारों वर्षों के मानव इतिहास में से दस पाँच उपयोगी घटनाओं को उद्धृत करके अपने सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया था। मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के पिष्टपेषण हेतु मानव-इतिहास को चार कालों में विभाजित कर दिया जो वांछनीय नहीं था। वस्तुतः मार्क्स द्वारा उद्धृत घटनाएँ किसी सिद्धान्त के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मार्क्स ने, इतिहास निर्माण में, जिन अन्य तत्वों ने अपेक्षाकृत आर्थिक तत्व के भाग लिया है, उनकी पूर्णतः उपेक्षा कर दी। उसने मानव-गतिविधियों को प्रभावित करनेवाले अन्य तत्वों—जैसे, मानवीय मनोविकार एवं भाव तथा धर्म आदि तत्वों को कोई महत्व नहीं दिया। बरट्राण्ड रसेल का कहना है, 'हमारे राजनीतिक जीवन में बड़ी घटनाएँ भौतिक दशाओं एवं मानवीय मनोविकारों की अन्योन्य क्रियाओं द्वारा निर्धारित होती हैं।" लास्की ने भी कहा था कि एक आर्थिक आधार पर ही निर्भर करना समस्त व्यवस्था को मूलतः मिथ्या सिद्ध करता है। उसने यह भी कहा था कि हम वर्तमान राष्ट्रवाद की आर्थिक आधार पर विवेचना नहीं कर सकते। क्रिगोरोर लायड के शब्दों में "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या रोम का अधःपतन या हमारे आधुनिक विश्व-युद्धों के प्रारम्भ को नहीं बताती।" इस प्रकार इतिहास में अन्य बहुत से ऐसे तत्व हैं जिन्होंने ऐतिहासिक प्रगति के मार्ग को प्रशस्त किया है, जैसे यश और शक्ति की पिपासा, जातीय पक्षपात, धार्मिक महत्वाकांक्षाएँ, यौन सम्बन्ध, वैज्ञानिक उत्सुकता और महान् व्यक्तित्व आदि। निःसन्देह इतिहास की धारा को मोड़ने का श्रेय केवल आर्थिक तत्व को ही नहीं है, वरन् अन्य तत्वों को भी है। किन्तु मार्क्स ने विचारों के महत्व को मानने से इन्कार नहीं किया था। उसने प्रधानता अवश्य आर्थिक तत्व को दी थी। भौतिकवाद की व्याख्या में हम इस पर प्रकाश डाल चुके हैं।

(२) सम्भवतः मार्क्स के वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त की जितनी आलोचना हुई है उतनी उसके किसी अन्य सिद्धान्त की नहीं हुई है। आलोचकों का कथन है कि यह एक विषपूर्ण घृणात्मक एवं निकृष्ट सिद्धान्त है। यह बन्धुत्व, प्रेम तथा सहानुभूति के स्थान पर वर्ग-विद्वेष एवं घृणा को फैलाता है। रैम्जे मैकडानल्ड का कथन है कि मार्क्स जानता था कि यूरोप में सर्वहारा-वर्ग का कोई भी आन्दोलन बिना किसी आवेश (Passion) के नहीं चलाया जा सकता था। श्रमिकों को अपने शत्रु की अनुभूति करनी थी। उन्हें एक वर्ग की भांति संगठित बनना था। वर्ग-युद्ध का विचार जो समाजवाद को सङ्गठित करनेवाली और प्रारम्भिक समाजवादी आन्दोलन को चलानेवाली प्रधान शक्तियों को स्पष्ट नहीं करता। हर्नशा के विचार में, वर्ग-संघर्ष त्रुटिपूर्ण ही नहीं, अपितु भयंकर है। यह एक त्रुटिपूर्ण सिद्धान्त तथा घातक है, यह एक अकारण और प्रलयंकर युद्ध की

पुकार है। यह उस दशा की ओर इंगित करता है जिसमें साम्यवादी कल्पित सिद्धान्त एक क्रियात्मक एवं क्रान्तिकारी राजनीतिक में परिणत हो जाता है।

आलोचकों का कहना है कि वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त तथ्यहीन है। जब यह सिद्धान्त मानव-इतिहास की वास्तविक धारा का विवेचन करता है तो यह निरर्थक हो जाता है। फिर यह बताना बड़ा कठिन है कि संसार में किसी भी देश के इतिहास के किसी भी काल में अमुक समय शक्ति-सम्पन्न एवं शक्ति विहीन वर्गों के बीच एक स्पष्ट विभाजन था। वस्तुतः वर्गों का इतिहास अपेक्षाकृत विश्लेषणात्मक होने के संश्लेषणात्मक अधिक रहा है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक बड़ा वर्ग अन्य अनेक छोटे-छोटे उपवर्गों में भी विभक्त रहा है। आलोचकों का मत है कि समाज में वर्गीकरण तो है, किन्तु वह आर्थिक ही नहीं है। आर्थिक वर्गीकरण के साथ-साथ राजनीतिक, धार्मिक तथा भौगोलिक आदि वर्गीकरण भी हैं, जिनके कारण शोषक एवं शोषित वर्गों का कोई महत्व नहीं रह जाता। इसके अलावा वर्गों में स्थिरता और अपरिवर्तनशीलता भी नहीं है। उनमें निरन्तर गतिशीलता है। एक वर्ग का दूसरे में सतत विलोप होता रहता है।

किन्तु ये उपर्युक्त आलोचनाएँ तर्कसंगत एवं तथ्यपूर्ण नहीं हैं। मार्क्स वर्ग विद्वेष का जन्मदाता नहीं था और न वह घृणा का प्रचारक ही था। उससे पूर्व, उसके समय में और उसके बाद समाज में शान्ति कायम नहीं थी। वह तो शान्ति का अनन्यतम प्रेमी था और अन्ततः में उसकी पूर्ण निष्ठा थी। वह मानवतावादी था और मानव को शोषण की प्रक्रिया, जिसका वह शिकार है, उससे विमुक्त करना चाहता था। आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था, "वर्ग-युद्ध समाजवादियों का पैदा किया हुआ नहीं है। वह तो समाज में हमेशा चलता रहता है और उसी समय से चलता आया है जब से वर्गों की उत्पत्ति हुई। वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक-प्रगति का आधार रहता है। समाजवादी लोग वर्ग-संघर्ष पैदा नहीं करते और न वे उसको पसन्द ही करते हैं। उनका उद्देश्य तो जैसा कि हम कह चुके हैं, समाज का ऐसा संगठन करना है जिसमें परस्पर विरोधी वर्गों और उनमें निरन्तर चलनेवाले वर्ग-संघर्ष का अन्त हो जाय। "समाजवादियों को बाध्य होकर वर्ग-संघर्ष को अपनाना पड़ता है। वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही समाज की उन्नति होती आयी है, समाजवादी इस कठोर सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में जब कि समाज में वर्ग-संघर्ष चल रहा है तब तो हमारे लिए केवल यही रास्ता बच रहता है कि हम यह चुन लें कि हमें शोषक और शोषित इन दोनों वर्गों में से

मशीन, कोयला, भाप और संगठनात्मक क्षमता भी पूँजी पैदा करने में बड़ा महत्त्व रखती हैं। एंजिल्स ने भी कहा था, "मशीन की परिपूर्णता (perfecting) मानवीय श्रम-शक्ति को अनावश्यक बना रही है।" मेक्स बीर (Max Beer) कहता है, "इस विचार को अस्वीकार करना असम्भव है कि मार्क्स के मूल्य का सिद्धान्त एक आर्थिक सत्य की अपेक्षा एक राजनीतिक एवं सामाजिक नारे का अधिक महत्त्व रखता है।" इसके अतिरिक्त, 'जहाँ तक आर्थिक सिद्धान्त का प्रश्न है मार्क्स प्रकटतः एक आत्मोत्सवकारी है।

(५) मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद का उत्तरोत्तर विकास पूँजीपति और सर्वहारा को दो विरोधी वर्गों में बाँट देगा और मध्यमवर्ग विलुप्त हो जायगा। किन्तु मार्क्स का यह विचार असत्य सिद्ध हुआ। आज पश्चिमी यूरोप में मध्यम वर्ग के निर्मूल होने की अपेक्षा उसका विस्तार हो रहा है। इसके अलावा जो मैनेजर तथा निपुण प्रौद्योगिक परामर्शदाताओं के वर्ग का प्रादुर्भाव हो रहा है, मार्क्स ने इसकी कभी कल्पना भी नहीं की होगी। मार्क्स की अतिरिक्त मूल्य की धारणा भी मिथ्या सिद्ध हुई है। उसने कहा था कि श्रमिकों की दशा दिनों-दिन दयनीय होती जायगी किन्तु ऐसा नहीं हुआ। आज यूरोप में श्रमिकों की स्थिति में सुधार हो रहा है। मार्क्स ने यह भी घोषित किया था कि अन्तर्विरोधों के कारण पूँजीवाद में आर्थिक उत्पादन के संकट यदा-कदा आते रहेंगे, ये संकट क्रमशः गम्भीरतम होते जायेंगे और पूँजीवाद के पास इन संकटों से विमुक्ति पाने का अन्य कोई विकल्प नहीं रहेगा। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ। पूँजीपतियों ने इन संकटों से बचने के लिए अपने संगठन, ट्रस्टों और दूरदर्शी योजनाओं का निर्माण कर तथा बाजारों का विस्तार एवं साधनों का आविष्कार कर उनके सम्भाव्य को शिथिल कर दिया है।

जिसका साथ देता है।" इसके अतिरिक्त, "समाजवादी मजदूरों में अपनेवाली प्रतिस्पर्धा और घृणा को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। बेकारी और गरीबी के इस युग में हर मजदूर दूसरे को बीज रूप में (potentially) प्रतिद्वन्द्वी समझ कर उससे घृणा करता है, किन्तु समाजवाद मजदूरों को यह बतलाता है कि वे आपस में सहयोग करके और संगठित होकर ही शोषण-रहित समाज की रचना कर सकते हैं।" जब एक मजदूर अपने मालिक से मजदूरी के लिए झगड़ता है तब वह उसे घृणा की दृष्टि से देखता है, लेकिन समाजवादी मजदूर को बतलाता है कि अगर मजदूर को उचित मजदूरी नहीं मिलती तो इसमें दोष व्यक्तिगत रूप से खास मालिक का नहीं है, बल्कि उस पूँजीवादी प्रणाली का है, जिसने उत्पादन के साधनों को मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में दे दिया है।" इस प्रकार "व्यक्तिगत घृणा को दूर करने के लिए समाजवादियों को श्रेय मिलना चाहिए। समाज में प्रचलित शोषण-सम्बन्ध के प्रति समाजवादी जरूर घृणा पैदा करता है और उसे वह उचित समझता है, क्योंकि वर्तमान दुर्दशा के प्रति घृणा उत्पन्न करके ही हम व्यक्ति के मन में उस दुर्दशा के प्रति विद्रोह पैदा कर सकते हैं।"[1]

(४) आलोचकों ने मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की भी कटु आलोचना की है। उनके मतानुसार मूल्य-सिद्धान्त में माँग के तथ्य की उपेक्षा की गई है। मूल्य एक मनोवैज्ञानिक घटना है जो कि एक वस्तु में न मिल कर मस्तिष्क की आकांक्षा में मिलता है। यह कहना भी नितान्त भ्रान्ति है कि उत्पादन में केवल सक्रिय आवश्यक तत्व श्रम ही है या श्रमिक की मजदूरी ही एकमात्र उचित तत्व है जो कि उत्पादन की लागत को निर्धारित करता है। श्रम-शक्ति के अतिरिक्त एक वस्तु के मूल्य-निर्धारण में भूमि, पूँजी और संगठन का भी हाथ होता है। सिमकोविच (Simckhovitch) का कथन है कि, "बहुत कम ऐसे सिद्धान्त हैं जिनका भलीभाँति परीक्षण हुआ है, जिनकी इतने पूरे ढंग से सूक्ष्म परीक्षा हुई हो या इतनी पूर्णता से अपने स्वयं के निश्चित प्रमाणों के आधार पर खंडित हो गये हों जैसे कि मार्क्स का मूल्य-सिद्धान्त।" वस्तुतः एक वस्तु के उत्पादन में या मूल्य बनाने में पूँजी और श्रम-शक्ति दोनों की ही आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक युग में श्रम-शक्ति ही एकमात्र ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्व नहीं है, वरन् उसके साथ दक्षता, अध्यवसाय, उद्योग क्षमता

1. आचार्य नरेन्द्रदेव—राष्ट्रीयता और समाजवाद।

मशीन, कोयला, भाप और संगठनात्मक क्षमता भी पूँजी पैदा करने में बड़ा महत्व रखते हैं। एंगिल्स ने भी कहा था, 'मशीन की परिपूर्णता (perfecting) मानवीय श्रम-शक्ति को अनावश्यक बना रही है।' मेक्स बीर (Max Beer) कहता है, "इस विचार को अस्वीकार करना असम्भव है कि मार्क्स के मूल्य का सिद्धान्त एक आर्थिक सत्य की अपेक्षा एक राजनीतिक एवं सामाजिक नारे का अधिक महत्व रखता है।" इसके अतिरिक्त, "जहाँ तक आर्थिक सिद्धान्त का प्रश्न है मार्क्स प्रमुखतः एक आन्दोलनकारी है।"

(२) मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवाद का उत्तरोत्तर विकास पूँजीपति और सर्वहारा को दो विरोधी वर्गों में बाँट देगा और मध्यमवर्ग विलुप्त हो जायगा। किन्तु मार्क्स का यह विचार असत्य सिद्ध हुआ। आज पश्चिमी यूरोप में मध्यम वर्ग के निर्मूल होने की अपेक्षा उसका विस्तार हो रहा है। इसके अलावा जो मैनेजर तथा निपुण औद्योगिक परामर्शदाताओं के वर्ग का प्रादुर्भाव हो रहा है, मार्क्स ने इसकी कभी कल्पना भी नहीं की होगी। मार्क्स की अतिरिक्त मूल्य की धारणा भी मिथ्या सिद्ध हुई है। उसने कहा था कि श्रमिकों की दशा दिनों-दिन दयनीय होती जायगी किन्तु ऐसा नहीं हुआ। आज यूरोप में श्रमिकों की स्थिति में सुधार हो रहा है। मार्क्स ने यह भी घोषित किया था कि अन्तर्विरोधों के कारण पूँजीवाद में आर्थिक उत्पादन के संकट यदा-कदा आते रहेंगे, ये संकट क्रमशः गम्भीरतम होते जायेंगे और पूँजीवाद के पास इन संकटों से विमुक्ति पाने का अन्य कोई विकल्प नहीं रहेगा। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ। पूँजीपतियों ने इन संकटों से बचने के लिए अपने संगठन, ट्रस्टों और दूरदर्शी योजनाओं का निर्माण कर तथा बाजारों का विस्तार एवं साधनों का आविष्कार कर उनके सम्भाव्य को शिथिल कर दिया है।

—•—

४

अराजकतावाद (Anarchism)

अराजकतावाद शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द अनारकिया (Anarchia) से हुई है जिसका अर्थ अराजकता होता है। अराजकतावाद का अर्थ जैसा कि सर्वसाधारण की दृष्टि में मारकाट, हत्याकाण्ड और लूटपाट होता है वस्तुतः वैसा नहीं है। क्रोपॉटकिन के मत में, अराजकतावाद का अर्थ अव्यवस्था नहीं है। इससे अभिप्राय राज्य और उसके द्वारा संचालित एवं पोषित विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों के प्रति शत्रुता से है। अराजकतावाद जीवन और आचरण का एक सिद्धान्त अथवा वाद है, जिसके अन्तर्गत राज्य विहीन समाज की कल्पना की जाती है। ऐसे समाज में सामंजस्य स्थापित किसी कानून के पालन या किसी सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता से न होकर विविध प्रादेशिक व व्यावसायिक समुदायों द्वारा स्वेच्छापूर्वक एवं स्वतंत्र समझौतों द्वारा किया जायेगा जो कि स्वतंत्रतापूर्वक निर्मित होंगे और जिन्हें ये समुदाय आर्थिक उत्पादन व उपभोग के लिए और सभ्य मानव की विविध अनन्त आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किया करेंगे। राजनीतिक सत्ता चाहे उसका रूप एकतंत्रीय, अल्पतंत्रीय और जनतंत्रीय ही क्यों न हो, अनावश्यक और अवांछनीय है। अराजकतावादी वैयक्तिक सम्पत्ति संस्था तथा संगठित धार्मिक संस्था के भी विरोधी हैं। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति को स्वेच्छानुसार किसी भी ऐच्छिक संघ अथवा संगठन में जो कि भाव इच्छानुसार निर्मित होंगे, सम्मिलित होने एवं छोड़ने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। ऐसी व्यवस्था में सेना न्यायालय कारागार, दमन और सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से सामाजिक नियमों का पालन करेगा।

अराजकतावाद का इतिहास

अराजकतावादी उद्देश्य की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) व्यक्तिवादी और (२) समाजवादी। यद्यपि दोनों राज्य को समाप्त करना चाहते हैं, किन्तु सम्पत्ति पर अधिकार के सम्बन्ध में मतभेद है। व्यक्तिवादी

सम्पत्ति को प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत रखना चाहते हैं जबकि समाजवादी ऐच्छिक संघों के अन्तर्गत रखने के पक्ष में हैं। साधन की दृष्टि से भी अराजकतावादी दो मार्गों में बंटे जा सकते हैं—(१) क्रान्तिकारी (२) शान्तिवादी। प्रथम के अन्तर्गत बैकुनिन और क्राप्टकिन आते हैं, जबकि द्वितीय में टाल्सटाय आदि। अराजकतावाद कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। प्राचीनकाल से ही सार्वभौमता के सामाजिक तथा नैतिक औचित्य के सम्बन्ध में संदिग्धता रही है। चीनी और यूनानी दार्शनिकों ने अराजकतावादी विचार प्रकट किये थे। च्वांग्त्सु (Chuangtzo) का मत था कि एक व्यक्ति का अन्य सभी व्यक्तियों पर शासन मानव स्वभाव के प्रतिकूल है। इसी प्रकार यूनान के कुछ स्टोइकों (Stoics) ने सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति राज्य में न होकर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में सम्भव बतायी, जहां मानव अपनी सामाजिक और न्यायिक प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अनुरूप स्वच्छन्दता से कार्य कर सके। मध्ययुग में भी ईसाई धर्म की महत्ता पर बल दिया गया और राज्य के नियंत्रण का अनौचित्य सिद्ध किया गया। आधुनिक अराजकतावादी भी यूनान के स्टोइकों से प्रेरणा लेते हैं और राज्य की सफल मानव-जीवन के लिए, कोई आवश्यकता नहीं समझते। वे बिना शक्ति प्रयोग के नवीन समाज का निर्माण करना चाहते हैं।

विलियम गॉडविन (William Godwin)

(१७५६-१८३६)

आधुनिक अराजकतावाद का सर्वप्रथम प्रतिपादक गॉडविन था। यह एक पादरी का पुत्र था और इसने भी इसी पेशे को अपनाया। यह उच्चकोटि का राजनीतिक विचारक ही नहीं अपितु एक सुन्दर लेखक भी था। यह उपन्यासकार, नाटककार तथा बाल-साहित्य पर अनेक कथाओं का रचयिता था। सामाजिक सिद्धान्त के विभिन्न ग्रन्थों की उसने रचना की। १७९३ में उसने 'राजनीतिक न्याय' नामक पुस्तक लिखी। इस ग्रन्थ में उसने स्वतंत्रता समता और बन्धुत्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला। गॉडविन सार्वभौमता का विरोधी होने के साथ-साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी विरोधी था। उसका विश्वास था कि समाज में आर्थिक परिस्थितियों की असमानता ही व्यक्तियों को बेईमान और पथभ्रष्ट बनाती है। गॉडविन ने एक ऐसे आदर्श समाज को बसाना चाहा जो कि राज्य-विहीन होगा और जिसमें व्यक्तियों को आत्म प्रकाशन की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। किन्तु गॉडविन कुछ काल तक राज्य की आवश्यकता अनुभव करता था। पर उसका विश्वास

पूर्ण अराजकतावादी नहीं था और न उसने इसे अराजकतावाद की संज्ञा से ही विभूषित किया।

पियरे जोज़ेफ प्रूधों (Pierre Joseph Prodhon)

(१८०६-१८६५)

प्रूधों सर्वप्रथम विचारक था जिसने अपने को अराजकतावादी घोषित किया। इसका पिता बड़ा निर्धन था और पीप बनाने का काम करता था। अतः इसकी शिक्षा बड़ी कठिनाई से सम्पन्न हुई। कालेज की शिक्षा के उपरान्त प्रूधों पेरिस चला गया। वहाँ वह अनेक उग्र समाजवादियों के सम्पर्क में आया। सन् १८४८ की क्रान्ति के समय राजविद्रोहात्मक साहित्य के सृजन के कारण प्रूधों को जेल की यंत्रणाएँ भोगनी पड़ी। उसकी सर्वप्रथम रचना थी—'सम्पत्ति क्या है?' और इसी ने उत्तर दिया, 'चोरी'। यही ग्रन्थ था जिसमें प्रूधों ने अपने को 'पूर्ण अर्थ में अराजकतावादी' कहा। उसने अपने सिद्धान्त को 'स्वर्ण नियम (Golden rule) की संज्ञा प्रदान की। उसका राज्य के विरुद्ध सबसे बड़ा दोषारोपण यह था कि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली के परिणामस्वरूप ही उसका विकास हुआ है। इसी प्रणाली के द्वारा राज्य ने अन्याय का पोषण एवं संरक्षण किया है। प्रूधों वैयक्तिक सम्पत्ति के विनाश का पक्षपाती नहीं था। वह उसके शोषणात्मक स्वरूप का अन्त करना चाहता था जो कि ब्याज और मुनाफा के रूप में प्रचलित है। अतः वह वास्तविक स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए दो क्रान्तियों को आवश्यक समझता था—(१) आर्थिक और (२) राजनीतिक। प्रूधों ने 'जनता के बैंक' की एक योजना बनाई। इस योजना ने फ्रांस को ही प्रभावित नहीं किया, अपितु अमेरिका और रूस भी इससे पर्याप्त रूप में प्रभावित हुए।

माइकेल बैकुनिन (Michel Bakunin)

(१८१४-१८७६)

बैकुनिन का रूस के प्रमुख सम्भ्रान्त कुल में जन्म हुआ। इसके पिता एक कूटनीतिज्ञ थे। उसका शिक्षण सेंट पीटर्सबर्ग और मास्को के विश्वविद्यालयों में हुआ। उसने सैन्य शिक्षा प्राप्त कर सेनाधिकारियों के पद को सुशोभित किया। रूसी सैन्य एवं नागरिक प्रशासन की स्वेच्छाचारिता तथा आतंकवादी नीति ने उसे समाजवादी और अन्ततोगत्वा अराजकतावादी बनाया। बैकुनिन प्रूधों से विशेषतः प्रभावित हुआ। उसने १८४८ की फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति में प्रमुखरूप से

भाग लिया । वह १२ वर्ष तक जेलों में रहा और दो बार उसे प्राण-दण्ड भी घोषित हुआ । वह सर्वप्रथम अराजकतावादी विचारक था, जिसने हिंसा की वकालत की । वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अराजकतावादी आन्दोलन का वह जन्मदाता था । उसने अनेक पुस्तकों की रचना की । उसकी लेखन-शैली बड़ी ओजपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक थी । वह बड़ा साहसी सहनशील और अध्यवसायी था । उसमें गुप्त षड्यंत्रों के निर्देशन की अपूर्व क्षमता थी । १८६४ में स्थापित प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International) के कार्ल मार्क्स, बैकुनिन और एंजिल्स उच्चकोटि के विचारक थे । किन्तु बैकुनिन का मार्क्स के साथ मतभेद राज्य की अस्तित्व-सम्बन्धी धारणा के कारण हुआ और फलतः १८७२ में वह अपने अनुयायियों सहित उससे अलग हो गया ।

बैकुनिन ने सार्वभौमता, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म की कटु आलोचना की थी । इन संस्थाओं का निर्माण मानव विकास की आदिम अवस्था में हुआ । व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव की भौतिक वस्तुओं के प्रति रुचि पैदा करती है । राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति का पोषण करता है । धर्म व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं राज्य दोनों का संरक्षक है और व्यक्ति को भयभीत रखता है । बैकुनिन ने जनतांत्रिक आधार पर निर्मित सभी राजनीतिक संस्थाओं को अस्वीकार किया । उसकी दृष्टि में राज्य नैतिक दृष्टि से शासक एवं शासित दोनों के लिए अनिष्टकारी है, क्योंकि वह शक्ति का प्रयोग करता है । राजनीतिक तथा मानवीय भावनाओं को विनष्ट करती है और वर्ग-विशेष को जागृत करती है । शासनाधिकारी सर्वोपरिता की भावना से अभिभूत हो सहयोग और भ्रातृत्व-भाव का विस्मरण कर पदलोलुप हो जाते हैं । वे जनसमुदाय के साथ खिलवाड़ करते हैं । एक ओर अल्प संख्या में क्रूर, हिंसक और अत्याचारी शासक हैं तथा दूसरी ओर बहुसंख्यक उपेक्षित जन-साधारण । इस प्रकार राज्य वर्ग विभेद का जन्मदाता और पतनकारी है ।

व्यक्तिगत सम्पत्ति राज्य को चिरस्थायी बनाये हुए है । नाना प्रकार के दुर्गुणों की यह जननी है । असंख्य श्रमिकों को आर्थिक दासत्व में जकड़े हुए है । इनमें अज्ञान, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जड़ता का संचार करती है । किन्तु कुछ पूँजीपतियों के वैभवपूर्ण जीवन का साधन बनी हुई है । यह आर्थिक वैषम्य की जन्मदात्री है ।

धर्म एक विशिष्ट बुराई है । यह अनुचित एवं भ्रष्ट संस्थाओं का समर्थक है । धर्म और राजनीतिक विशेषाधिकारों से सुसम्पन्न व्यक्ति अपनी अनैतिक सर्वोच्चता तथा कार्यों का इसके द्वारा औचित्य सिद्ध करते हैं । धर्म व्यक्ति को

मन्दमस्त, दयालु और काल्पनिक बनाता है। यह उसकी विवेक एवं तर्क-शक्ति को पङ्गुवत् बना देता है।

किस प्रकार अराजकतावादी क्रान्ति का संगठन होगा ? इसके उत्तर में बैकुनिन का मत था कि किसी बड़े नगर अथवा राजधानी में अराजकतावादियों के ऐच्छिक संघ होंगे जो कि प्रत्येक मुहल्ले में स्थापित होंगे। नगर की एक परिषद् होगी जिसका निर्माण इन ऐच्छिक समुदायों के प्रतिनिधियों द्वारा होगा। यह परिषद् विभिन्न कार्यों के सम्पादन [illegible] विविध समितियों का निर्माण करेगी। इस परिषद् के दो प्रकार के कार्य होंगे—(१) विध्वंसात्मक कार्य और (२) प्रचार कार्य। प्रथम के अनुसार इसका कार्य सभी राजनीतिक पार्टियों एवं संस्थाओं का उन्मूलन करना और औद्योगिक एवं कृषि-सम्पत्ति का श्रमिक-समितियों में समुचित वितरण करना होगा। और एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना, जिसमें किसी भी प्रकार के दूसरे संगठन को चाहे वह सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व ही क्यों न हो, स्थापित न होने देना होगा। द्वितीय के अनुसार जनता में प्रचार कार्य जिससे कि लोग क्रान्ति के महत्व को समझ [illegible] और उसमें सक्रिय रूप से भाग ले सकें। यह प्रचार-कार्य बड़ा विशद एवं व्यापक होगा।

राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के उपरान्त, बैकुनिन के कथनानुसार समाज वर्ग एवं सत्ता विहीन होगा। ऐसी व्यवस्था में रंग, जाति और राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान नहीं होगा। सभी को समान अवसर उपलब्ध होंगे और प्रत्येक को अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक मिलेगा। ऐसे समाज की आधार शिला कानून और शक्ति की अपेक्षा समझौता और ऐच्छिक सहयोग होगी और सहकारिता व्यक्तियों की स्वेच्छा एवं आवश्यकता पर निर्भर करेगी। समस्त उत्पादन के साधन और भूमि समाज के अन्तर्गत होगी। जो व्यक्ति स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्धारित कार्य करके भूमि का उपयोग उत्पादन-हेतु करेंगे ऐसे व्यक्तियों को भूमि पर आधिपत्य और उत्पादित वस्तु में से आवश्यकतानुसार उपभोग करने की स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार ये स्थानीय संस्थाएँ मिल कर प्रादेशिक संस्थाओं का निर्माण करेंगी। उस समय व्यक्तियों के स्वतंत्र कम्यून (Common), प्रान्त राष्ट्र यूरोपीय संघ और अन्तर्राष्ट्रीय संघ होंगे। ये सभी संघ पूर्ण स्वतंत्र होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को इन संघों में सम्मिलन और सम्बन्ध-विच्छेद की पूरी आजादी होगी।

प्रिंस क्रापटकिन (Prince Kroptkin)

(१८४२–१९२१)

क्रापटकिन का जन्म रूस के एक कुलीन परिवार में हुआ। सैन्य शिक्षा के उपरान्त उसकी सेनाधिकारी के पद पर नियुक्ति हुई। क्रापटकिन बैकुनिन का शिष्य था। १८७२ में वह स्विटजरलैण्ड गया और वहीं अराजकतावादी हो गया। उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की जो बड़े सजीव और स्पष्ट तथा वैज्ञानिक हैं। क्रापटकिन को मानव भूगोल और जीव-विज्ञान का बड़ा विशद ज्ञान था। उसके मत में, मानव-जीवन के विकास का प्रमुख आधार सहकारिता है, न कि संघर्ष। जिन जीवों में प्रतियोगिता के गुणों का आधिक्य होता है, वे अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जाते हैं किन्तु जिनमें सहयोगी भावना का प्राबल्य और अपने को तदनुकूल वातावरण में ढालने की क्षमता होती है, वे ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार क्रापटकिन जीवन विकास के नियम को मूलतः पारस्परिक सहयोग का नियम मानता था।

उसकी दृष्टि में राज्य का न तो कोई प्राकृतिक औचित्य है और न ऐतिहासिक ही। राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण यह बताना कि व्यक्ति की असामाजिक एवं प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियाँ हैं और इसी कारण नियंत्रण और दबाव की आवश्यकता है जिससे कि समाज का अस्तित्व बना रहे, नितान्त असत्य और तर्कहीन है। वस्तुतः राज्य का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से चिरकाल बाद हुआ है। मनुष्य युगों तक स्वच्छन्दता से रहा है। यह अवस्था अविवाद एवं सार्वभौमता-विहीन थी। समाज में ऐक्य और पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन नैसर्गिक आदतों और रिवाजों के द्वारा होता था। उन दिनों ये रिवाज ही कानून थे। प्रचलित कानूनों की उत्पत्ति तब हुई जबकि समाज आर्थिक वैषम्य के कारण वर्गों में विभक्त हो गया। ये कानून या तो अनावश्यक हैं या हानिप्रद। क्रापटकिन ने इन कानूनों को तीन भागों में विभक्त किया था—(१) सम्पत्ति की रक्षा के लिए, (२) व्यक्ति की रक्षा के लिए और (३) सरकार की रक्षा के लिए। सम्पत्ति-रक्षा के कानून व्यक्ति द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपभोग का अधिकार न देकर उन व्यक्तियों को अपहरण का अधिकार प्रदान करते हैं, जिन्होंने कोई श्रम नहीं किया। यह एक विशिष्ट अन्याय है। इस अन्याय के पोषण हेतु असंख्य कानूनों, न्यायालयों और सेनाओं का निर्माण हुआ है। व्यक्ति-रक्षा के कानून भी निरर्थक हैं, क्योंकि जब निजी सम्पत्ति का ही उन्मूलन हो जायेगा

अव्यवस्थ, दयालु और काल्पनिक बनाता है। यह उसकी विवेक एवं तर्क-शक्ति को जड़वत् बना देता है।

किस प्रकार अराजकतावादी क्रान्ति का संगठन होगा? इसके उत्तर में बैकुनिन का मत था कि किसी बड़े नगर अथवा राजधानी में अराजकतावादियों के ऐच्छिक संघ होंगे जो कि प्रत्येक मुहल्ले में स्थापित होंगे। नगर की एक परिषद् होगी जिसका निर्माण इन ऐच्छिक समुदायों के प्रतिनिधियों द्वारा होगा। यह परिषद् विभिन्न कार्यों के सम्पादन [illegible] विभिन्न समितियों का निर्माण करेगी। इस परिषद् के दो प्रकार के कार्य होंगे—(१) विध्वंसात्मक कार्य और (२) प्रचार कार्य। प्रथम के अनुसार इसका कार्य सभी राजनीतिक पार्टियों एवं संस्थाओं का उन्मूलन करना और औद्योगिक एवं कृषि-सम्पत्ति का श्रमिक-समितियों में समुचित वितरण करना होगा। और एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना, जिसमें किसी भी प्रकार के दूसरे संगठन को, चाहे वह सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व ही क्यों न करे, स्थापित न होने देना होगा। द्वितीय के अनुसार जनता में प्रचार कार्य, जिससे कि लोग क्रान्ति के महत्त्व को समझ सकें और उसमें सक्रिय भाग ले सकें। यह प्रचार-कार्य बड़ा विशद एवं व्यापक होगा।

राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के उपरान्त, बैकुनिन के मतानुसार समाज वर्ग एवं सत्ता विहीन होगा। ऐसी व्यवस्था में रंग जाति और राष्ट्रीयता के लिए कोई स्थान नहीं होगा। सभी को समान अवसर उपलब्ध होंगे और प्रत्येक को अपने श्रम का समुचित पारिश्रमिक मिलेगा। ऐसे समाज की आधार-शिला कानून और शक्ति की अपेक्षा समझौता और ऐच्छिक सहयोग होगी और सहकारिता व्यक्तियों की स्वेच्छा एवं आवश्यकता पर निर्भर करेगी। समस्त उत्पादन के साधन और भूमि समाज के अन्तर्गत होगी। जो व्यक्ति स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्धारित कार्य करके भूमि का उपयोग उत्पादन-हेतु करेंगे, ऐसे व्यक्तियों को भूमि पर आधिपत्य और उत्पादित वस्तु में से आवश्यकतानुसार उपभोग करने की स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार ये स्थानीय संस्थाएँ मिल कर प्रादेशिक संस्थाओं का निर्माण करेंगी। उस समय व्यक्तियों के स्वतंत्र कम्यून (Commune), प्रान्त, राष्ट्र यूरोपीय संघ और अन्तर्राष्ट्रीय संघ होंगे। ये सभी संघ पूर्ण स्वतंत्र होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को इन संघों में सम्मिलन और सम्बन्ध-विच्छेद की पूरी आजादी होगी।

प्रिंस क्राप्टकिन (Prince Kropikin)

(१८४२–१९२१)

क्राप्टकिन का जन्म रूस के एक कुलीन परिवार में हुआ। सैन्य-शिक्षा के उपरान्त उसकी सेनाधिकारी के पद पर नियुक्ति हुई। क्राप्टकिन बैकुनिन का शिष्य था। १८७२ में वह स्विटजरलैण्ड आया और वहीं अराजकतावादी हो गया। उसने अनेक ग्रन्थों की रचना की जो बड़े सजीव और स्पष्ट तथा वैज्ञानिक हैं। क्राप्टकिन को मानव भूगोल और जीव-विज्ञान का बड़ा विशद ज्ञान था। उसके मत में, मानव-जीवन के विकास का प्रमुख आधार सहकारिता है, न कि संघर्ष। जिन जीवों में प्रतियोगिता के गुणों का आधिक्य होता है, वे अन्ततोगत्वा विनष्ट हो जाते हैं किन्तु जिनमें सहयोगी भावना का प्राबल्य और अपने को तदनुकूल वातावरण में ढालने की क्षमता होती है, वे ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार क्राप्टकिन सावयव विकास के नियम को मूलतः पारस्परिक सहयोग का नियम मानता था।

उसकी दृष्टि में राज्य का न तो कोई प्राकृतिक औचित्य है और न ऐतिहासिक ही। राज्य की उत्पत्ति का मूल कारण यह बताना कि व्यक्ति की असामाजिक एवं प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियां हैं और इसी कारण नियंत्रण और दबाव की आवश्यकता है जिससे कि समाज का अस्तित्व बना रहे, नितान्त असत्य और तर्कहीन है। वस्तुतः राज्य का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से चिरकाल बाद हुआ है। मनुष्य युगों तक स्वच्छन्दता से रहा है। यह अवस्था प्रतिबन्ध एवं सार्वभौमता-विहीन थी। समाज में ऐक्य और पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन नैसर्गिक आदतों और रिवाजों के द्वारा होता था। उन दिनों ये रिवाज ही कानून थे। प्रचलित कानूनों की उत्पत्ति तब हुई जबकि समाज आर्थिक वैषम्य के कारण वर्गों में विभक्त हो गया। ये कानून या तो अनावश्यक हैं या हानिप्रद। क्राप्टकिन ने इन कानूनों को तीन भागों में विभक्त किया था—(१) सम्पत्ति की रक्षा के लिए, (२) व्यक्ति की रक्षा के लिए और (३) सरकार की रक्षा के लिए। सम्पत्ति-रक्षा के कानून व्यक्ति द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपभोग का अधिकार न देकर उन व्यक्तियों को अपहरण का अधिकार प्रदान करते हैं, जिन्होंने कोई श्रम नहीं किया। यह एक विशिष्ट अन्याय है। इस अन्याय के पोषण हेतु असंख्य कानूनों, न्यायालयों और सेनाओं का निर्माण हुआ है। व्यक्ति-रक्षा के कानून भी निरर्थक हैं, क्योंकि जब निजी सम्पत्ति का ही उन्मूलन हो जायेगा

तो अपराध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर दण्ड भय भी अपराध रोकने में सफलीभूत नहीं हुआ है। कभी-कभी राज्य ने अपराधी को अपराध की अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड दिये हैं। सरकार के यथार्थ कानून भी अर्थहीन हैं, क्योंकि वे विशेषाधिकार-सम्पन्न वर्ग के संरक्षक हैं। प्रत्येक शासन-प्रणाली चाहे उसका रूप राजतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय या गणतंत्रीय हो, उन विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों की ही रक्षा करती है।

राज्य व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक नहीं है। उसके द्वारा कभी किसी विशिष्ट लक्ष्य की पूर्ति नहीं हुई। वह न तो कृषकों और श्रमिकों की उनके शोषकों से रक्षा करने में और न अर्थाभाव और बेकारी से ग्रस्त लोगों की सहायता करने में समर्थ हुआ है। राज्य सुरक्षा तथा परमार्थ की दृष्टि से भी आवश्यक नहीं है। इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है जबकि नागरिक सेनाओं ने राज्य की सेनाओं को पराभूत किया है और जन-विद्रोह ने बाह्य आक्रमण को असफल सिद्ध किया है। इस प्रकार जनता स्वयं आन्तरिक एवं बाह्य संकटों से अपनी रक्षा कर सकती है। क्रोपाटकिन अत्याचारी राज्य के स्थान पर व्यक्तियों के स्वतंत्र संघों के पक्ष में था। उसका मत था कि राज्य एवं सम्पत्ति-विहीन समाज में समान विवेक, मनोवृत्ति और लक्ष्यवाले व्यक्ति पारस्परिक सहयोग से आवश्यकतानुसार समुदायों का निर्माण करेंगे। ऐसे समुदायों का संगठन विविध कार्यों के आधार पर होगा जैसे, पाठशालाओं का संचालन, गृह और सड़कों का निर्माण और औजार बनाने आदि। ये छोटे समुदाय सामाजिक और आर्थिक हितों के अनुसार बड़े संघों में मिल जायेंगे। ये छोटे संघ बड़े संघों की रचना करेंगे। व्यक्तियों को इन संघों से अलग होने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी। इस प्रकार समाज का राजनीतिक ढांचा प्रजातांत्रिक होगा। इन संघों के बीच जो झगड़े होंगे उनका निर्णय स्वेच्छापूर्वक स्थापित पंच-न्यायालयों द्वारा होगा। समाज विरोधी कार्यों को नैतिक और *सहानुभूतिपूर्ण ढंग से मिटाया जायेगा।* क्रोपाटकिन का यह दृढ़ मत था कि आज सरकारी कार्य की अपेक्षा सहकारिता की भावना प्रबल होती जा रही है। स्वेच्छापूर्वक किये गये इकरारनामे के आधार पर अधिकांश रूप में व्यापार चलता है। अनेक ऐसे संघों का निर्माण किया जाता है।

क्रोपाटकिन ने एक आर्थिक संगठन की योजना भी प्रस्तुत की थी। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, वस्त्र और गृह-प्राप्ति का पूर्ण अधिकार होगा। वेतन-प्रणाली समाप्त कर दी जायेगी, क्योंकि उत्पादन के आधार पर मूल्य-निर्धा-

रण नहीं हो सकता। अतः क्रोपटकिन 'प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार' वस्तुओं के मिलने के पक्ष में था।

क्रोपटकिन ने लक्ष्य प्राप्ति के लिए शान्ति एवं विकासवादी उपायों के स्थान पर क्रान्ति की वकालत की। उसका कथन था कि सर्वप्रथम किसी एक देश की क्रान्ति समस्त यूरोप में फैल जायेगी। इस विध्वंसात्मक क्रान्ति के द्वारा आधुनिक शासकों को पदच्युत, किले और कारागारों को समतल तथा सहानुभूति एवं सहयोगी वातावरण को पैदा किया जायेगा। तदन्तर जनता का मुख्योद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति का अपहरण करना होगा। श्रमिक और कृषक कारखानों और भूमि पर, तथा बेघरबार व्यक्ति मकानों पर आधिपत्य कर लेंगे। इस प्रकार शोषण की प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी।

टॉलस्टाय (Tolstoy)

टॉलस्टाय धार्मिक अराजकतावादी था। वह उच्चकोटि का कवी विद्वान् एवं साहित्यकार था। उसके पिता रूस के सम्भ्रान्त भूमिपति थे। विश्व विद्यालय की शिक्षा के उपरान्त टाल्सटाय ने सैनिक जीवन को अपनाया। क्रीमिया के युद्ध में वह एक सेनाधिकारी के पद पर था। उसके युद्धीय अनुभव उसकी पुस्तकों में साकार हो उठे हैं।

टॉल्सटाय का सिद्धान्त ईसाई-अराजकतावाद के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि उसने ईसाई धर्म के अनेक विचारों से असहमति व्यक्त की, किन्तु अपने व्यवहार में वह पूर्णतया ईसाई था। उसने राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति को ईसा-विरोधी बताया, क्योंकि राज्य की आधारशिला शक्ति है। शक्ति के द्वारा ही राज्य का प्रत्येक कार्य होता है। ईसा ने शक्ति के स्थान पर प्रेम पर बल दिया है। इसी प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति, जो कि वर्ग-विभेद की जन्मदात्री है, ईसा के मानव बन्धुत्व के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। टाल्सटाय ने राज्य के साथ अहिंसात्मक असहयोग करने तथा नियम के स्थान पर प्रेम भाव अपनाने पर बल दिया। उसने भावी समाज की कोई रूप-रेखा नहीं बतायी, क्योंकि उसका विश्वास था कि भावी समाज का निर्माण तत्कालीन मनुष्य तथा परिस्थितियों के अनुरूप ही होगा।

(१) अराजकतावाद और राज्य

अराजकतावादी राज्य का उन्मूलन चाहते हैं। वे उसकी कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करते, क्योंकि उसके द्वारा कभी कोई सार्वजनिक हित नहीं हुआ। इसकी उत्पत्ति व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण हुई और आज भी यह उसी का पोषक एवं संरक्षक है। यह एक वर्गीय संस्था है। वर्ग-विशेष का ही इसके द्वारा

हित हुआ है। किसान मजदूरों का पद-दलन इसी की छत्रच्छाया में और इसी के द्वारा हुआ है। अतः यह घोर शोषण का प्रतीक है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसकी कोई उपादेयता नहीं है। इसकी उत्पत्ति के पूर्व सदियों तक व्यक्ति बिना राज्य के अपने समूहों में सानन्द और स्वतंत्र रहे हैं। अतः इसके बिना आज भी वे उसी प्रकार रह सकते हैं।

राज्य निरंकुशता का प्रतीक तथा स्वतंत्रता का अपहरणकर्ता है। प्रत्येक शासन प्रणाली में वैयक्तिक स्वतंत्रता पर कुठाराघात होता है। राजतंत्र में एक व्यक्ति, कुलीनतंत्र में कुछ व्यक्ति और प्रजातंत्र में बहु व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अपहरण करते हैं।

अराजकतावादियों की दृष्टि में, सभी प्रकार के राज्य एक-से हैं, क्योंकि निरंकुशता सभी राज्यों से संश्लिष्ट है। प्रजातंत्र भी एक बड़ा प्रपंच या ढोंग है। कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। एक डाक्टर विभिन्न पेशेवाले व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कैसे कर सकता है? संसद में पेश किये जाने वाले सभी प्रस्तावों के सम्बन्ध में उसकी समुचित जानकारी नहीं हो सकती। वह नियोजन शिक्षा, कानून, सफाई, व्यवसाय और प्रशासन आदि के सम्बन्ध में नौसिखिया है। उसे अपने पेशे का बोध हो सकता है। इसी प्रकार एक वकील चिकित्सा के सम्बन्ध में अनभिज्ञ है और व्यापारी मजदूर-समस्याओं के सम्बन्ध में। अतः प्रत्येक प्रतिनिधि केवल अपने ही व्यवसाय को भलीभाँति समझ सकता है, अन्य व्यवसायों को नहीं। इस प्रकार जोड के कथनानुसार, "प्रातिनिधिक सरकार तो वह सरकार है जिसमें व्यक्ति केवल इतना ही जानते हैं कि सभी कार्य गलत ढंग से पूरे हो सकें। उन्हें किसी भी वस्तु का इतना ज्ञान नहीं है कि वे उसे समुचित ढंग से कर सकें।"[1] वास्तविकता तो यह है कि प्रातिनिधिक प्रणाली पेशेवर राजनीतिज्ञों, वकीलों और पुरोहितों की जन्मदात्री है। इन लोगों का पेशा मानव कमजोरियों को स्थायी बनाये रखना है जिससे कि उनकी जीविका समुचित रूप से चल सके। यह पेशेवर-वर्ग जन-समस्याओं को बिना सोचे-समझे गलत ढंग से उनका समाधान करता है।

---

1 "Representative Government is a Government by men who know just enough about everything to enable them to do everything badly, and not enough about anything to enable them to do anything well" (C. E. M. Joad)

यह कहना कि प्रजातंत्र में जनता की 'सामान्य इच्छा' (General Will) का प्रतिनिधित्व होता है, नितान्त भ्रान्ति है। एक प्रतिनिधि चुनावकालीन परिस्थिति के अनुसार पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित होता है। यह परिस्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती। इसमें परिवर्तन होता रहता है। इस परिस्थिति के अनुसार ही जन सामान्य इच्छा' भी परिवर्तित होती रहती है। किन्तु प्रतिनिधि 'सामान्य इच्छा' के अनुसार नहीं बदलता। अतः यह पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित प्रतिनिधि या संसद जनता की सामान्य-इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इसके अतिरिक्त संसद में प्रस्तुत विभिन्न प्रश्नों पर प्रतिनिधि किस प्रकार जनता की सामान्य-इच्छा को मालूम करे? उसके सम्मुख एक ही विकल्प रह जाता है सामान्य इच्छा' को मालूम करने का कि वह जन-सभाओं का आयोजन करे। किन्तु जब प्रत्येक प्रश्न पर 'सामान्य इच्छा' का निर्धारण जन-सभाओं द्वारा होगा तो फिर निर्वाचित प्रतिनिधि की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इस प्रकार क्रोपाटकिन का यह दृढ़ मत था कि प्रतिनिधिक प्रणाली या तो अनावश्यक है या इसके द्वारा किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व ही नहीं होता।

अराजकतावादियों के अनुसार व्यक्ति सदाचारी है किन्तु सत्ता-प्राप्ति के बाद वह भ्रष्ट हो जाता है। शक्ति-प्रयोग के दो प्रमुख दोष हैं। प्रथम, जो शक्ति का प्रयोग करता है वह स्वयमेव भ्रष्ट हो जाता है। द्वितीय, जिन पर इस शक्ति का प्रयोग किया जाता है, उन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। फलतः जो स्वभाव से परोपकारी योग्य और शिष्ट हैं, वे स्वार्थी निर्दयी और क्रूर हो जाते हैं। अतः व्यक्ति के नैतिक ह्रास का कारण राज्य ही है। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर शासन का अधिकार नहीं होना चाहिए। इस अधिकार के द्वारा व्यक्ति के मदान्ध निरंकुश और पतित हो जाने की सम्भावना रहती है। क्रोपाटकिन कहता था "अमुक मन्त्री जो आज घृणा योग्य है यदि सत्ता-सम्पन्न नहीं होता तो वह बड़ा शिष्ट मानव होता।"[1] वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध एवं आन्तरिक विप्लव का एकमात्र कारण शक्ति ही है, जिसने मानव-समाज को विभिन्न भू-भागों में विभाजित कर दिया है। विकिन्सन कहता है "सरकार से तात्पर्य अनिवार्यता पृथकता और नियम से है *जब कि अराजकतावाद का अर्थ स्वतन्त्रता,* एकता और प्रेम है। सरकार अहंकार और भय पर आश्रित है, तो अराजकतावाद बन्धुत्व पर।"

---

1 "Thus er that despicable minister might have been an excellent man, if power had not been given to him,' (Kropikin)

राज्य एक अनावश्यक बुराई है, क्योंकि राज्य और सरकार दोनों ही व्यक्ति के शोषण के विशिष्ट साधन हैं। दोनों ही उसके कल्याण में अनावश्यक अवरोध हैं। इससे उसका पतन होता है। यह अनावश्यक ही नहीं, अपितु एक बेकार संस्था है। इसके कार्य परिमित हैं। व्यक्ति द्वारा ऐसे अनेक कार्य किये जाते हैं जिनमें राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं होती—जैसे, खाना, सोना उठना, बैठना, घूमना और पढ़ना आदि। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन ऐसे असंख्य समझौते होते हैं, जिनका पालन राज्य के बिना हस्तक्षेप के होता है। ये समझौते बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। ऐसे समझौते अनेक राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा किये जाते हैं। ऐसी संस्थाओं एवं संघों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। यदि राज्य का अन्त कर दिया जाये तो विभिन्न कार्यों का सम्पादन ये संस्थाएँ भलीभाँति कर सकती हैं। अतः अराजकतावादियों की दृष्टि में, राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। राज्य की आवश्यकता पर बल विशेषतः तीन कारणों से दिया जाता है—(१) बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करने (२) अपराधियों को दण्ड देने और (३) न्याय करने आदि।

प्रथम कारण का खण्डन करते हुए अराजकतावादी कहते हैं कि राज्य बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है। बैकुनिन ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा कि अनेक बार राज्य की सेनाओं को जन-सेनाओं के समक्ष पराभूत होना पड़ा है। (वस्तुतः चीन इसका ज्वलंत उदाहरण है)। इसी लिए देश-रक्षार्थ राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है और इसके इस कार्य को जन-सेनाएँ भलीभाँति कर सकती हैं। द्वितीय कारण के सम्बन्ध में अराजकता-वादियों का मत है कि अपराध मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) सम्पत्ति के विरुद्ध जैसे, चोरी और डाका आदि (२) व्यक्तियों के विरुद्ध जैसे, मार-पीट, बलात्कार, हत्या आदि। व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के बाद प्रथम प्रकार के अपराधों का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे प्रकार के अपराध व्यक्तियों की अनैतिक मनोवृत्ति के कारण होते हैं। व्यक्तियों की अनैतिक मनोवृत्ति में सुधार दण्ड देकर जेल भेजने से नहीं हो सकता। क्रोपटकिन की दृष्टि में, कारागार पाखण्ड और कायरता के स्मारक हैं। क्रोपटकिन स्वयं अनेक बार जेल जा चुका था और इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि जेलों द्वारा अपराधियों की आदतों में कोई सुधार नहीं होता। उसने ऐसे अनेक कैदियों को देखा जो कई बार जेल जा चुके थे और जिनकी आदतों में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। इस प्रकार अपराधियों को दण्ड देने की अपेक्षा मानसिक चिकित्सा द्वारा

सुधारा जाना चाहिए। तीसरे कारण के सम्बन्ध में अराजकतावादियों का उत्तर है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति के बाद मुकदमे आदि नहीं रहेंगे और फिर इस प्रकार न्याय-व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यदि कभी विवादास्पद प्रश्न उठेंगे तो पंचायतों द्वारा उनका निपटारा हो जायेगा। इसी तरह शिक्षा के लिए भी राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कार्य ऐच्छिक शिक्षण संस्थाओं द्वारा समुचित ढंग से किया जा सकता है। वस्तुतः जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बिना राज्य के हस्तक्षेप के जो आशातीत उन्नति हुई है, उसका श्रेय ऐच्छिक संघों व संस्थाओं को ही है। कला, साहित्य विज्ञान और व्यवसाय के क्षेत्र में इन संस्थाओं का अपार योगदान है।

(७) अराजकतावाद और आदर्श समाज

अराजकतावादियों ने भावी आदर्श-समाज का विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य सदाचारी है किन्तु राज्य ने उसे निकृष्टतम बना दिया है। यदि राज्य का अन्त कर दिया जाय तो वह श्रेष्ठ मानव बन जायेगा। इस प्रकार अराजकतावादियों का प्रमुख उद्देश्य मनुष्य को तीन प्रकार से स्वतंत्र करना है—(१) नागरिक की हैसियत से राज्य से (२) उत्पादक की हैसियत से पूँजीवाद से और (३) मानव की हैसियत से धर्म से। यह समाज पूर्णरूपेण साम्यवादी होगा जिसमें सहयोग स्वेच्छा और न्यायवाद का प्राधान्य होगा। व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होगी। व्यक्ति के काम करने की अवस्था २४ से ४० या ५० वर्ष तक होगी। प्रतिदिन कार्य करने के घंटे ४ या ५ होंगे। वेतन प्रथा का, जो पूँजीवाद की देन है, अन्त कर दिया जायेगा। सभी पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होगा और सभी द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं में प्रत्येक उत्पादक का भाग होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा एवं शक्ति के अनुसार ही कार्य करेगा किन्तु उपभोग की वस्तुएँ उसके आवश्यकतानुसार उसे उपलब्ध होंगी। सार्वजनिक भोजनालयों में भोजन और सार्वजनिक वस्त्रालयों में वस्त्र आदि सभी वस्तुएँ बिना किसी शर्त के सभी को प्राप्त हो सकेंगी, चाहे कोई कार्य अधिक करे अथवा कम। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब बिना कार्य किये सभी वस्तुएँ उपलब्ध होंगी तो ऐसी दशा में कोई कार्य क्यों करेगा? और फिर वस्तुएँ उत्पन्न कैसे होंगी? अराजकतावादियों का उत्तर है कि व्यक्ति अकर्मण्य नहीं है। वह स्वभाव से आलसी की अपेक्षा कर्मशील है। अधिक दिन बिना काम किये कोई नहीं रह सकता। छोटे शिशुओं पर दृष्टिपात करो वे भी कुछ न कुछ करते रहते हैं।

मनुष्य प्रसिद्ध और प्रशंसापूर्ण कार्य से घृणा करता है। अतः अराजकतावादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से कार्य करेगा। जो व्यक्ति कार्य नहीं करेगा उसे आवश्यक वस्तुएँ अवश्य मिलेंगी किन्तु समाज में उसके प्रति कोई सम्मान नहीं होगा। सभी कार्य सरल और रुचिकर बना दिये जाएँगे। अरोचक कार्यों के करने में वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किया जायेगा जैसे, सफाई करना या बर्तन साफ करना आदि। जो कार्य मशीनों से सम्भव नहीं होगा उसे व्यक्ति सामाजिक भावना से कर डालेंगे। ऐसे समाज में, समाज सेवियों के प्रति आदर भावना होगी। इस प्रकार सेवा-वृत्ति व्यक्तियों को काम करने की ओर निरन्तर प्रेरित करती रहेगी।

समाजवादी उत्पादन के साधनों और उपभोग की वस्तुओं में अन्तर करते हैं। समाजवादी समाज में उत्पादन की वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण होगा और उपभोग की वस्तुओं पर व्यक्ति का एकाधिकार जैसे गृह, मोटर, फर्नीचर आदि। किन्तु अराजकतावादी ऐसा कोई विभेद नहीं करते। उनके मत में, उपभोग की वस्तुएँ उत्पादित वस्तुएँ हैं। अतः सभी वस्तुएँ अराजकतावादी वर्गों द्वारा वितरित की जायेंगी। वितरण-प्रणाली का आधार यह होगा कि सर्वप्रथम बच्चे, वृद्ध और अपंग लोगों को आवश्यकतानुसार वस्तुएँ मिलें और उसके बाद अन्य मनुष्यों को। आराम की वस्तुओं की अपेक्षा जीवनोपयोगी चीजों का वितरण पहिले किया जायेगा।

अराजकतावादी समाज में जो व्यक्ति असामाजिक कृत्य करेंगे, उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इस प्रकार सामाजिक बहिष्कार या चिकित्सा द्वारा व्यक्तियों को सुधारा जायेगा। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति अपने समझौतों का उल्लंघन नहीं करेगा, क्योंकि सामाजिक प्रथाओं एवं समझौते के परिपालन की ओर उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। आधुनिक समाज पूँजीवाद के कारण दूषित हो गया है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था के समाप्त होते ही व्यक्ति भी पूँजीवाद-जन्य दुर्गुणों से विमुक्त हो जायेगा।

राज्य की समाप्ति के उपरान्त समाज के संगठन का आधार बल की अपेक्षा सहयोगी भावना होगी। विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न ऐच्छिक संघ होंगे, जो कि स्व-शासित होंगे। ये प्रत्येक विषय के छोटे-बड़े संघ होंगे। इनका प्रबन्ध प्रजातंत्रीय आधार पर होगा। स्थानीय संघों से जनपदीय और इनसे प्रान्तीय तथा इसी प्रकार अखिल देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण होगा। ये सभी संघ अस्थायी होंगे। एक समस्या के पैदा होने पर उसकी पूर्ति हेतु एक संघ का निर्माण

होगा, और जैसे ही उसकी पूर्ति हुई तो उस सब का अन्त हो जायेगा। अराजकतावादियों ने गौसिकृए प्रतिनिधियों की अपेक्षा विशेषज्ञ प्रतिनिधियों पर बल दिया है।

राज्य के अभाव में इन ऐच्छिक संघों में सामंजस्य और पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन किस प्रकार होगा ? इसके उत्तर में अराजकतावादियों का कथन है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन के बाद प्रतियोगिता का स्थान सहयोगी भावना ले लेगी और सहयोगी भावना एवं पारस्परिक सम्पत्ति के द्वारा संघों में स्वतः सामंजस्य पैदा हो जायेगा। फोरियर का कथन है, "कुछ कंकड़ियाँ लेकर उन्हें एक डिब्बे में डालो और उन्हें हिलाओ तो देखोगे कि वे अपने आप ही आपस में उसकी अपेक्षा सुन्दर समुचित स्थान ग्रहण कर लेंगी जोकि किसी एक व्यक्ति को यह कार्य देने पर कठिनाई से प्राप्त हो सकता था।"[1]

(३) अराजकतावादी कार्य-पद्धति

अराजकतावादी विचारक आदर्श समाज का तो चित्रण करते हैं किन्तु किन उपायों द्वारा इसे मूर्तरूप प्रदान किया जायेगा, प्रकाश नहीं डालते। कार्य-पद्धति का विचार वस्तुतः वे साम्यवादियों तथा अन्य क्रान्तिकारियों पर छोड़ देते हैं। फिर भी कुछ अराजकतावादी विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन के साधनों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इन्हें हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं— (१) शान्तिपूर्ण अराजकतावादी और (२) क्रान्तिकारी अराजकतावादी। प्रथम के अन्तर्गत टॉलस्टाय और महात्मा गान्धी जैसे अराजकतावादी आते हैं। टॉल्सटाय का विचार था कि यदि व्यक्ति ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का हृदय से पालन करे और राज्य से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले तो निःसन्देह राज्य अपने आप ही नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार शान्तिपूर्ण अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों की उपयोगिता में विश्वास नहीं करते।[1] द्वितीय के अन्तर्गत, बेकुनिन और क्रोपटकिन प्रभृति आते हैं। ये पूर्णरूपेण क्रान्तिकारी अराजकतावादी हैं। ये अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाते हैं। किन्तु बैकुनिन और क्रोपटकिन ने 'हत्याकाण्ड या आतंकवाद' की वकालत नहीं की। बैकुनिन ने ऐसे कार्यों की भर्त्सना की थी और उन्हें मूर्खतापूर्ण बतलाया था। उसकी दृष्टि में

---

1 'Take pebbles, put them into a box and shake them and they will arrange themselves into a mosaic that you could never get by entrusting to any one the work of arranging them harmoniously (Fourier)

'इस प्रकार के आतंकवाद से एक सच्चे अराजकतावादी के उच्च एवं पवित्र लक्ष्य दूषित हो जाते हैं। उसका कहना था, "हमें व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्य तथा धर्म का विनाश करना है, न कि सम्पत्ति के स्वामियों राजनीतिज्ञों और धर्माचार्यों का।"

अराजकतावाद और साम्यवाद

अराजकतावाद और साम्यवाद दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। यहाँ तक कि प्रिंस क्रोपॉटकिन के सिद्धान्त को 'अराजकतावादी साम्यवाद' की संज्ञा प्रदान की गई है। दोनों का लक्ष्य भी एक है—वर्ग एवं राज्य-विहीन समाज की स्थापना करना। अधिकांश अराजकतावादी साम्यवादी साधनों को अंगीकार करते हैं जब कि बहुत से साम्यवादी भी अराजकतावादियों द्वारा वर्णित आदर्श समाज-रचना में अपनी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं। किन्तु दोनों विचारधाराओं में इतना साम्य होते हुए भी विशिष्ट अन्तर है जो कि निम्नलिखित है—(१) साम्यवादियों के लिए सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व परमावश्यक है और वे उसका परित्याग नहीं कर सकते, जब कि अराजकतावादी इसे अनुपयुक्त ही नहीं, अपितु हानिकारी समझते हैं और इसके द्वारा स्वतंत्र एवं ऐच्छिक सहयोग के सिद्धान्त पर आधारित आदर्श-समाज की स्थापना नितान्त असम्भव होगी।

(२) अराजकतावादी राज्य को एक विकार मानते हैं। उनका कथन है कि पूँजीवाद की समाप्ति पर राज्य का भी अन्त हो जायेगा। किन्तु साम्यवादी उसे क्रान्ति के बाद भी रखना चाहते हैं, क्योंकि सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व के समय में भी उसकी आवश्यकता पड़ेगी। लेनिन ने कहा था "हमारा अराजकतावादियों से अन्तिम लक्ष्य के रूप में राज्य के विनाश के प्रश्न पर कोई भी मतभेद नहीं है" किन्तु मार्क्सवाद अराजकतावाद से इस बात में भिन्न है कि वह सामान्यतः क्रान्ति-काल में राज्य तथा राज्यशक्ति की आवश्यकता मानता है।" राज्य की आवश्यकता का कारण यह दिया जाता है कि अधिकारच्युत पूँजीपति सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व को नष्ट करने के लिए भरसक प्रयास करेगा और ऐसी दशा में राज्य इस अधिनायकत्व की रक्षा करेगा।

(३) सभी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों में विश्वास नहीं करते। टॉलस्टाय जैसे शान्तिपूर्ण अराजकतावादी की हिंसात्मक साधनों में कोई निष्ठा नहीं है, जब कि साम्यवाद हिंसात्मक साधनों को पूर्णरूपेण अपनाता है।

(४) अराजकतावादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को पूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। वे व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की स्वतंत्रता देना चाहते हैं किन्तु साम्यवादी नहीं। आज रूस में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अपहरण होता है।

(५) अराजकतावाद ने जीवन के अनेक पक्षों की उपेक्षा की है किन्तु साम्यवाद जीवन का एक सांगोपांग दर्शन है और जीवन के प्रत्येक पक्ष पर उसके निश्चित विचार हैं।

(६) अराजकतावाद पूर्ण विकेन्द्रीयकरण में विश्वास करता है, जबकि साम्यवाद केन्द्रीयकरण में। प्रचुर मात्रा में उत्पादन केवल केन्द्रीयकरण में ही सम्भव है।

अराजकतावाद की आलोचना

१ अराजकतावादी विचारकों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) टॉल्स्टाय का दर्शन 'ईसाई अराजकतावाद' कहा जाता है। यह दर्शन वस्तुवादी समता है। (२) गोडविन और प्रूधों प्रभृति अराजकतावादी विचारक ऐसे हैं जो अहिंसावादी और व्यक्तिवादी थे। अतः इनके दर्शन को व्यक्तिवादी अराजकतावाद (individualistic anarchism) की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। (३) बैकुनिन और क्रोपटकिन ऐसे अराजकतावादी विचारक हैं जिनकी निष्ठा हिंसात्मक साधनों में थी। वे हिंसात्मक साधनों द्वारा राज्य का विनाश कर साम्यवादी समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। अतः इनके विचारों को साम्यवादी अराजकतावाद' (Communist anarchism) कहा जा सकता है। ये सभी विचारक व्यक्ति को राज्य से विमुक्त करना चाहते हैं और राज्य को अनावश्यक और हानिप्रद समझते हैं। अतः राज्य का उन्मूलन करना ही इनका परम ध्येय है। वे व्यक्ति को सद्गुण-सम्पन्न समझते हैं जो एक बड़ी भ्रान्ति है।[1] वास्तविकता यह है कि समाज में सभी व्यक्ति एक से स्वभाव के नहीं हैं। समाज में अपराधी, पागल और दुष्ट व्यक्ति भी रहते हैं, जिनसे सामाजिक व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने का निरन्तर भय बना रहता है। अतः समाज-सुरक्षा के लिए राज्य आवश्यक होगा। उनका यह भी तर्क कि राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्त

1 "The anarchists bound to assume explicitly or implicitly, that man is more or less flawless, and wholly reasonable. It is not always an easy task living with our fellows under any circumstances A Society where all restraint is removed, where each does what is right in his own eyes, insistently demands, that all passions be spent and that human benevolence and mutual tolerance should reach heights hitherto undreamed of "(A.Gray)

होते ही मनुष्य की स्वार्थी भावनाओं का अन्त हो जायगा, तर्क-संगत नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य न तो पूर्णतः स्वार्थी है और न निःस्वार्थ ही। उसमें दोनों भावनाओं का समावेश है। अतः उसकी स्वार्थी एवं सामाजिक भावनाओं को नियंत्रित करने के लिए राज्य की परम आवश्यकता है।

२ अराजकतावादी विचारकों के इस कथन में कि राज्य शक्ति पर आधारित है, सत्यांश बहुत कम है। राज्य अनेक ऐसे भी कार्य करता है जिनमें बल-प्रयोग का सर्वथा अभाव रहता है। उसके द्वारा सांस्कृतिक, सामाजिक कलात्मक और साहित्यिक आदि ऐसे अनेक कार्य होते हैं जिनमें बल प्रयोग कदाचित् ही होता है। राज्य द्वारा अस्पताल और शिक्षण-संस्थाओं का संचालन होता है और रेल, डाक, तार और टेलीफोन आदि विविध विभागों की व्यवस्था होती है। आज अनेक राज्य नियोजन-कार्यों में संलग्न हैं। इन सार्वजनिक-हित के कार्यों में राज्य द्वारा शक्ति-प्रदर्शन कहाँ होता है? आज तो 'लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना' एक ध्येय हो गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आन्तरिक शान्ति बनाये रखने और बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करने में राज्य शक्ति का प्रयोग करता है। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, क्योंकि ऐसा करना सार्वजनिक हित की दृष्टि से अपेक्षित है। वस्तुतः राज्य के सार्वजनिक हित के कार्यों ने उसके अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध कर दिया है। उसके द्वारा मानव समाज आज इतना सुसंस्कृत एवं सभ्य हो सका है। उसने कला, साहित्य दर्शन, विज्ञान और सांस्कृतिक उत्थान में पूर्ण सहयोग दिया है।

(१) अराजकतावादी युद्धों के लिए राज्य को दोषी ठहराते हैं जो कि उचित नहीं है। वस्तुतः युद्धों का कारण राज्य का अस्तित्व न होकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्याप्त अराजकता है। इन राज्यों को नियमित करनेवाली कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था नहीं है जो कि इनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को रोक सके। यदि राज्यों का अन्त कर दिया जाये तो आज हम जिस अराजकता के दर्शन अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर करते हैं वही सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी। प्रत्येक देश की सुन्दर सामाजिक व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो जायगी और जीवन भयपूर्ण, संघर्षमय एवं प्रतिद्वन्द्वितात्मक हो जायगा। अतः राज्य में चाहे कितने भी दोष दिखाये जायें फिर भी हम इसकी उपयोगिता से पराङ्मुख नहीं हो सकते। सभ्य समाज के लिए इसकी आवश्यकता बनी रहेगी।[1]

[1] "The state in some form, whatever may be said in

(४) अराजकतावादियों ने जिस आदर्श समाज का चित्रण किया है उसमें विभिन्न कार्यों के लिए अलग अलग संघ होंगे। नागरिकों को इन अनेक संघों के विभिन्न कार्यों के निरीक्षण एवं नियन्त्रण पर ध्यान देना होगा तथा गतिविधियों के प्रति सचेत रहना होगा। यह कार्य सर्वसाधारण के लिए दुष्कर होगा और समय भी अधिक लगेगा। किन्तु आज केवल एक राज्य के कार्य-कलापों पर ही दृष्टिपात करना पड़ता है और समय का भी दुरुपयोग नहीं होता।

---

criticism of its mistakes, its inefficiency, its abuse of power is and always will be an absolute necessity among civilised men '

(Bertrand Russell)

१५

संघवाद (Syndicalism)

संघवाद फ्रांस की विशिष्ट देन है। १९ वीं सदी के अन्तिम भाग में इस नवीन सामाजिक सिद्धान्त की उत्पत्ति फ्रांसीसी श्रमिक-आन्दोलन के कारण हुई। यह समाज निर्माण का सिद्धान्त और कार्य-नीति की योजना है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उत्पादन के साधनों पर उत्पादकों के अधिकार का प्रबल समर्थक है और कार्य-नीति की पद्धति की दृष्टि से मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष इसकी आधारशिला है। इसने मार्क्सवाद और अराजकतावाद दोनों से कुछ सिद्धान्तों को ग्रहण किया और उन्हें नवीन रूप प्रदान किया। यह समष्टिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ। इसका प्रसार मुख्यतः फ्रांस, स्पेन, इटली और अमेरिका तक ही परिमित रहा। यह दर्शन इंगलैंड और उससे सम्बन्धित अन्य देशों को प्रभावित नहीं कर सका।

संघवाद (Syndicalism) शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच शब्द 'सिन्डीकेट' (Syndicate) से हुई है। इसका विशुद्ध अर्थ श्रमिक संघ (Labour union) है। १९ वीं सदी के अन्त में, श्रमिक संगठन जब दो विरोधी विचारधाराओं में विभक्त हो गया तो दोनों नीतियों के लिए क्रान्तिकारी संघवाद (Revolutionary Syndicalism) तथा सुधारवादी संघवाद (Reformist Syndicalism) शब्दों का प्रयोग होने लगा। किन्तु जब पूर्णरूपेण क्रान्तिकारी संघवाद का श्रमिक संगठन पर आधिपत्य हो गया तो इसकी नीति 'संघवाद' (Syndicalism) के नाम से विख्यात हुई।

फ्रांसीसी संघवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

इस दर्शन का जन्म फ्रांस की विशेष परिस्थितियों में हुआ था। १७८९ की फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने फ्रांसीसी जनता में राजनीतिक जागृति पैदा की। श्रमिक-वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गया था जिसके फलस्वरूप १८३०-१८४८ और १८७१ में प्रसिद्ध श्रमिक क्रान्तियाँ हुईं। इन क्रान्तियों के उपरान्त मजदूर

वर्ग अकथनीय अत्याचारों का शिकार हो गया। उनके संघ अवैध घोषित कर दिये गये और हड़ताल की आयोजना पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। ऐसी स्थिति में फ्रेंच श्रमिकों को यह अनुभूति हुई कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित कार्यक्रम के अनुरूप भी कार्य करना असम्भव है। १९ वीं शताब्दी के अन्त में कुछ ऐसी घृणित राजनीतिक घटनाएँ घटित हुईं-जैसे बोलेन्जर घटना (Boulanger Episode), ड्रेफुस अभियोग Dreyfus case) और पनामा षड्यंत्र (Panama Scandal, आदि, जिनके कारण मजदूरों में राजनीति के प्रति अविश्वास पैदा हो गया। वे राज्य को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। श्रमिक-नेताओं ने भी अपने व्यवहार से मजदूरों में घोर असन्तोष पैदा किया। उनकी वैधानिक विकास संसद और राजनीतिक दल से आस्था हट गई। उन्होंने व्यापार संघ (Trade Unionism) और समष्टिवाद (State socialism) दोनों को अस्वीकार कर उग्र एवं सीधे उपायों को अपनाया।

ऐसी स्थिति में, जब कि शासक-वर्ग श्रमिक-आन्दोलन को कुचलने में प्रयत्नशील था और प्रकट रूप से कार्य करना मजदूरों के लिए असम्भव था, उन्हें गुप्त एवं अवैधानिक उपायों का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने मानवतावादी संस्थाओं की स्थापना की, जिन्हें अवैध घोषित करना दुष्कर था। जिन संस्थाओं की ओर से क्रान्तिकारी संघवाद के विचारों का प्रचार एवं प्रसार हुआ वे संघ (Syndicat) में होकर 'बोर्स' (Bourses du Travail) थीं। सर्वप्रथम बोर्स पेरिस में १८८७ में स्थापित हुआ था। इसके सफलीभूत होने पर अन्य नगरों में भी ऐसे बोर्स स्थापित किये गये। १८९२ में इन बोर्सों (Bourses du Travail) का एक राष्ट्रीय संघ (Federation du Bourses du Travail) भी स्थापित किया गया, जो कि मजदूरों का प्रमुख केन्द्र हो गया। प्रारम्भ में इनकी स्थापना श्रमिकों के लिए व्यवसाय की खोज करने और व्यवसाय प्रदान करने के ध्येय से हुई थी। बोर्स एक धर्मशाला की भाँति था, जहाँ एक श्रमिक मुसाफिर इसमें रुक सकता था और उसे वहाँ नौकरी-सम्बन्धी बातें मालूम हो सकती थीं। इस संघ के मंत्री एफ० पैलोते (Ferdinand Pelloutier) ने बोर्स के चार उद्देश्य बतलाये हैं:—

(१) सम्पर्क एवं सहयोग—बोर्स एक धर्मशाला के समान था। यहाँ श्रमिक यात्री निवास करता था। उसे यहाँ रोजगार, नौकरी आदि सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ उपलब्ध होती थीं। इस प्रकार बोर्स वाणिज्य एवं सहयोग का अनुपम केन्द्र था, जहाँ एक श्रमिक अन्य श्रमिकों के सम्पर्क में आता था।

(२) शिक्षा—बोर्स में एक पुस्तकालय का भी प्रबन्ध था। यहाँ श्रमिक वर्ग को राजनीतिक एवं व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करने की सुविधा मिलती थी।

(३) प्रचार केन्द्र—ये बोर्स संघवाद एवं वर्ग-संघर्ष के प्रचार के प्रमुख केन्द्र थे। यहाँ विचार विनिमय एवं अध्ययन द्वारा श्रमिकों को संघवाद तथा वर्ग-संघर्ष आदि-आदि विभिन्न विचारों से अवगत कराया जाता था।

(४) प्रतिरोधी भावना—यह एक प्रकार से राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र हो गया था, जहाँ मजदूरों को शोषण के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। उनमें प्रतिरोधी भावनाएँ पैदा की जाती थीं।

इस प्रकार बोर्स एक प्रकार से सामाजिक क्लब (Social Club) के रूप में थे, जहाँ रोगियों बेकारों और श्रमिक साथियों को साहाय्य ही प्राप्त नहीं होता था अपितु पारस्परिक सहायता शिक्षा श्रमिकों को आर्थिक संघर्ष के लिए संगठित तथा हड़तालों के समय नैतिक एवं व्यावहारिक सहायता भी प्रदान की जाती थी। वस्तुतः यह बोर्स ही संघवादियों के भावी समाज का आदर्श बना, क्योंकि उनकी दृष्टि में क्रान्ति के उपरान्त राज्य-विहीन समाज में बोर्स जैसी संस्था ही स्थानीय समस्याओं की पूर्ति कर सकेगी।

१८९५ में मजदूरों की एक नवीन संस्था को जन्म दिया गया। इसका नाम सी० जी० टी० (Confederation General du Travail) रखा गया। १९०२ में Federation du Bourses du Travail सी० जी० टी० से संपबद्ध हो गया। इस प्रकार सी० जी० टी० एक ओर तो कि स्थानीय थे, और दूसरे एक व्यावसायिक संघों का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था हो गई। इस संगठन का श्रेय पैलोटे को है। उसके व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण ही इस संस्था ने संघवाद की नीति को अपनाया। यह न केवल संघवादी आन्दोलन की राष्ट्रीय संस्था ही थी अपितु आदर्श भावी समाज की केन्द्रीय संस्था भी थी।

संघवादी विचारक

संघवाद के प्रचार एवं प्रसार में पैलोटे और जार्ज सोरेल (George Sorel) ने प्रमुख भाग लिया। वैसे संघवाद को मार्क्स की अपेक्षा प्रूधों (Proodhon) ने अधिक प्रभावित किया। प्रूधों के एसोशियेटिव कम्युनिज्म (Associative Communism) के सिद्धान्त से संघवादी विचारकों ने प्रेरणा ली। फ्रांसीसी श्रमिक आन्दोलन भी प्रूधों के विचारों से पर्याप्त रूप में प्रभावित हुआ। पाली

(Pataud) और पूजे (Pouget) का स्थानीय वर्गवाद प्रूधों के दर्शन से मिलता-सा है।

फर्नान्द पैलोते (Fernand Pelloutier)

(१८६७-१९०१)

इसका जन्म एक सम्भ्रान्त पूँजीपति के परिवार में हुआ। प्रारम्भ में इसकी आस्था उग्र गणतंत्रवाद में थी, किन्तु बाद में वह बैकुनिन के विचारों से प्रभावित हुआ। वह वैधानिक पद्धति का घोर विरोधी था। वह मजदूरों के राजनीति में भाग लेने के पक्ष में नहीं था क्योंकि इससे उनकी क्रांतिकारी भावना नष्ट हो जाती है। १८९४ में वह राष्ट्रीय संघ का मंत्री बना और इस पद पर वह सात वर्ष तक रहा। श्रमिकों को जो अल्पकाल में आशातीत सफलता मिली इसका श्रेय इसी को है। उसमें अभूतपूर्व संगठन-शक्ति थी। वह सर्व प्रथम व्यक्ति था जिसने यह विचार व्यक्त किया कि फ्रेंच श्रमिकों को अपनी उद्देश्य-पूर्ति हेतु समस्त फ्रेंच राष्ट्र से अलग होकर प्रयास करना चाहिए। वह अपने सिद्धान्तों का कार्यान्वयन 'संघ' के संगठन में करता था। संघ का कोई अध्यक्ष नहीं था। मतदान के लिए कभी अवसर ही नहीं आया।

जार्ज सोरेल

वह संघवाद का दार्शनिक था। मुसोलिनी के अनुसार वह फैसिस्टवाद का जन्मदाता था। वह बुद्धिवाद का विरोधी था और समाज तथा प्रकृति में बुद्धि की अपेक्षा अन्ध-विश्वास की मात्रा अधिक समझता था। जिस समय पैलोते श्रमिक आन्दोलन को प्रभावित कर रहा था, उस समय सोरेल ने श्रमिक-हितों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। उसने 'श्रमिक संघों का समाजवादी भविष्य' नामक अपने लेख में कहा कि, "समाजवाद का सम्पूर्ण भविष्य श्रमिकों के संघों के स्वतन्त्र विकास में है।" उसने प्रूधों और बैकुनिन के विचारों को अपनाया और इस तर्क का खण्डन किया कि मानव-समाज की प्रकृति प्रगति करना है।

सोरेल का सिद्धान्त राजनीति और दर्शन का विचित्र सम्मिश्रण है। इसने अध्यात्मवादी दर्शन का प्रयोग सामाजिक समस्याओं पर किया। उसके दर्शन में मार्क्स और बर्गसाँ (Bergson) के विचार सम्मिलित हैं। लेवाइन का कथन है कि उसके सिद्धान्त का प्रारम्भ मार्क्स से होता है और अन्त बर्गसाँ पर।[1] सोरेल

---

1 "Thus M. Sorel, having started out with Marx, ends up with Bergson"—(Levine)

की दृष्टि में, मार्क्सवाद अर्थशास्त्र की अपेक्षा प्रधानतः इतिहास का दर्शन है। ✓ वस्तुतः वर्ग-संघर्ष ही मार्क्सवाद है। सोरेल ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को बर्गसों के प्रेरणा-सिद्धान्त (Theory of intuition) से संयुक्त किया। बर्गसों उच्च-कोटि का दार्शनिक था। वह अपने विचारों के कारण १९ वीं सदी के अन्त और २० वीं सदी के प्रारम्भ में बड़ा लोकप्रिय हो गया था। उसका कथन था कि हमारे कार्यों के उद्देश्य हमारे लिए तर्क की अपेक्षा प्रेरणा द्वारा निर्धारित होते हैं। हमें क्या करना चाहिए ? यह प्रेरणा निश्चित करती है, जब कि विवेक अमुक कार्य के करने की दिशा को इंगित करता है। व्यक्ति में हड़ताल करने की भावना का उदय उसकी प्रेरणा से ही होता है और उसकी यह आकांक्षा जो उसे अपनी शक्तियों को अपनी अन्तरात्मा के इच्छानुसार कार्यान्वयन की ओर प्रेरित करती है, प्रेरणा द्वारा ही जागृत होती है। सोरेल ने बर्गसों के इस सिद्धान्त को संघ-वादी सार्वभौम हड़ताल (General Strike) पर लागू किया। उसने सार्वभौम हड़ताल की सामाजिक अंधश्रद्धा (Social myth) का का प्रयास किया। श्रमिकों के लिए सार्वभौम हड़ताल एक अन्ध-श्रद्धा है। जिस प्रकार प्रारम्भिक ईसाइयों को 'ईसा के पुनर्जन्म' की अन्धश्रद्धा ने दमनकारियों के विरोध के लिए प्रोत्साहित किया था, उसी प्रकार श्रमिकों के लिए यह अन्ध-श्रद्धा वैसी ही एक भावना है जो उन्हें प्रोत्साहित करती है। अतः श्रमिकों में सार्वभौम हड़ताल के प्रति प्रेरणा जागृत करनी चाहिए। किन्तु सोरेल के विचार में श्रमिकों को यह नहीं बताना चाहिए, कि सार्वभौम हड़ताल क्यों हो रही है और इसके द्वारा कैसे समाज का निर्माण होगा ? इस विषय में तर्क करना व्यर्थ है। सार्वभौम हड़ताल के उद्देश्य का मूल्यांकन और वाद विवाद के समस्त साधनों का जो कि राजनीतिज्ञों और समाज शास्त्रियों के बीच प्रचलित हैं, परित्याग कर देना चाहिए; क्योंकि बर्गसों के अनुसार मानव के कार्य प्रेरणा द्वारा ही निश्चित होते हैं। अतः सार्वभौम हड़ताल को एक आकर्षक नारे के रूप में रखना चाहिए। इस प्रकार सोरेल ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को बर्गसों के प्रेरणा सिद्धान्त को पुष्ट की। सोरेल का विश्वास तोड़-फोड़ या विध्वंसक कार्यों में नहीं था। वह ऐसे कार्यों की [illegible]

[illegible] संघवादियों ने उसके इस विचार को नहीं अपनाया।

[illegible]न्त

[illegible]र्शन है जो यह बतलाता है कि ट्रेड संघ ही नवीन

समाज की रचना की [illegible]

है। यह [illegible]

धर्म के साथ-साथ पूँजीवादी सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का भी विरोध करता है। यह सिद्धान्त राज्य, राष्ट्र-प्रेम, समस्त राजनीतिक दल, हिंसावाद, मध्यमवर्ग और दल का विरोधी है। संघवादी विचारकों की दृष्टि में केवल यही एक विशुद्ध श्रमिक सिद्धान्त है। यह दर्शन इस दृष्टि से स्पष्टतः समाजवादी दर्शन है, क्योंकि यह भी सामान्यतः समाजवादियों की भाँति पूँजी को चोरी समझता है और वर्ग-संघर्ष में आस्था रखता है। यह उत्पादन के साधनों की व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन कर, उस पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना चाहता है। किन्तु यह सामाजिक क्रान्ति के साथ-साथ समाजवाद में भी क्रान्ति करना चाहता है। इसी कारण इसके अनुयायी इसे एक नवीन समाजवादी सिद्धान्त कहते हैं।

संघवाद और समष्टिवाद में अन्तर

संघवाद और समष्टिवाद में प्रमुख भेद यह है कि संघवाद उत्पादकों के नियंत्रण एवं अधिकारों पर अधिक बल देता है। उसके विचार में श्रमिक मूल्य का निर्माण करते हैं, अतः समाज का नियंत्रण भी उन्हीं के हाथ में रहना चाहिए। इस प्रकार संघवादियों के मत में, श्रमिक उत्पादक की हैसियत से आर्थिक या औद्योगिक क्षेत्र में ही अधिकार सम्पन्न न होकर राजनीतिक क्षेत्र में भी होना चाहिए। और राज्य को भी अस्तित्व-विहीन कर उसके समस्त कार्य उत्पादक-समुदायों को, जिनका निर्माण व्यावसायिक आधार पर हुआ है, हस्तान्तरित कर देने चाहिए।

संघवाद समाज को उत्पादकों के संगठन के रूप में स्वीकार करता है, जब कि समष्टिवाद उपभोक्ता के ही रूप में मानता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संघवाद 'उत्पादकों के[1] नियंत्रण' को अधिक महत्त्व देता है। पैलोटे के शब्दों में "हमारी क्रान्ति का लक्ष्य केवल समस्त शक्ति-नियन्त्रण से ही मानवता को स्वतंत्र करना नहीं है अपितु उन समस्त संस्थाओं से विमुक्त करना है जिनका उद्देश्य उत्पादकों की उन्नति करना नहीं है।"

संघवाद और मार्क्सवाद

समानता—(१) दोनों की वर्ग-संघर्ष में निष्ठा है और दोनों ही पूँजीवाद की समाप्ति के लिए प्रत्येक प्रकार की हिंसा को उचित समझते हैं।

1 Producers, Control

(२) मार्क्सवाद की भाँति संघवादी भी पूँजी को चोरी समझते हैं और वैयक्तिक सम्पत्ति, प्रतिद्वन्द्विता तथा शोषण की प्रक्रिया को समाप्त कर पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं। इनका लक्ष्य राष्ट्र की सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना है।

(१) संघवाद और मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) में विश्वास करता है। वस्तुतः मार्क्स का यह सिद्धान्त श्रमिकों को शोषण के विरुद्ध संगठित होने को उद्यत करता है।

असमानता—संघवाद और मार्क्सवाद में जो विशिष्ट विभेद है, वह यह है कि मार्क्स देश, काल और परिस्थिति के अनुसार वैधानिक उपायों में भी विश्वास करता था तथा साम्यवादी समाज की प्रतिष्ठा सर्वहारा-वर्ग के आन्दोलन द्वारा करना चाहता था, जब कि संघवादी 'हड़ताल' द्वारा अपनी लक्ष्य-पूर्ति चाहते हैं।

राज्य-विरोधी—संघवाद अराजकतावाद की भाँति ही राज्य-सत्ता के अन्त का पक्षपाती है। संघवाद राज्य का विरोध निम्नलिखित तर्कों के आधार पर करता है—

सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य की कोई उपयोगिता नहीं है। वह एक व्यर्थ संस्था है। उसका यह कहना कि वह एकता का प्रतीक है और वर्ग-समन्वय, समाज तथा सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है, तथ्यहीन है, क्योंकि समाज बहुलवादी (Pluralistic) है। राज्य में वर्ग-समन्वय, एकता एवं सामान्य-इच्छा का कार्यान्वयन किस प्रकार सम्भव हो सकता है जब कि समाज शोषक शोषित, शासक शासित और अधम व्यक्तियों से परिपूर्ण है। इस प्रकार संघवादी दृष्टि में राज्य जैसी अद्वैतवादी संस्था का कोई महत्व नहीं है, केवल बहुलवादी प्रणाली ही फलीभूत और उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

राज्य पूँजीपतियों और मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की संस्था है। राज्य पूँजीपतियों के शोषण का एक विपुल साधन है और भविष्य में भी वह अपने स्वरूप के कारण मध्यमवर्गीय संस्था बनी रहेगी। इस मध्यमवर्ग का प्रतिनिधित्व बुद्धिजीवी लोग करते हैं जिनमें श्रमिक समस्याओं को समझने की न तो क्षमता है और न जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति श्रमिकों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने की ओर है। राज्य नौकरशाही का प्रतीक है। राज्य का कार्य नौकरशाही के द्वारा होता है। नौकरशाही का दृष्टिकोण संकीर्ण होता है और वह अपरिवर्तनशीलता, केन्द्रीयकरण तथा दीर्घसूत्रता में विश्वास करती है।

वैसे आधुनिक राज्य अनर्जनीय हैं, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है, क्योंकि विधि-निर्माण कतिपय व्यक्तियों द्वारा ही होता है, जो कि येन केन प्रकारेण निर्वाचित हो जाते हैं। विधि निर्माण जनता द्वारा ही होना चाहिए, किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि समस्त दृष्टि से आर्थिक जीवन का संचालन श्रमिक-वर्ग के हाथों में हो। वे अपने संघों द्वारा आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ विधि-निर्माण भी करें। ऐसी व्यवस्था में राज्य जैसी निरंकुश एवं दमनकारी संस्था की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

२. राष्ट्र भक्ति विरोधी—संघवादियों को मार्क्स के इस कथन में "मजदूरों की कोई मातृभूमि नहीं होती", पूर्ण निष्ठा है। अतः वे 'हमारा देश', 'हमारा राष्ट्र' के आकर्षक नारों की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि यह पूँजीपतियों का मायाजाल है। उनका यह आदर्श प्रवचन शोषण की प्रक्रिया को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए है। भूखे नंगे और उत्पीड़ित मजदूरों के लिए स्वदेश की पुनीत भावना एक मृगतृष्णा है। संसार के सभी श्रमिक एक हैं, उनकी सम न समस्याएँ हैं। उनमें परस्पर विरोध कैसा? वहीं उनकी मातृभूमि है जहाँ भरपेट भोजन मिल जाता है। फ्रांस में १९०९ में घटित एक घटना ने उनकी इस भावना को और भी बलवती बना दिया, जब कि श्रमिक हड़ताल को फ्रांसीसी और जर्मन सेनाओं द्वारा पददलित किया गया। अतः राष्ट्र-प्रेम भी एकवर्गीय स्वार्थ-पूर्ति का प्रबल साधन है, जिसमें कि श्रमिकों का विनाश सन्निहित है। अतः संघवादियों को राष्ट्र व देश प्रेम से घृणा हो गई।

३. सैनिकवाद विरोधी—संघवादी असैनिकीकरण की नीति के समर्थक हैं। उनको विश्वशान्ति में अटूट निष्ठा है, क्योंकि शान्ति के वातावरण में ही श्रमिकों कार्यक्रमों को सुअवसर मिलता है। अतः वे सैनिकवाद के विरोधी हैं। इसके अतिरिक्त सेनाओं द्वारा उनके प्रति नाना प्रकार के अत्याचारों ने जब कभी भी श्रमिक हड़ताल हुई है, उनके इस विचार को और अधिक सबल बना दिया है। अपराधियों ने सैनिकों को अनेक बार सम्बोधन करते हुए, जब उन्होंने श्रमिक हड़तालियों पर गोलियाँ चलाईं थी, कहा कि वे श्रमिकों की सन्तान हैं। केवल पैसे के कारण तुम्हारा सैन्य-वर्दी पहिन ली है। अतः तुम्हें अपने भाइयों पर गोली नहीं चलानी चाहिए। पूँजीपतियों के स्वार्थ के लिए तुम्हें अपने वर्ग का विरोध नहीं करना चाहिए। फिर युद्ध पूँजीपतियों के संरक्षणार्थ होता है यह उन्हें ही सक्षम बनाता है। अतः संघवादी न तो युद्ध में विश्वास करते हैं और न सेना में।

४ राजनीतिक दल विरोधी—संघवाद राजनीतिक दल का विरोधी है।

उनके मत में राजनीतिक दलों का निर्माण वर्ग-विशेष के हितों की दृष्टि से नहीं होता। वह तो सभी वर्गों का जमघट है। किसी भी राजनीतिक दल पर दृष्टि-पात करिये, उसमें विभिन्न स्वार्थों एवं वर्गों वाले व्यक्ति मिल जायेंगे। भारत के समाजवादी दल को लीजिए, उसमें पूँजीपति, शिक्षक, कृषक, वकील, डॉक्टर, मजदूर आदि विभिन्न पेशेवाले व्यक्ति हैं। यही दशा अन्य राजनीतिक दलों की भी है। विभिन्न वर्गों के सदस्यों से निर्मित ये राजनीतिक दल श्रमिकों का हित-साधन नहीं कर पाते। श्रमिकों का हित केवल श्रमिक-संगठनों द्वारा ही हो सकता है। अतः उन्हें किसी राजनीतिक दल के सदस्य बनने की आवश्यकता नहीं है। जब श्रमिक-वर्ग के व्यक्ति किसी राजनीतिक दल के सदस्य हो जाते हैं तो उनकी वर्गीय-चेतना (Class-Consciousness) का ह्रास होने लगता है, जैसे कि श्रमिक-नेता मिलरां (Millerand), ब्रियां (Briand) और विवियानी (viviani) की वर्गीय चेतना क्षीण हो गई थी। ये फ्रांसीसी श्रमिक-नेता राजनीति में भाग लेकर क्रान्तिकारी की अपेक्षा सुधारवादी हो गये थे। इस प्रकार संघवादी राजनीति को छल-कपट पूर्ण समझते हैं और उनके विचार में "सभी राजनीतिज्ञ धोखेबाज होते हैं।"

५. संसद्-विरोधी—संघवादियों की धारणा है कि संसद एक पूँजीवादी संस्था है। वह सामंजस्य और समझौते की नीति का अनुसरण करती है। संसदीय सदस्यता श्रमिकों के कार्य क्रम में एक अवांछनीय अवरोध है। यह षड्यंत्रों का अन्य आगार है। बोलेंजर घटना[1] और पनामा षड्यन्त्र[2] जैसे दूषित काण्ड इसकी ही देन हैं। संसदीय प्रणाली स्वार्थी एवं पदलोलुप राजनीतिज्ञों की जननी है। श्रमिक-नेता पूँजीपतियों के मायाजाल, उनकी स्वार्थपरता, विचारधारा और प्रलोभन में फँस कर भ्रष्ट हो जाते हैं। उनमें वर्ग-चेतना विलुप्त हो जाती है।

---

१ बोलेंजर घटना (Boulanger Episode)—बोलेंजर एक जनरल और संसदीय सदस्य था। वह जनसेवी था, किन्तु अनेक बार तानाशाह बनने का प्रयास किया, किन्तु असफल रहा।

२ पनामा षड्यंत्र (Panama Scandal)—एक कम्पनी की स्थापना हुई, जिसका लक्ष्य पनामा नहर बनाना था। इसके हिस्से खरीदे गये किन्तु बाद में कम्पनी को दिवालिया घोषित कर दिया गया। फलतः जिन्होंने हिस्से खरीदे थे उनकी पूँजी हड़प कर ली गई। इस षड्यंत्र की योजना में कुछ मंत्री तथा अनेक संसद-सदस्य थे।

अनेक श्रमिक-नेता जैसे फ्रांस में मिलराँ, ब्रियाँ और विवियानी, संसद-सदस्य बनने से पूर्व उनमें क्रान्तिकारी भावना थी, वर्ग-चेतना थी किन्तु संसदीय राजनीति ने उन्हें सुधारवादी, प्रतिक्रियावादी और समझौतावादी बना दिया। इंगलैण्ड में रैमजे मैकडानल्ड ने भी श्रमिक-दल के साथ इसी प्रकार विश्वासघात किया। इस प्रकार मजदूरों का राजनीति में भाग लेने से लाभ नहीं होता, अपितु वे अपने क्रान्तिकारी नेताओं को और खो बैठते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे प्रकट रूप में संसद बहुसंख्यक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, क्योंकि अल्पसंख्यक पूँजीपति-वर्ग का ही इस पर एकाधिकार होता है। अतः संसदीय जनतंत्र पूँजीवाद का प्रतीक है। संसद श्रमिक-हितकारी नियमों का भी निर्माण नहीं करती। बाध्य होकर जिन छोटी-मोटी सुविधाओं अथवा सुधार-सम्बन्धी नियमों को पारित करती है उनसे श्रमिकों में असन्तोष की तीव्रता या क्रान्तिकारी भावना की उग्रता कम हो जाती है। अतः संघवादियों के लिए संसद सर्वथा त्याज्य है।

६ मध्यम वर्ग-विरोधी—संघवाद न केवल मध्यम-वर्ग का ही विरोध करता है, अपितु मध्यम वर्गीय समाजवाद का भी विरोधी है। संघवाद ही एक ऐसा समाजवादी दर्शन है जो पूर्णरूपेण श्रमिकों के मस्तिष्क की उपज है, जब कि अन्य समाजवादी सिद्धान्त मध्यमवर्गीय लोगों की उपज हैं।

संघवाद मध्यमवर्ग को नाकारा समझता है। उसके मत में मध्यम श्रेणी के व्यक्ति पूँजीवाद-विरोधी आन्दोलनों का कभी सच्चे हृदय से स्वागत नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी मनोवृत्ति भी पूँजीवादी है और पूँजीवादी से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वे स्वयं पूँजीपति बनने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। उनमें सैद्धान्तिक दृढ़ता नहीं होती। उनका राजनीति से शौकिया लगाव है। पद लोलुपता, स्वार्थपरता और लोकप्रियता की भूख उन्हें राजनीति में ले जाती है। वे श्रमिक-संघों के सदस्य होकर भी अपनी क्रान्तिकारी भावना का परिचय नहीं दे पाते। अतः श्रमिकों का भला केवल विशुद्ध श्रमिकों से ही हो सकता है, मध्यम वर्ग से नहीं।

1 The Syndicalist claims to be the "only school of socialist doctrine which is the product of workers themselves, all other forms of socialism have emanated from the brain of clever middle class-theorists"

७ राज्य विरोधी—संघवाद राज्य व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। वह यह मानता है कि रूसी राज्य पूँजीवादी राज्यों की अपेक्षा भिन्न है, किन्तु वह भी शक्ति का द्योतक है, क्योंकि वहाँ राज्य की प्रतिष्ठा है। चाहे वह राज्य मजदूरों का ही हो, किन्तु है तो राज्य ही। वहाँ राजनीतिक प्रजातंत्र का अभाव है। साम्यवादी व्यवस्था में जनता राजनीतिक स्वातंत्र्य का उपभोग नहीं कर पाती। वहाँ लालसेना है और एक राजनीतिक दल है, जो संघवादी व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। कहने को तो रूस में सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व है, किन्तु यथार्थ में एक राजनीतिक दल की ही वहाँ के जीवन पर प्रभुता है और वही समस्त गतिविधियों का केन्द्र है।

संघवादी कार्यक्रम

संघवादी वैधानिक तथा प्रजातांत्रिक कार्यक्रम में विश्वास नहीं करते। वे विशुद्ध श्रमिक-संघर्ष के पक्षपाती हैं। सी० एम० जोड का कथन है कि संघवाद इस बात का दावा करता है कि यही एक ऐसा समाजवादी सिद्धान्त है जो पूर्णतः श्रमिकों के मस्तिष्क की उपज है।

संघवादी निरन्तर युद्ध-रत रहना चाहते थे, जिससे कि औद्योगिक पूँजी-वादी प्रणाली का उन्मूलन हो सके। अतः उनके मत में पूँजीवाद का विरोध सदैव और सर्वत्र होना चाहिए। जार्ज सोरेल का भी यही विश्वास था कि पूँजीपति को सदैव भयाकुल रखना चाहिए। तभी श्रमिकों को उनके द्वारा सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। अतः संघवादियों ने राजनीतिक कार्यक्रम का परित्याग कर आर्थिक तथा प्रत्यक्ष आन्दोलन (Direct Action) को अपनाया। उन्होंने सन् १८९७ में सम्पत्ति-विनाश और बहिष्कार नीति (Boycott) को स्वीकार किया। यद्यपि कुछ सिद्धान्तवादियों ने इसका विरोध किया, किन्तु सोरेल और अन्य व्यावहारिक नेताओं ने इसका समर्थन किया। सोरेल का विश्वास था कि शारीरिक हिंसा में उन तत्वों का समावेश है जो मनुष्य को उन्नत करते हैं, उनमें वीरता, साहस और आत्म-सम्मान की भावना पैदा करते हैं।

प्रत्यक्ष आन्दोलन के दो प्रमुख साधन हैं—(१) ध्वंस (Saborage) और हड़ताल (strike)। ध्वंस (Sabotage) शब्द फ्रेंच शब्द Sabot (Wooden Shoe) से निकला है इसका अर्थ है तोड़-फोड़ या नष्ट करना।[1] १८९० के बाद

---

1 'The term "Sabotage" indicates a policy of injuring an employer s property or business through sluggish, bung-

के वर्षों में इंग्लैण्ड के एक औद्योगिक संघ द्वारा कार्यान्वित के-केनी (Ca-Canny Go Slow) की नीति से लिया गया है। अतः ध्वंस से अभिप्राय है ऐसे कार्य या उपाय, जिनके द्वारा श्रमिक-वर्ग जान-बूझ कर उत्पादन को क्षति पहुँचाये जिससे कि पूँजीपतियों का कम लाभ हो। किन्तु संघवादी ऐसी ध्वंसात्मक नीति के समर्थक नहीं थे जिससे जनसाधारण की कोई हानि हो। उनका एकमात्र लक्ष्य पूँजीपति-वर्ग को हानि पहुँचाना था। ध्वंस या तोड़-फोड़ के अनेक ढंग हैं, जैसे—

(१) श्रमिकों को पूँजीपतियों की वस्तुओं को तोड़-फोड़ देना या बिगाड़ देना चाहिए। एक मशीन को तोड़-फोड़ देने या बिगाड़ देने के लिए थोड़ी सी धूल या कंकड़ी ही पर्याप्त है। यह कार्य बड़ी सरलता से हो सकता है। एक दर्जी एक सूट को बड़ी आसानी से खराब कर सकता है। इसी प्रकार एक नौकर बजाज की दुकान पर है, चुपके से थान के बीच में तेजाब छिड़क सकता है।

(२) माल तैयार करते समय कुछ खराबी कर देना, जैसे कपड़े के थान को बुनते समय उसका कुछ भाग बिना बुने छोड़ देना।

(३) बाहर भेजी जाने वाली वस्तुओं के पार्सल पर अशुद्ध पते लिख देना जिससे जहाँ जाना है वहाँ नहीं जा सके। उदाहरणार्थ, किसी पार्सल को देहली जाना है किन्तु देहली के स्थान पर अहमदाबाद लिख देना।

(४) किसी वस्तु को इतना अच्छा तैयार करना कि उसकी कमी पड़ जाय और मूल्य भी बढ़ जाय।

(५) 'जैसा वेतन वैसा काम'। यदि वेतन कम मिलता है तो काम भी खराब करना। इसे 'के-केनी' नीति के नाम से पुकारते हैं।

(६) पूँजीपति की दुकान पर आकर ग्राहक को चुपके से चीज की असली कीमत को बता देना और उसके दोषों को भी प्रकट कर देना।

संघवादी अपनी इस ध्वंसात्मक नीति को छापामार युद्ध (Gorilla warfare) की संज्ञा देते हैं। उनका विश्वास है कि एक सैनिक युद्ध में जो महत्ता छापामार युद्ध की है वही महत्व श्रमिकों के कार्यक्रम में ध्वंसात्मक नीति का भी है।

हड़ताल—संघवादी हड़ताल को बड़ा महत्व देते हैं। हड़ताल से अभिप्राय है श्रमिकों का संगठित रूप से काम बन्द कर देना। संघवादियों का विचार था

---

ling, wasteful, or positively damaging acts-done either while the worker remains on the job or in connection with strikes.' (Coker)

कि प्रत्येक हड़ताल शिक्षण तथा अनुशासन की एक पद्धति है और वर्गीय एकता की भावना को जागृत करती है। इससे श्रमिक-आन्दोलन सुदृढ़ होता है। वे वर्ग संघर्ष के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। यदि हड़ताल में पराजय मिलती है तब भी यह लाभप्रद है क्योंकि आज की पराजय भावी विजय की सूचक है और उन दोषों की, जिनके कारण विफलता मिली है, भावी संघर्षों में पुनरावृत्ति नहीं हो पाती। संघवादी मार्क्स के इस विचार से सहमत हैं कि आर्थिक शक्ति अन्य शक्तियों की कुंजी है। वे राजनीतिक कार्यक्रम को व्यक्तिवादी, किन्तु हड़ताल को समष्टिवादी समझते हैं। मजदूर एक ही विचार के नहीं होते। राजनीतिक विषयों में उनकी विभिन्न विचारधाराएँ हो सकती हैं। किन्तु जहाँ तक आर्थिक हितों का प्रश्न है, वे सभी के समान हैं। अतः हड़ताल श्रमिकों की एकत्व भावना को अभिव्यक्त करती है जब कि राजनीति में इसका अभाव है। वे एक साथ हड़ताल कर सकते हैं किन्तु एक साथ मतदान नहीं। 'एक राजनीतिक दल बहुत ही कमजोर सत्ता हो सकता है। दल की बैठकें भी स्थगित होती हैं। व्यक्ति विभक्त भी हो जाते हैं। मिलन भी कम हो पाता है। इसके द्वारा सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतः हड़ताल एक प्रमुख साधन है जो श्रमिकों को एकसूत्र में बाँधता है। यह वर्ग-युद्ध का एक मोर्चा भी है, जिसमें सफलता मिलने पर अन्तिम सफलता सन्निकट होती जाती है। इन छोटी-मोटी हड़तालों का प्रभाव धीरे-धीरे एक दिन सार्वभौम हड़ताल (General Strike) के रूप में परिणत हो जायेगा।

हड़ताल बड़ा ही प्रभावकारी एवं उपयोगी साधन है। इसके द्वारा विभिन्न देशों में आशातीत सफलताएँ मिली हैं, जैसे १८९१ में बेलजियम में हड़ताल द्वारा भयभीत होकर वहाँ की सरकार ने प्रजातांत्रिक-मताधिकार-सम्बन्धी विधि बनाई, १९०२ में स्वीडेन में मताधिकार का विस्तार हुआ, १९०५ में रूस में जार ने वैधानिक संस्थाओं की स्थापना के लिए आश्वासन दिया, १९२० में वानकोप (Voo hupp) के अधिनायकत्व को पदच्युत कर जनतंत्र को सफलीभूत बनाया, १९२० में इंग्लैण्ड के श्रमिक-वर्ग ने रूस में सैनिक हस्तक्षेप को रोका था।

सार्वभौम हड़ताल—सार्वभौम हड़ताल का विचार संघवादियों का कोई अपना मौलिक विचार नहीं था। १९वीं सदी के अन्त में 'स्वतंत्र समाजवादी' दलों ने इसका समर्थन किया और अन्ततोगत्वा १८९० में पौजे और पैलोट के अथक प्रयास के फलस्वरूप श्रमिकों के राष्ट्रीय संघ ने इसे अंगीकार किया। सार्वभौम हड़ताल से अभिप्राय 'सहानुभूतिपूर्ण हड़ताल' या 'राजनीतिक हड़ताल'

से नहीं है। इन दोनों प्रकार की हड़तालों का लक्ष्य केवल उद्योगपतियों का ध्यान आकर्षित करना या राजनीतिक परिवर्तन की माँग करना या कुछ सुविधाओं की उपलब्धि के लिए धमकी देना मात्र है। सार्वभौम हड़ताल तो सामान्य आर्थिक एवं सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रयत्न आन्दोलन का एक साधन है। यह एक ऐसा अद्वितीय शस्त्र है जिसके द्वारा पूँजीपति और शासक दोनों श्रमिकों के सम्मुख नतमस्तक होते हैं। संघवादियों का विश्वास था कि एक दिन ऐसा होगा जब कि जागरूक श्रमिक-वर्ग सार्वभौम हड़ताल करेंगे। यह सार्वभौम हड़ताल सफल होगी और पूँजीवाद का अन्त होगा तथा शोषण-रहित समाज की स्थापना होगी।

सारेल ने सार्वभौम हड़ताल के मन्थ-श्रद्धा-सम्बन्धी मूल्य पर बल दिया था। उसने कहा था कि सार्वभौम हड़ताल आवश्यक रूप में मार्क्सवादी है। मार्क्स का कथन था कि सभी विगत क्रान्तियाँ अल्पसंख्यकों के द्वारा हुई थीं और भावी-क्रान्ति भी इन्हीं के द्वारा होगी। संघवादियों का मार्क्स के इस कथन में विश्वास था और वे सार्वभौम हड़ताल को क्रान्ति समझते थे।

सार्वभौम हड़ताल के सम्बन्ध में कुछ संशोधन भी हुए थे। पुराने संघवादियों की धारणा थी कि श्रमिकों को केवल काम बन्द कर देने से ही सार्वभौम हड़ताल सफल हो जायेगी और हिंसात्मक कार्यों को नहीं अपनाना पड़ेगा। नवीन संघवादियों ने इससे असहमति प्रकट की। वे इतने कार्य को ही पर्याप्त नहीं समझते थे। उनका दृढ़ मत था कि सार्वभौम हड़ताल करने से पूर्व मजदूरों को कुछ आवश्यक कार्य करने होंगे, जैसे—(१) श्रमिकों को बाजार लूट लेने चाहिए, जिससे कि वे भूखे नहीं मरें और हड़ताल सुचारु रूप से चल सके। ( ) हड़ताल करने से पूर्व मशीनों को नष्ट भ्रष्ट कर देना चाहिए, जिससे कि नये मजदूर उनके स्थान पर न रखे जा सकें। यदि मजदूरों के उपर्युक्त कार्यों में सरकार बाधक बनती है तो उन्हें शक्ति का प्रदर्शन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सार्वभौम हड़ताल के सम्बन्ध में एक और भी संशोधन हुआ कि सभी उद्योगों के मजदूरों को हड़ताल में भाग नहीं लेना चाहिए। केवल मुख्य उद्योग (hey Industries) जैसे कोयले की खानें, बिजली के कारखाने और रेल आदि के श्रमिक ही इसमें सम्मिलित होने चाहिए, क्योंकि छोटे उद्योगों का जीवन मुख्य उद्योगों पर निर्भर करता है। मुख्य उद्योगों का कार्य बन्द होने पर छोटे उद्योग अपने आप ही बन्द हो जायेंगे। इस प्रकार थोड़े ही श्रमिकों द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो सकता है।

भावी समाज

अधिकांश संघवादी आदर्श भावी समाज का चित्रण करना व्यर्थ एवं अप्रासंगिक समझते थे। सोरेल का कथन था, यदि भावी समाज की व्यवस्था का चित्रण किया गया तो वह कल्पना एवं अन्तर्ज्ञान की समाप्ति ही जायेगी, जो संघवादी-शक्ति का मूल स्रोत है। इस प्रकार संघवादियों के पास क्रान्तिकारी कार्यक्रम था भावी समाज की रूप रेखा नहीं। भावी समाज की रूप-रेखा अराजकतावादियों के पास थी, जब कि उनके पास कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं था। संघवाद और अराजकतावाद के उद्देश्य में कोई विभिन्नता नहीं थी। दोनों ही पूँजीवाद और राज्य का विनाश चाहते थे। फलतः दोनों विचार-धाराओं के समर्थकों ने एक साथ मिल कर श्रमिक आन्दोलन में कार्य किया। भावी समाज का चित्रण केवल उन्हीं संघवादियों ने किया था जो पहिले अराजकतावादी थे, किन्तु बाद में संघवादी हो गये थे। यद्यपि पैलोटे ने भी भावी संगठन की रूप-रेखा पर अपने विचार व्यक्त किये थे, किन्तु पीत तथा पीज द्वारा लिखित पुस्तक 'हम क्रान्ति किस प्रकार करेंगे' (How we shall bring about the Rev lution), इस सम्बन्ध में काफी प्रकाश डालती है।

संघवादियों ने भावी समाज की रूपरेखा बोर्स तथा सी.जी.टी. के आधार पर बनाई। बोर्स एक स्थानीय संस्था थी और सी.जी.टी. एक राष्ट्रीय संस्था। बोर्स जैसे स्थानीय संघ ही सभी स्थानीय विषयों का संचालन करेंगे। उनके अन्तर्गत कारखानों की इमारतें मशीनें आदि होंगी। वे उत्पादन का संचालन करेंगे और विशेष मामलों के लिए नियमों का कार्यान्वयन भी। राष्ट्रव्यापी कार्य सी.जी.टी. जैसी राष्ट्रीय संस्था के हाथों में रहेंगे—जैसे डाक, तार और रेल आदि। स्थानीय संघों को पूर्ण स्वतंत्रता होगी। राष्ट्रीय संस्था द्वारा समस्त उद्योगों में एकरूपता लाने का प्रयास किया जायेगा, जैसे बच्चों रोगियों और वृद्धों की देखभाल, कार्य के लिए अल्पतम और अधिकतम आयु का निर्णय तथा काम के घण्टे और मजदूरी का निर्धारित करना। राष्ट्रीय संघ से उच्चतर या नियंत्रणकारी अन्य कोई संस्था नहीं होगी। इस प्रकार सामाजिक संगठन अराजकतावादी भी होगा और बहुलतावादी भी। ऐसे समाज में जनतंत्र व्यापक रूप में होगा। उसमें विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व विभिन्न व्यावसायिक संघों द्वारा होगा। संघवादी समाज में राज्य और सरकार के लिए कोई स्थान नहीं होगा। सार्वभौम राज्य का स्थान स्वतंत्र संघ ले लेंगे, जिनकी व्यवस्था उनमें काम करनेवाले श्रमजीवी उत्पादकों

द्वारा होगी। इसी कारण संघवादी सिद्धान्त उत्पादकों की सत्ता (Producers Control) का दर्शन कहा गया है।

वैसे समाज में अनुशासन-सम्बन्धी दण्ड-व्यवस्था भी होगी। मुनाफाखोर समाज से बहिष्कृत कर दिये जायेंगे और आलसी तथा वे व्यक्ति जो उस नवीन सामाजिक व्यवस्था का विरोध करेंगे निर्वासित कर दिये जायेंगे। स्थानीय संघ अपने सदस्य के 'मालक-विरोधी कार्यों' के लिए नैतिक दण्ड देंगे जो कि बहिष्कार के रूप में होगा। गम्भीर अपराधों के लिए निर्वासन का दण्ड भी निर्धारित होगा। अपील का भी अधिकार होगा। बन्दीगृह और न्यायालयों का उन्मूलन कर दिया जायेगा।

संघवादियों के अनुसार किसी राष्ट्रीय सेना की आवश्यकता नहीं होगी। न सैनिक पाठशालाएँ होंगी, न सैनिक बैरकें और न विनाशकारी शस्त्रों की व्यवस्था होगी। प्रत्येक मजदूर संघ में स्वयंसेवक-सेना होगी, जिसका काम अपने क्षेत्र में आवश्यक शान्ति या व्यवस्था बनाये रखना होगा।

संघवाद की विशेषताएँ

(१) संघवाद पूँजीवादी राज्य का विरोधी है। यह राज्य को अनावश्यक संस्था समझता है, जो शोषण तथा अन्याय का प्रतीक है।

(२) यह एक ऐसा दर्शन है जो पूर्णतः श्रमिकों के मस्तिष्क की उपज है।

(३) यह आर्थिक क्षेत्र में उत्पादकों के नियंत्रण का पक्षपाती है।

(४) संघवाद के पास समष्टिवाद की भाँति कोई आदर्श भावी समाज की रूपरेखा नहीं है।

(५) संघवादी राजनीतिक कार्यक्रम में विश्वास नहीं करते। वे प्रत्यक्ष आन्दोलन बहिष्कार, सेबिंग तोड़-फोड़ और हड़ताल में विश्वास करते हैं।

(६) यह राज्य के स्थान पर स्थानीय एवं राष्ट्रीय संघों को प्रतिष्ठित करना चाहता है।

(७) यह राष्ट्र प्रेम, सैनिकवाद संसद राजनीतिक दल, मध्यमवर्ग और स्व विरोधी दर्शन है।

संघवाद की आलोचना

(१) यह दर्शन उत्पादकों के हितों का रक्षक है, जब कि उपभोक्ताओं के हितों की उपेक्षा करता है। सभी संघों के नीति-निर्धारण में उत्पादकों का ही

हाथ रहेगा और उपभोक्ता इस अधिकार से वंचित रहेंगे। ऐसी स्थिति में यह सन्देह होता है कि कहीं उत्पादक स्वेच्छापूर्वक जनता से वस्तुओं के दाम वसूल न करने लगें। उनकी इस स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए कोई भी उच्चतर सत्ता नहीं है। इसके अतिरिक्त उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के हितों में विरोध है, क्योंकि प्रथम अपने श्रम का अधिकतम मूल्य चाहेगा, जब कि द्वितीय कम-से-कम दाम पर वस्तु खरीदने का प्रयत्न करेगा। संघवादियों के पास कोई ऐसी समन्वयकारी संस्था (Co-ordinating body) नहीं है जो इस हित-विरोध को रोक सके।

(२) यह भी सम्भावना हो सकती है कि जिन व्यवसायों में अधिक लाभ हो वहाँ जुल्मजबरदस्ती पनपने पावे। ऐसे संघों के सदस्य केवल अपने ही निकटवर्ती व्यक्तियों को स्थान दें और अन्य व्यक्तियों को उसमें सम्मिलित नहीं होने दें और अपना एकाधिकार स्थापित कर लें।

(३) संघवाद के अनुसार आर्थिक उत्पादन पर केवल उत्पादकों का ही एकाधिपत्य होगा, जो कि दोषपूर्ण है। श्रमजीवी-वर्ग नये आविष्कारों या सुधारों को सोचने का प्रयास नहीं करेगा। श्रमिक काम करने की पुरानी पद्धति से ही चिपटा रहना पसन्द करेंगे, क्योंकि एक तो वे पुरानी पद्धति में निष्णात हैं और दूसरे उन्हें बेरोजगारी का भय होगा। किसी भी नवीन आविष्कार का यह फल होता है कि कम-से-कम मजदूरों की आवश्यकता पड़े। अतः श्रमिक-वर्ग नवीन आविष्कारों का स्वागत नहीं करता। इस प्रकार उद्योग-धंधों में नवीन आविष्कारों का प्रयोग नहीं हो सकेगा।

(४) संघवाद राज्य का विरोधी है। ऐसी दशा में जब राज्य नहीं होगा तो विभिन्न वर्गों के पारस्परिक मतभेद तथा विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय कौन करेगा? जब कोई सन्तुलनकारी संस्था नहीं होगी तो आन्तरिक अव्यवस्था फैलने की आशंका रहेगा।

(५) संघवादी भावी समाज की रूपरेखा क्या होगी इस विषय में एकदम मौन उनके दौर्बल्य का द्योतक है।[1] अतः यह दर्शन अस्पष्ट है।

(६) संघवादी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ध्वंसात्मक साधनों को अप-

---

1 "It (Syndicalism) offered, therefore, a policy primarily of revolution, not of administration. Most syndicalists held that it was not necessary or reasonably possible to plan constructively for the future organisation of society" (Coker)

जाते हैं जो कि तर्कसंगत नहीं है। यदि श्रमिकों को हड़ताल से पुन बाजारों को लूट कर और मशीनों को तोड़ कर सफलता मिल भी गयी तो उनके हाथ क्या लगेगा ? किस प्रकार वे नष्ट-भ्रष्ट उपायों को लागू करेंगे ? इसके अतिरिक्त उनके तोड़-फोड़ के कार्यों से पूंजीपतियों की ही हानि नहीं होती, अपितु राष्ट्रीय सम्पत्ति की क्षति होती है जो कि एक अनैतिक कृत्य है। अतएव हिंसात्मक उपायों की अपेक्षा श्रमिकों को वैधानिक साधनों को अपनाने की ओर प्रेरित करना चाहिए। वैधानिक साधनों द्वारा भी उन्हीं फलों की प्राप्ति की जा सकती है जो कि हिंसात्मक साधनों द्वारा होगी। इसके अतिरिक्त एक जनवादी सरकार में, 'एक आम हड़ताल अनावश्यक है, क्योंकि एक आम चुनाव सदा सन्निकट ही होता है।'[1] फिर समाज की उत्पादक शक्ति न तो इन हिंसात्मक साधनों द्वारा अभिव्यक्त ही होती है और न पुष्ट ही।[2-3]

---

1 "A general strike is unnecessary because a general election is never far off"

2 "The Creative Vitality of Society is neither expressed nor strengthened by sabotage, riots destruction of industrial Capital or any one of the other minor Violences of the syndicalist programme" (Ramsay Macdonald)

3 "Pure syndicalism, however, is not very likely to achieve wide popularity in Great Britain. Its spirit is too revolutionary and anarchic for our temperament" (Bertrand Russell)

: ६ :

श्रेणी समाजवाद (Guild-Socialism)

जिस प्रकार 'संघवाद' फ्रांस की देन है, उसी प्रकार 'श्रेणी-समाजवाद' ब्रिटेन की देन है। यह सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत एवं विकसित हुआ। इसका श्रेय ए० जी० पेन्टी (A G Penty) को है। श्रेणी-समाजवादी विचारकों को संघवाद के समान विरोधी विचार ने प्रेरित किया था। इस वर्ग के अनुसार पूँजीपतियों की प्रभुता का अन्त कर आर्थिक जीवन का संचालन उत्पादकों व श्रमिकों द्वारा होना चाहिए। उद्योगों के प्रबन्ध हेतु श्रमिकों की श्रेणी (Guild) होनी चाहिए, जिसके सदस्य वे सभी व्यक्ति होंगे जो उस उद्योग में काम करते हैं। उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का एकाधिकार होगा। वे ही व्यवस्थापक होंगे। इस प्रकार उद्योग स्व-शासित प्रणाली पर आधारित होगा। श्रेणी समाजवाद क्रान्ति की अपेक्षा [illegible] एवं शान्तिमय उपायों में विश्वास करता है और सामाजिक व्यवस्था में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं चाहता

श्रेणी-समाजवाद का विकास

श्रेणी (Guild) मध्य युग की एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक संस्था थी। पूँजीवाद के उदय से पूर्व व्यवस्था का संचालन श्रेणियों द्वारा होता था। प्रत्येक उद्योग का एक संगठन होता था, जिसे श्रेणी कहते थे। यूरोप के आर्थिक जीवन में इनकी प्रधानता थी। बौद्धकालीन भारत में भी ये स्थापित थीं और इनका सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में विशिष्ट स्थान था। श्रेणी में उस व्यवसाय के समस्त श्रमिक सम्मिलित रहते थे। यह अपने सदस्यों की रक्षा एवं सहायता भी करती थी। श्रेणी द्वारा मजदूरी की दर, वस्तुओं का मूल्य, आयात निर्यात वस्तु की उत्कृष्टता और श्रम-सम्बन्धी अन्य बातें निर्धारित होती थीं। उत्पादन के साधनों पर मजदूरों का व्यक्तिगत अधिकार था। उन्हें अपनी कला को प्रदर्शित करने के अवसर भी उपलब्ध होते थे। उत्पादक श्रमिक [illegible] प्रबन्धक थे। वे ही उत्पादन के स्वरूप और मात्रा को निश्चित करते थे। उनका कोई बाह्य स्वामी नहीं था जिसके आदेशों का वे पालन करते। इस प्रकार श्रेणी स्व-शासित संस्था

(Self governing body) थी। किन्तु यूरोपीय व्यावसायिक क्रान्ति ने इस प्रथा का अन्त कर दिया। आज की आर्थिक व्यवस्था में श्रमजीवी-वर्ग स्वतंत्र नहीं है। उसे पूँजीपतियों के आदेशानुसार काम करना पड़ता है। उसे उदरपूर्ति हेतु थोड़ी-सी मजदूरी मिल जाती है और अपनी सृजन-शक्ति के प्रयोग की कोई सुविधा नहीं मिलती। इसमें श्रमिक के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं है। वेतन प्रथा दासत्व की परिचायक है। इस प्रकार श्रेणी समाजवादी मध्ययुगीन श्रेणिक प्रथा को, जिसकी आधार-भित्ति श्रेणी थी, कुछ संशोधनों के साथ पुनर्जीवित करना चाहते हैं।

उत्पत्ति की दृष्टि से श्रेणी समाजवाद विशुद्ध रूपेण एक आंग्ल दर्शन है। सर्वप्रथम १९०६ में ए. जी० पेण्टी की पुस्तक 'रेस्टोरेशन ऑफ दि गिल्ड सिस्टम' (Restoration of the Guild system) ने लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। पेण्टी एक शिल्पकार था। वह श्रेणी-समाजवादी होने से पूर्व फेबियन सोसाइटी (Fabian Society) तथा इण्डिपेण्डेण्ट लेबर पार्टी (Independent Labour party) का सदस्य था। किन्तु उसने इन संस्थाओं से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया क्योंकि ये संस्थाएँ केन्द्रीभूत राजनीतिक समाजवाद (Centralised Political Socialism) पर विशेष बल देती थीं। पचास वर्ष पूर्व समाजवादी आन्दोलन के सम्बन्ध में मोरिस (William Morris) के भी यही विचार थे। मोरिस कवि और लेखक ही नहीं था अपितु सक्रिय समाजवादी कार्यकर्ता भी था। वह सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन (Social Democratic Federation) का प्रमुख सदस्य था। मोरिस का विश्वास था कि कला का मानव-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिए। यही विचार उसके समाजवादी बनने में सहायक हुआ। मोरिस की भाँति पेण्टी भी यही सोचता था कि पूँजीवाद ने प्रत्येक प्रकार के कलात्मक या रचनात्मक कार्य को असम्भव बना दिया है। आज कला कलाकार के लिए कला दर्शन न होकर जीवन-निर्वाह का ध्येय हो गई है। पेण्टी का समाजवाद की ओर आकर्षित होने का प्रमुख कारण यही था कि वह आधुनिक व्यापारवाद पर प्रहार कर रहा था। किन्तु उसे भी मोरिस की भाँति शीघ्र ही समाजवादियों से निराश होना पड़ा। उसके इस निराश होने की एक रोचक कहानी भी है। फेबियन लन्दन स्कूल ऑफ इकनामिक्स (London School of Economics) के संस्थापक थे। एक दिन पेण्टी को यह मालूम हुआ कि इस स्कूल का भवन-निर्माण का ठेका उस व्यक्ति को दिया गया है जो फेबियनों के इच्छानुसार भवन का निर्माण करे। इस घटना से

पेण्टी के मानस को बड़ी चोट पहुँची। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समाजवाद में श्रमिकों को कला-प्रदर्शन की स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं है। उसके पास कला-प्रदर्शन के लिए कोई ठोस हल नहीं है। समाजवाद केवल श्रमिक के आर्थिक लाभ पर विशेष बल देने के अतिरिक्त नैसर्गिक रचनात्मक प्रवृत्ति के पुनर्जीवन की कोई योजना नहीं रखता। अतः पेण्टी ने उद्योगों में मध्यकालीन युग की भाँति श्रेणियों के आधार पर उद्योगों में स्व शासन की प्रथा का प्रतिपादन किया।

श्रेणी समाजवाद के अन्य विचारकों में ए० आर० ओरेज (A. R Orage), एस० जी० होब्सन (S. G Hobson) और जी० डी० एच० कोल (G D H Cole) प्रमुख हैं। ये सभी फेबियन सोसाइटी के सदस्य थे। ओरेज और होब्सन दोनों ने 'न्यू एज' (New Age) पत्र द्वारा, जिसकी स्थापना १९०० में फेबियन सोसाइटी के द्वारा हुई थी, पूँजीवाद पर जबर्दस्त प्रहार किया और केन्द्रीभूत समाजवाद की आलोचना की। उन्होंने अपने लेखों में उद्योग क्षेत्र में स्व शासन के सिद्धान्त के प्रयोग पर बल दिया। उनका मत था कि कारखानों का प्रबन्ध एवं संचालन श्रमिकों की श्रेणियों द्वारा होना चाहिए। उन्होंने मध्यकालीन श्रेणियों के पुनरुद्धार हेतु राष्ट्रीय श्रेणियों की एक व्यापक योजना भी बनाई। श्रेणी-समाजवाद के प्रचार एवं प्रसार हेतु १९१५ ई० में नेशनल गिल्ड लीग (National Gold League) की स्थापना की गई। इंगलैण्ड का श्रमिक-आन्दोलन भी श्रेणी-समाजवादी विचारों से प्रभावित हुआ और अनेक नवयुवक इसके सदस्य हो गये। कोल, जिसका श्रेणी-समाजवादी विचारकों में विशिष्ट स्थान था अपनी रचनाओं द्वारा बड़ा लोकप्रिय हो गया। वह श्रेणी-समाजवादियों में सर्वप्रमुख था। उसने प्रथम महायुद्ध के बीच सेल्फ गवर्नमेण्ट इन इण्डस्ट्री (Self Government in Industry) तथा १९२० ई० में गिल्ड सोशलिज्म रेस्टेटेड (Guild Socialism Restated) और सोशल थ्योरी (Social Theory) नामक पुस्तकें लिखीं। उसने इनमें श्रेणी-समाजवाद के आलोचनात्मक एवं रचनात्मक विचारों की विशद रूप में विवेचना की है। ये श्रेणी-समाजवाद की आधारभूत पुस्तकें हैं। किन्तु १९२५ ई० में नेशनल गिल्ड लीग का अन्त हो गया और यह दर्शन भी विलुप्त हो गया। कोल इस दर्शन का प्रमुख विचारक भी, श्रेणी समाजवादी आन्दोलन की समाप्ति के उपरान्त, समष्टिवाद का समर्थक हो गया।

श्रेणी-समाजवाद, संघवाद और समष्टिवाद की तुलना

श्रेणी-समाजवाद संघवाद और समष्टिवाद के बीच का दर्शन है। रोको (Rockow) ने ठीक ही कहा है, "श्रेणी-समाजवाद अंग्रेजी फेबियनवाद तथा फ्रांसीसी संघवाद का बौद्धिक शिशु है।"[1]

फेबियनवाद अंग्रेजी जनता को अपने विचारों की ओर आकर्षित करने में सफलीभूत नहीं हो सका क्योंकि वह पूँजीवाद के दोषों को दूर करने में असमर्थ रहा। उसमें श्रमिकों को अपने कला-प्रदर्शन एवं अपने श्रम की शर्तें निर्धारित करने की शक्ति की स्वतंत्रता नहीं थी। संघवाद भी आंग्ल जनता की अभिरुचि के अनुकूल नहीं था क्योंकि वह अधिक क्रान्तिकारी था और उसका झुकाव अराजकतावाद की ओर था। वह राज्य-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता था। स्वतंत्रता अंग्रेजी जनता के लिए जीवन तत्व है। उसमें उसकी अगाध निष्ठा है अतः अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने समष्टिवाद या फेबियनवाद तथा संघवाद के मध्यम मार्ग को अपनाया। श्रेणी-समाजवाद संघवाद की प्रमुख विशेषताओं को अंगीकार करता है। वस्तुतः उसने एक के दोषों को दूर कर अन्य के गुणों को अपनाया। निम्नलिखित विभेद उसकी स्थिति पर प्रकाश डालता है—

१ श्रेणी समाजवाद संघवादियों की भाँति आर्थिक जीवन का संचालन उत्पादकों व श्रमिकों के अन्तर्गत रखना चाहता है किन्तु संघवादियों से उसका मतभेद उपभोक्ताओं की स्थिति पर है। श्रेणी-समाजवाद आर्थिक जीवन के संचालन एवं नियंत्रण में उत्पादकों के साथ-साथ उपभोक्ताओं को भी यथोचित स्थान देना चाहता है, जब कि संघवाद केवल उत्पादकों व श्रमिकों का ही एकाधिकार चाहता है। अतः श्रेणी-समाजवाद उपभोक्ताओं का भी एक पृथक् संगठन चाहता है। वह उत्पादकों को मनमानी करने का अवसर प्रदान नहीं करता, क्योंकि इससे सार्वजनिक हित होना सम्भव नहीं होगा।

२ समष्टिवाद राज्य को एक आवश्यक संस्था समझता है। अतः वह उसके कार्य क्षेत्र के विस्तार पर बल देता है। इसके विपरीत संघवाद राज्य को एक अनावश्यक बुराई समझता है और उसका उन्मूलन चाहता है। वह आर्थिक एवं राजनीतिक विषयों को अलग-अलग संघों में विभाजित कर देना चाहता है।

---

1 Guild Socialism is, "the intellectual child of English Fabianism and French Syndicalism." (Rockow)

श्रेणी-समाजवाद इन दोनों सिद्धान्तों के मध्य-मार्ग को अपनाता है। श्रेणी-समाजवाद की भाँति वह नहीं चाहता कि राष्ट्र के उद्योग-धन्धों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण रहे और न संघवाद की तरह उसका पूर्णत: अन्त ही चाहता है। वह राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है, किन्तु उसे इतने कार्य नहीं देना चाहता जितने कि समष्टिवाद देता है। श्रेणी-समाजवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र को आर्थिक की अपेक्षा राजनीतिक क्षेत्र तक ही परिमित करना चाहता है। वह आर्थिक क्षेत्र में इसका हस्तक्षेप नहीं चाहता।

२ जिस प्रकार साध्य के सम्बन्ध में उसी प्रकार साधनों के सम्बन्ध में भी श्रेणी-समाजवाद समष्टिवाद और संघवाद के बीच का मार्ग अपनाता है। श्रेणी समाजवाद की आस्था विकासवाद में है, क्रान्ति में नहीं। वह समष्टिवाद की भाँति न तो संवैधानिक साधनों में और न संघवाद की तरह हिंसात्मक एवं विध्वंसात्मक (Sabotage) साधनों में ही विश्वास करता है। श्रेणी-समाजवाद 'शनै-शनै बढ़ते हुए नियंत्रण (Encroaching Control) की नीति तथा सामूहिक ठेके (Collective contract) की प्रणाली को अपनाता है। वह हड़ताल को उचित समझता है, किन्तु संगठित विद्रोह को व्यर्थ मानता है।

श्रेणी-समाजवाद का दर्शन

पूँजीवादी समाज—श्रेणी समाजवादी पूँजीवादी समाज की आलोचना अन्य परम्परागत समाजवादियों की भाँति ही करते हैं। वे कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (The Theory of Surplus Value) से पूर्णतया सहमत हैं। उनका विश्वास है कि वस्तुओं का मूल्य श्रम द्वारा ही निश्चित होता है। श्रमिक ही मूल्य को पैदा करता है। मजदूर के वेतन को छोड़ कर शेष भाग, जो कि मूल्य का अतिरिक्त भाग है, जिसे वह उत्पन्न करता है, पूँजीपतियों की जेबों में चला जाता है। इस प्रकार यह पूँजीवादी व्यवस्था अन्याय पूर्ण एवं दूषित है। इस व्यवस्था में श्रमिक-वर्ग का हितचिन्तन नहीं हो सकता क्योंकि यह शोषण पर आधारित है। श्रमिक इसमें दास के समान हैं। कोल का कहना है "दासता एक रोग है और निर्धनता उस रोग का लक्षण। यदि रोग का उपचार हो जाय तो लक्षण अपने आप ही विलुप्त हो जायेगा। किन्तु इस दासता का प्रमुख कारण मजदूरी की प्रथा है, जिसका उन्मूलन हो जाना चाहिए। इस व्यवस्था में उत्पादन को भी प्रोत्साहन नहीं मिलता, क्योंकि श्रमिक-वर्ग अपनी दीन-हीन दशा से विमुक्ति पाने के लिए विवश होकर हड़ताल करता

है। हड़ताल के कारण उत्पादन घटता है। इसके अतिरिक्त मजदूर उत्पादन वृद्धि में कोई विशेष अभिरुचि नहीं लेता, क्योंकि वह निर्धारित वेतन पाता है। अधिक कार्य करने का अर्थ होगा अतिरिक्त मूल्य में वृद्धि करना, जिस पर उसका एकाधिकार न होकर पूँजीपति का होगा। कोल के मत में, 'श्रमिक सोचता है कि पूँजीपति के लिए अधिक और श्रेष्ठ काम करने का अभिप्राय है चोर की चोरी में सहायता प्रदान करना।' अतः श्रमिक उत्पादन-वृद्धि में कोई दिलचस्पी नहीं लेता। फिर पूँजीपति के लिए उत्पादन केवल एक सट्टा है। उसके उत्पादन का आधार सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावना न होकर व्यक्तिगत स्वार्थपरता है। समाज और राष्ट्र को जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, वह इस दृष्टिकोण से उत्पादन नहीं करता अपितु केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनसे उसे अधिक लाभ हो सके।

श्रेणी-समाजवादी पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की आलोचना केवल विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं करते, वरन् नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी करते हैं। आर० एच० टानी (R H Tawney), बरट्रण्ड रसेल (Bertrand Russell) और आर० डी० मेजतू (R De Maeztu) ने सम्पत्तिक अधिकार क व्यावसायिक आधार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में सम्पत्ति का नैतिक औचित्य तभी सम्भव है और उसे उसी हद तक सामाजिक सुरक्षा का उचित अधिकार है, जहाँ तक उसका सम्बन्ध सामाजिक सेवा से है। आज के समाज के आर्थिक जीवन का समस्त संगठन कार्य-सम्पादन के सिद्धान्त की अपेक्षा सम्पत्ति-प्राप्ति के सिद्धान्त पर आधारित है, जो सर्वथा अनुचित है। मेजतू का कथन था कि अधिकार प्राकृतिक तथा आत्मगत नहीं होते, वरन् विषयगत होते हैं। उनका सम्बन्ध कार्यों से होता है। बिना कार्य के कोई अधिकार नहीं होता। अतः पूँजीपति की उद्योग में कोई भी स्थान नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि उत्पादन में उसका कोई काम नहीं होता।

इसके अतिरिक्त श्रेणी-समाजवादियों के अनुसार पूँजीवादी उत्पादन में सौन्दर्य एवं नवीनता का ह्रास होता है। क्योंकि श्रम-विभाजन के कारण मजदूर निरन्तर एक-से ही कार्य करने में अपना जीवन बिताता है। उसे उस उत्पादित वस्तु में अपनी कला के दर्शन नहीं होते। जैसा पूँजीपति चाहता है वह वैसा ही माल तैयार करता है। वह एक मशीन की भाँति है। उसे अपने कार्य में कोई विशेष अभिरुचि नहीं होती, क्योंकि उसे अपने कला-प्रदर्शन का कोई अवसर ही उपलब्ध नहीं होता। फलतः मजदूर का अथक परिश्रम उसकी कलात्मक

प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा उसका दमन करता है। मध्यकालीन प्रथा में श्रमिक को अपने कला-प्रदर्शन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वह एक वस्तु का आद्योपान्त निर्माता था। उसे अपने कला-प्रदर्शन में सुखानुभूति होती थी। वह गौरवान्वित होता था। अतः श्रेणी-समाजवादी ऐसी प्रणाली की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जिसमें कि श्रमिक को अपने चातुर्य के विकास का सुअवसर मिले। वह अपने कार्य में आत्म-गौरव एवं आत्म-तोष का अनुभव करे तथा उसकी अभिरुचि धनोपार्जन के साथ-साथ उत्पादन के गुण और उत्कृष्टता में भी हो।

व्यावसायिक जनतंत्र

(Functional Democracy)

श्रेणी-समाजवादी आधुनिक जनतंत्र की भी आलोचना करते हैं। वे उसे असफलतापूर्ण समझते हैं। उनकी दृष्टि में, आधुनिक समाज राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से अपूर्ण है। उनका कथन है कि जो प्रतिनिधित्व-प्रणाली आज कल संसदीय देशों में प्रतिष्ठित है वह भी राजनीतिक क्षेत्र तक ही परिमित है और लाभकारी नहीं है। इस प्रणाली के अनुसार संसद का निर्वाचन ४ या ५ वर्ष के लिए होता है। निर्वाचित प्रतिनिधि से यह आशा की जाती है कि वह सभी हितों का प्रतिनिधित्व भलीभाँति करता है। यह एक भ्रान्त धारणा है। श्रेणी-समाजवादियों का विश्वास है कि एक व्यक्ति के अनेक हित होते हैं। वह नागरिक होने के साथ उत्पादक और उपभोक्ता भी है। अतः एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सभी हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। कोल का यह कहना सर्वथा उपयुक्त ही है कि "मुझसे यह अनुरोध करना कि मैं किसी व्यक्ति की अपनी सम्पूर्ण समस्याओं का प्रतिनिधि बनाऊँ, मेरी बुद्धि को अपमानित करना है।" एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व कर भी सकता है, किन्तु केवल उसी दशा में जब कि उनके हित समान हैं। वे एक ही पेशे से सम्बन्धित हैं—जैसे, एक मुनीम मुनीमों का प्रतिनिधित्व कर सकता है उसी प्रकार एक मोची मोचियों का और दर्जी दर्जियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। किन्तु एक दर्जी मुनीमों या मोचियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, क्योंकि उनके हित परस्पर विरोधी हैं। इस प्रकार श्रेणी-समाजवादियों के मतानुसार प्रतिनिधित्व का आधार भौगोलिक होने की अपेक्षा व्यावसायिक होना चाहिए। कोल का कथन है, "समाज में पृथक् रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों के उतने ही संघ होने चाहिए जितने कि उसमें सामान्य व्यवसायों के स्पष्ट और आवश्यक वर्ग हैं। व्यक्ति को उतने ही भिन्न एवं पृथक् [illegible] होने [illegible]

मत देने का अधिकार होना चाहिए जितने भी उसके सामाजिक उद्देश्य अथवा हित हैं।" इस प्रकार एक व्यवसाय के व्यक्तियों को अपने में से उसी व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि चुनना चाहिए जिसे उनके हितों की पूरी जानकारी हो। ऐसी स्थिति में विविध व्यवसायों द्वारा जो विभिन्न प्रतिनिधि चुने जायेंगे वे ही सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकेंगे और ऐसी सामाजिक व्यवस्था पूर्णतः प्रजातांत्रिक होगी।

किन्तु व्यक्तियों के कुछ हित समान भी होते हैं जिनका सम्बन्ध व्यवसाय या पेशे से नहीं होता। एक ही देश में रहने के कारण कुछ हित ऐसे हैं जो सभी नागरिकों के लिए सामान्य होते हैं, जैसे, देश-रक्षा, वैदेशिक नीति, यातायात के साधन, कर, न्यायव्यवस्था, कानून और कुछ सीमा तक शिक्षा आदि ऐसे राष्ट्रीय हित हैं जिनका सम्बन्ध सभी नागरिकों से एक समान होता है। राज्य ही इन कार्यों के करने के लिए उपयोगी संस्था है। अतः इनका नियन्त्रण एवं संचालन आधुनिक संसदीय पद्धति के अनुसार ही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कुछ हित ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध स्थानीय शासन से होता है। इसके अन्तर्गत विद्युत्, पानी, सफाई, चिकित्सा, पुलिस आदि आते हैं। इन हितों का भी सम्बन्ध किसी पेशे से न होकर सभी व्यक्तियों के लिए समान होता है। अतः इनका प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं, जैसे नगरपालिका से होना चाहिए।

इसी प्रकार आर्थिक उत्पादन की समस्याएँ भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इन विशिष्ट समस्याओं के लिए एक सर्वथा नवीन ढंग के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होती है। उत्पादन-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान उद्योग में काम करनेवाले श्रमिकों द्वारा निर्मित श्रेणी द्वारा होना चाहिए। काम करने के घंटे, कैसा माल तैयार हो, उसकी मात्रा कितनी हो, श्रमिकों की मजदूरी आदि समस्याओं का निर्णय पूँजीपति या सरकार की अपेक्षा श्रमिकों की श्रेणी द्वारा होना चाहिए। किन्तु कुछ प्रश्न ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध उत्पादकों से ही न होकर उपभोक्ताओं से भी है, जैसे उत्पादन की प्रकृति उसकी मात्रा और मूल्य का निर्धारण। अतः ऐसे प्रश्नों का हल उपभोक्ता एवं उत्पादक-समितियों की संयुक्त बैठकों में होना चाहिए। इस प्रकार श्रेणी-समाजवादी व्यावसायिक जनतंत्र के आधार पर निर्मित संघीय राज्य-व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं। उनकी मार्क्स के इस कथन में पूर्ण आस्था थी कि आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की आधार शिला है। आर्थिक जनतंत्र के अभाव में राजनीतिक जनतंत्र अर्थहीन है। औद्योगिक जनतंत्र की प्रतिष्ठा के उपरान्त सामाजिक जनतंत्र का संगठन स्वतः ही हो जायेगा।

श्रेणी-समाज

श्रेणी-समाजवादियों का विश्वास था कि समाज को पूर्णतया जनतंत्रीय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यावसायिक आधार पर संगठित हो। प्रत्येक व्यवसाय की एक श्रेणी होनी चाहिए। श्रेणी में उन समस्त श्रमिकों को चाहे उनके विभिन्न कार्य क्यों न हों, सम्मिलित होना चाहिए, जो उस व्यवसाय में भाग लेते हैं। यह श्रेणी एक स्व-शासित संस्था होगी। किन्तु अधिकांश श्रेणी-समाजवादी मध्यकालीन श्रेणी-पद्धति की पुनःस्थापना को असम्भव मानते थे। उनका कथन था कि मध्यकालीन श्रेणी-पद्धति की भावना के पुनरुद्धार हेतु अधिक मात्रा में स्थानीय स्व-शासन की तो आवश्यकता पड़ेगी, किन्तु साथ साथ राष्ट्रीय संगठन का होना भी जरूरी है। आज विशाल स्तर पर होनेवाले उत्पादन के अनुरूप ही श्रेणी के संगठन को बनाना होगा।

हाब्सन तथा कोल ने भावी श्रेणी-समाज की विभिन्न योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। दोनों के मत में उत्पादन का संचालन श्रेणी द्वारा होगा और उसके संगठन का आधार जनतंत्रीय होगा। वह अपने बाह्य तथा आन्तरिक मामलों में जैसे सदस्यता की शर्तों को निर्धारित करने, कर्मचारियों के चुनाव करने और विभिन्न कार्यालयों को काम देने में स्वतंत्र होगी। प्रत्येक श्रेणी इस प्रकार संगठित की जायेगी कि राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन का समन्वय तथा भिन्न भिन्न जगहों और उद्योगों में जो विभेद हों उनकी रक्षा हो सके, साथ-साथ व्यक्तियों की वैयक्तिक रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल सके। जिन अधिकारियों का कार्य संचालन एवं पथ प्रदर्शन का होगा उनकी नियुक्ति प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा श्रेणी के सदस्यों द्वारा होगी और उन्हें अपदस्थ करने का अधिकार भी होगा। जिन अधिकारियों का कार्य औद्योगिक होगा, उनकी नियुक्ति चुनी हुई समितियों द्वारा होगी। किन्तु हाब्सन ने राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना उचित समझा। उसके अनुसार राज्य द्वारा श्रेणियों का समन्वय किया जायेगा। उपभोक्ता-सम्बन्धी कार्य की दृष्टि से वह सर्वोपरि प्रतिनिधि-संस्था होगी। आदर्शों का प्रतिनिधित्व भी वह करेगा। इस प्रकार राज्य का कार्य न केवल प्रशासन, सैन्य और न्याय-सम्बन्धी कार्यों का ही संचालन होगा, अपितु वह उत्पादन और वितरण का भी कार्य करेगा। राज्य का परम ध्येय समाज-सेवा होगा। इसके विपरीत कोल के अनुसार राज्य का कार्य बड़ा परिमित हो जाएगा और उसका स्थान संघ (Commune) ले लेगा। संघ ही

उसके समस्त कार्यों को सम्पादित करेगा। जब राज्य का कार्य-क्षेत्र उत्तरोत्तर सीमित होता जायेगा तो अन्ततोगत्वा वह विलुप्त हो जायेगा। कोल उपभोग का कार्य राज्य की अपेक्षा सहकारी-समितियों को प्रदान करता है और समन्वय सम्बन्धी कार्य संघ को देता है। स्थानीय श्रेणी की भांति स्थानीय उपभोक्ता-समिति भी होगी, जिसके सदस्य वे सभी व्यक्ति होंगे जिनसे उस उपभोग का सम्बन्ध होगा। संघ का निर्माण स्थानीय श्रेणी तथा उपभोक्ता-समिति द्वारा निर्वाचित सदस्यों द्वारा होगा। इसी प्रकार स्थानीय श्रेणियों, समितियों तथा संघों से निर्वाचित सदस्य प्रादेशिक और राष्ट्रीय श्रेणियों, समितियों और संघों के सदस्य होंगे। स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय संस्थाएं क्रमशः स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय विषयों का संचालन करेंगी। स्थानीय उत्पादन-सम्बन्धी कार्य होंगे बढ़ईगीरी, लुहारी, सुनारी और स्वास्थ्य आदि। स्थानीय उपभोग सम्बन्धी कार्य होंगे—खाद्य सामग्री, कागज, कपड़ा, और जूता आदि। प्रादेशिक उत्पादन-सम्बन्धी कार्य होंगे—कपड़े, जूते, बस, सड़क और बिजली आदि। प्रादेशिक उपभोग के विषय होंगे—प्रकाश, शिक्षा और सड़क आदि। राष्ट्रीय उत्पादन के कार्य होंगे—फौलाद लोहा और जहाज आदि। राष्ट्रीय उपभोक्ता सम्बन्धी कार्य होंगे—यातायात और शिक्षा आदि। जिन विषयों का सम्बन्ध सभी क्षेत्रों से होगा उनकी व्यवस्था संबंधित श्रेणियों के समन्वय द्वारा होगी। श्रेणियों और समितियों के समन्वय द्वारा उत्पादन और वितरण सम्बन्धी नीति एवं नियमों का निर्धारण होगा। संघ का कार्य समन्वयकारी होगा। संघ का प्रथम कार्य वित्त-सम्बन्धी होगा। मूल्य का नियंत्रण भी इसके अन्तर्गत आता है। इसके द्वारा विभिन्न व्यवसायों तथा सेवाओं में वित्तीय स्रोतों का समुचित विभाजन भी होगा। कर निर्धारण और ऋण पर नियंत्रण भी इसके क्षेत्राधिकार में होंगे। द्वितीय, औद्योगिक संस्थाओं के मध्य ऐसे नीति-सम्बन्धी प्रश्न जिनका हल करने में श्रेणी-परिषदें या श्रेणी कांग्रेस असमर्थ होंगी वे संघ द्वारा निर्णीत होंगे। तृतीय विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं के बीच शक्ति-विभाजन का कार्य भी इसी के द्वारा होगा। चौथे युद्ध और शान्ति-व्यवस्था, वैदेशिक सम्बन्धों का नियंत्रण, सीमाओं का निर्धारण और व्यक्तिगत मामलों तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे प्रश्नों का नियंत्रण आदि इसी के क्षेत्राधिकार में होंगे। इसके अतिरिक्त संघ व्यक्तियों और औद्योगिक संस्थाओं से अपने आदेशों का पालन कराने के लिए दमन-शक्ति भी होगा।

हाब्सन तथा कोल दोनों ने सार्वजनिक स्वामित्व के प्रश्न पर भी विचार किया था। वे उत्पादन एवं वितरण के प्रमुख साधनों का सामाजीकरण या राष्ट्रीकरण करना चाहते थे, किन्तु वे विभिन्न श्रेणियों से सम्बन्धित कर्मचारियों को ही उनका व्यवस्थापक बनाना चाहते थे। उन्होंने मध्य क्षेत्रों में पूँजी के व्यक्तिगत स्वामित्व को भी अंगीकार किया था किन्तु पूँजीपति को ब्याज लेने के अतिरिक्त मुनाफा और व्यवसाय पर एकाधिपत्य का अधिकार नहीं दिया। दोनों ने मजदूर के पारिश्रमिक-सम्बन्धी प्रश्न के निर्णय का एकाधिकार श्रेणी को ही दिया। केवल श्रेणी द्वारा निर्णय संघ या राज्य के पुनर्विचार से प्रतिबन्धित थे। उद्योगों का यह परम कर्तव्य था कि वे अपने मजदूरों की बेकारी के समय सहायता करें।

राज्य का स्थान

राज्य के क्षेत्र और स्थिति के सम्बन्ध में श्रेणी-समाजवादी एकमत नहीं थे। कुछ विचारकों के मत में राज्य राजनीतिक एवं उपभोक्ता सम्बन्धी समस्याओं के सम्बन्ध में एक सर्वोच्च संस्था रहेगी। यह इन विषयों का प्रतिनिधित्व करेगा। हाब्सन के कथनानुसार श्रेणी-समाज में राज्य सम्पूर्ण समाज की प्रतिनिधि संस्था होगी। यह अन्य संस्थाओं से भिन्न होगी। उसका कार्य-क्षेत्र सीमित होने पर भी उसकी सत्ता में किसी प्रकार की कमी नहीं आयेगी। यह यथावत् सत्ताशील रहेगी। राज्य सत्ता का आदि स्रोत और सर्वोच्च न्यायालय होगा। यह श्रेणी कांग्रेस की अपील पर और अन्य सार्वजनिक मामलों पर अन्तिम निर्णय देगा। दीवानी और फौजदारी कानूनों का निर्माण और कार्यान्वयन इसी के द्वारा होगा। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी नियंत्रण करेगा। राज्य नागरिकता का प्रतिनिधित्व करेगा और इस प्रकार यह एक लोक-सेवक संस्था होगी।

किन्तु कोल ने राज्य के सम्बन्ध में एक भिन्न दृष्टिकोण अपनाया था। उसने भावी सामाजिक व्यवस्था में राज्य को एक भिन्न स्थान प्रदान किया था। उसके श्रेणी-समाज में संघ राज्य का स्थान ग्रहण करेगा। वह भी अन्य मार्क्सवादियों की भांति राज्य को एक असीम तथा दमनकारी संस्था समझता था। इस दृष्टिकोण से वह बहुलवादी था और राज्य को केवल संघों का संघ समझता था। उसका कथन था कि राज्य भी अन्य संस्थाओं के समान ही सत्ताशील है। उसका सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता आदि होना अब उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा है क्योंकि ऐसी संस्था आज की सामाजिक स्थिति के अनुरूप नहीं है। उसने राज्य को उपभोक्ता का प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया और न

अपने भावी समाज में आर्थिक और नागरिक सेवाओं के नियन्त्रण का अधिकार ही दिया। उसने हाब्सन के इस कथन का कि "राज्य का सर्वोपरि कृत्य समाज की आत्माभिव्यक्ति करना एवं समाज के विभिन्न अंगों के कार्यों का निर्देशन और उनमें पारस्परिक सम्बन्ध कायम करना है", खण्डन किया है। उसने समष्टिवादियों की राज्य द्वारा समाजवाद की प्रतिष्ठा के विचार की भी आलोचना की। उसने कहा कि समाजवादी राज्य में श्रमिक उपलब्धिशील दशा में नहीं रहेंगे क्योंकि जो विभाग आज राज्य के अन्तर्गत हैं उनमें मजदूरों की दशा सन्तोषजनक नहीं है। अतः उसने एक ऐतिहासिक घोषणा की कि मानव ने राज्य की रचना की है, वह उसका अवसान भी कर सकता है। वह उससे भी एक उच्चतर संस्था का निर्माण कर सकता है, जो कि प्रभुसत्ता का समुचित रूप से प्रतिनिधित्व कर सकेगी। यह संस्था संघ (Commune) होगी जिसका संगठन राज्य के संगठन से भिन्न होगा और अन्य संस्थाओं की प्रतिनिधि संस्था होगी।

साधन

श्रेणी-समाजवाद साधन के सम्बन्ध में समष्टिवाद और संघवाद के बीच का मार्ग अपनाता है। श्रेणी-समाजवादी प्रारम्भ में फेबियनवादी थे। जब उन्होंने फेबियनवाद से सम्बन्ध-विच्छेद किया तो वे उसका पूर्णतया परित्याग नहीं कर पाये। उन पर उसके 'शनैः-शनैः वाद' का प्रभाव बना रहा। वस्तुतः 'शनैः शनैः वाद' उनके कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग हो गया। श्रेणी समाजवादी शान्तिमय उपायों के पक्षपाती थे। उनकी आस्था विकासवाद में थी, न कि क्रान्ति में। वे समष्टिवाद की भाँति न तो संसदीय कार्यक्रम में ही विश्वास करते थे और न संघवाद की तरह। उन्होंने हिंसात्मक एवं विध्वंसात्मक मार्ग को ही अपनाया। उनकी दृष्टि में संसदीय कार्यक्रम व्यर्थ-सा था, क्योंकि इसके द्वारा श्रेणी-समाजवाद की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।[1] संसदीय प्रणाली वर्गीय भावना को जागृत नहीं करती और न पूँजीपति वैधानिक रूप से अपने विशेषाधिकार एवं सत्ता का ही परित्याग करेगा। अतः उनका विश्वास संसद की अपेक्षा आर्थिक कार्यक्रम में था। उनका कथन था कि आधारभूत आर्थिक परिवर्तन केवल आर्थिक साधनों द्वारा ही सम्भव है। किन्तु यह परिवर्तन केवल श्रमिक-वर्ग आन्दोलन द्वारा ही हो सकता है। इसके लिए

1 "State socialism is no remedy for economic servitude on the Contrary, it rivets the chains a little more securely" (A Gray)

श्रमिक संघों के हाथ में परिवर्तन करना होगा। शिल्प-संघों का स्थान व्यावसायिक संघों को ले लेना चाहिए, क्योंकि ये संघ पूँजीपति के विरुद्ध एक सुदृढ़ मोर्चा बनाने में अधिक सफल हो सकेंगे। श्रेणी-समाजवादियों का मत था कि एक उद्योग में एक ही व्यावसायिक संघ होना चाहिए। इस संघ के सभी कर्मचारियों को जो इस व्यवसाय में काम करते हैं चाहे उनका कार्य शारीरिक अथवा बौद्धिक कुछ भी हो, सदस्य होना चाहिए। इस प्रकार की श्रेणी आधुनिक श्रमिक-सभाओं (Trade Unions) से कहीं अधिक उपयोगी एवं प्रभावपूर्ण होगी, क्योंकि इसके निर्णय व्यवसाय के समस्त कर्मचारियों को मान्य होंगे। अन्तर्गत इसकी आधार-भित्ति होगा। ऐसी दशा में पूँजीपति श्रमिकवर्ग में फूट नहीं डाल सकेगा और उसकी हड़ताल सफल होगी। वह उनकी माँगों को स्वीकार करने के लिए विवश होगा।

श्रेणी-समाजवादी पूँजीवादी प्रणाली पर एकाधिपत्य धीरे-धीरे करने के पक्षपाती थे। उनका कथन था कि श्रमिकों को अपने संगठन को सुदृढ़ एवं पूर्ण बनाने के लिए शनैः-शनैः बढ़ते हुए नियन्त्रण (Encroaching Control) की नीति को अपनाना चाहिए। इस नीति के द्वारा श्रमिकों को धीरे धीरे पूँजीपति वर्ग से उस आर्थिक शक्ति को जिस पर उसका एकाधिकार है, प्राप्त करना है। धीरे-धीरे उनके द्वारा सम्पादित कार्य और अधिकारों को हस्तगत करना है। उनकी माँगें छोटी बातों से आरम्भ होकर उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायेंगी। उदाहरणार्थ, उनकी सर्वप्रथम माँग यह होगी कि कार्य निरीक्षकों की नियुक्ति में उनसे भी परामर्श लिया जाये। तदनन्तर वे अपनी दूसरी माँग रखेंगे कि निरीक्षकों का निर्वाचन श्रमिकों द्वारा हो। इस प्रकार क्रमशः उनकी माँगें, अपने प्रतिनिधि का चुनाव करने, अनुशासन-सम्बन्धी नियम-निर्माण करने, मजदूरी को नौकरी दिलाने और उन्हें बरखास्त करने आदि की बढ़ती ही जायेंगी, जब तक कि उन्हें संचालन और व्यवस्था सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त नहीं हो जाते और श्रेणी स्व शासित संस्था नहीं बन जाती। इसके साथ-साथ श्रमिक सामूहिक ठेके (Collective Contract) की पद्धति को प्रतिष्ठित करने के लिए भी प्रयत्नशील रहेंगे। वे अपने मालिकों से दैनिक मजदूरी पर कार्य करने की अपेक्षा ठेका ले लेंगे कि इतने रुपयों पर इतने समय के भीतर इतनी मात्रा में माल तैयार कर दिया जायेगा। इस प्रकार ठेका ले लेने के उपरान्त मालिकों का व्यवस्था एवं निरीक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। श्रमिक कार्य-विभाजन के आधार पर कार्य पूरा करके उस प्राप्त धनराशि को आपस में बाँट लेंगे।

इस प्रकार की श्रेणी प्रणाली केवल व्यक्तिगत व्यवसायों तक ही सीमित नहीं रहेगी, अपितु इसका प्रयोग सार्वजनिक व्यवसायों एवं सेवाओं में भी होगा। श्रमिक पूँजीपतियों के मुकाबले में अपने उद्योग भी स्थापित करेंगे। श्रेणी-समाजवादी राष्ट्रीयकरण को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपयोगी नहीं समझते थे और न उनके मत में यह ऐसा साधन था जिस पर पूर्णरूपेण निर्भर रहा जा सके। उनकी दृष्टि में क्रमशः और शान्तिमय उपायों से एक व्यावहारिक लाभ था। इन साधनों के अपनाने से श्रमिक एवं पूँजीपति दोनों ही वर्ग व्यर्थ के संघर्ष और रक्तपात से बच जायेंगे।

श्रेणी-समाजवादियों का विश्वास था कि कभी ऐसा भी अवसर आ सकता है जब कि श्रमिकों को हिंसात्मक उपायों का सहारा लेना पड़े। जब पूँजीपति वर्ग श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के स्थापन में प्रतिरोध करेगा तो उन्हें बलात् उनकी अधिकार-सत्ता से विहीन करना आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में राज्य की शक्ति का प्रयोग भी सम्भव होगा, किन्तु श्रेणी-समाजवादी संगठित विद्रोह और प्रत्यक्ष आन्दोलन (Direct Action) को उचित नहीं समझते थे।

प्रमुख विशेषताएँ

(१) श्रेणी-समाजवाद श्रमिक-वर्ग का आन्दोलन नहीं था, अपितु बुद्धिजीवियों द्वारा संचालित आन्दोलन था।

(२) श्रेणी समाजवादी प्रत्येक उद्योग में काम करनेवाले उत्पादकों की एक श्रेणी बनाना चाहते हैं। यह श्रेणी स्वशासित संस्था होगी।

(३) यह समाज का निर्माण व्यावसायिक प्रजातंत्र के आधार पर करना चाहता है, जिसमें सत्ता विकेन्द्रित हो।

(४) इस सिद्धान्त के अनुसार उद्योगों को वास्तविक प्रजातंत्रीय रूप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उनका संगठन नीचे से हो।

(५) श्रेणी-समाजवाद उत्पादकों की श्रेणियों को ही एकाधिकार नहीं प्रदान करता, क्योंकि इससे उनके निरंकुश हो जाने का भय है। अतः उपभोक्ता समिति राज्य या संघ (Commune) भी भावी समाज में रहेंगी।

(६) यह दर्शन राज्य का पूर्ण विरोधी नहीं है। यह उपभोक्ताओं के हितों के रक्षार्थ इसके अस्तित्व को आवश्यक समझता है।

(७) साधन की दृष्टि से श्रेणी-समाजवाद समष्टिवाद और संघवाद के बीच का मार्ग अपनाता है। यह न तो सांविधिक कार्य-क्रम में ही विश्वास करता है और न विध्वंसात्मक या प्रत्यक्ष आन्दोलन को ही उचित समझता है।

आलोचना

(१) श्रेणी-समाजवादी परस्पर विरोधी विचार रखते हैं। भावी समाज और राज्य की स्थिति के सम्बन्ध में वे बिलकुल एकमत नहीं हैं। विचारों की एकता के अभाव के कारण ही वे किसी स्थायी एवं सुदृढ़ संस्था के निर्माण में सफल नहीं हो सके।

(२) यह दर्शन अस्पष्ट है क्योंकि यह राज्य की प्रभु सत्ता की अनुपस्थिति में उत्पादक और उपभोक्ता समितियों के मतभेदपूर्ण होने पर उनके पारस्परिक झगड़ों को किस प्रकार सुलझाया जायेगा, इस पर कोई यथेष्ट प्रकाश नहीं डालता।

(३) यह आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों को एक-दूसरे से पूर्णतया अलग कर देता है जो कि क्रियात्मक दृष्टि से असम्भव है। आज की स्थिति में कोई भी राज्य तब तक सुचारुरूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसका आर्थिक जीवन पर एकाधिकार नहीं हो।

(४) श्रेणी-समाजवाद इस पर कोई प्रकाश नहीं डालता कि विभिन्न श्रेणियों के प्रतिनिधि किस आधार पर चुने जायेंगे और विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाले सदस्यों में संघर्ष के अवसर किस प्रकार एकता स्थापित होगी। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक सार्वभौम प्रणाली के प्रतिष्ठित होने पर वर्गीय हितों का प्राधान्य होगा, न कि राष्ट्रीय हितों का।

(५) व्यावसायिक क्षेत्र में उत्पादकों के नियंत्रण के कारण अनेक दोष पैदा हो जायेंगे। उत्पादकों को ही वस्तुओं में एकाधिकार मिलने से कोई अनुशासन नहीं रहेगा। फिर उत्पादन समाज-हित की दृष्टि से होगा, यह भी संदिग्ध है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करना चाहता है।[1] उत्पादन में शैथिल्य, कार्यक्षमता और उत्पादन का अभाव तथा वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि आदि अनेक दोषों के व्याप्त होने की सम्भावना है।

---

1 "It may be that the motive of Social service which admittedly exists would not prove strong enough in practice to overcome the incentive to private gain ... If this be the

(५) श्रेणी-समाजवाद के अनुसार श्रेणियाँ निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी हो जायेंगी, क्योंकि उद्योगों पर उनका एकाधिपत्य होगा ।

---

case, then Guild socialism would break doun resolving llself into an anarchy of exploiting Guilds whose opportunities of fleecing the community would exceed those of the capitalist employer in proportion as they would have a more complete monopoly of production." (C. E. H. Jond)

Socialist Bureau) ब्रुसेल्स में स्थापित हुआ। इस अन्तर्राष्ट्रीय में सम्मिलित विचारकों की मार्क्स के प्रति बड़ी श्रद्धा थी, किन्तु उसके विचारों की व्याख्याओं के सम्बन्ध में उनमें परस्पर मतभेद था। इस कारण ये विचारक दो दलों में विभक्त हो गये थे। इनमें से प्रथम जो "कट्टर" (Orthodox) कहलाया मार्क्स के सिद्धान्तों के क्रान्तिकारी पक्ष पर अधिक बल देता था। द्वितीय दल, जो 'सुधारवादी समाजवादी' (Revisionists) की संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ उसने समाजवादी विकास के विचार और तत्कालीन रचनात्मक कार्यक्रम को प्रधानता देता था। किन्तु इस द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ का जो विघटन हुआ उसका प्रमुख कारण यह था कि समाजवादियों को युद्ध में भाग लेना चाहिए या नहीं। विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो जाने के उपरान्त प्रत्येक समाजवादी दल में युद्ध-विरोधी और युद्ध-समर्थक छोटे-छोटे गुट पैदा हो गये। इस राष्ट्रीयता की उग्र भावना के वशीभूत होकर युद्ध-रत देशों के समाजवादियों ने अपनी-अपनी सरकारों की युद्ध-नीति का समर्थन ही नहीं किया, अपितु एक-दूसरे के विरुद्ध सहयोग भी दिया।

युद्धोपरान्त समाजवादियों ने समाजवादी आन्दोलन को पुनर्गठित करने का प्रयास किया। यह ऐसा समय था जब कि समाजवादी लहर तीन मुख्य धाराओं में चल रही थी। प्रथम धारा के अन्तर्गत जो समाजवादी आते हैं, उन्होंने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के पुनरुद्धार हेतु जुलाई सन् १९२० में जनेवा में एक अधिवेशन बुलाया। इसका नेतृत्व ब्रिटिश मजदूर-दल के नेताओं ने किया। इस अधिवेशन में एक मत से 'हिंसा तथा अधिनायकत्व' का खण्डन किया गया प्रजातंत्र में अपनी आस्था प्रकट की गई समाजीकरण की प्रक्रिया की 'अनिवार्य क्रमिकता' पर बल दिया गया, समाजीकरण के लिए सम्पत्ति की जब्ती को अस्वीकार किया गया तथा श्रमजीवी की परिभाषा निश्चित की गई। दूसरी विचारधारा को अपनानेवाले कट्टर मार्क्सवादी थे जिनका सुधारवाद में कोई विश्वास नहीं था और जिन्होंने सन् १९१९ में 'तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय' (Third International) संघ की स्थापना की। उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं से विपरीत ऐसे भी समाजवादी थे जिनका विश्वास न 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ' के सिद्धान्तों में था और न साम्यवादियों की विद्रोहात्मक नीति एवं अधिनायकवादी पद्धति में। फलतः इन मध्यममार्गी समाजवादियों ने फरवरी सन् १९२१ में वियना में 'अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी दलों का कार्यकारी संघ' (International working union of Socialist parties) का निर्माण किया। किन्तु ये मध्यममार्गी समाजवादी दल

तीन धाराओं के सामंजस्य के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। यद्यपि इन्हें इन तीनों के समन्वय में सफलता नहीं मिली, किन्तु फिर भी सन् १९२१ में 'श्रमिक एवं समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ' (Labour and Socialist International) की स्थापना में सफलीभूत हुए। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सम्बन्धित साम्यवादी इससे अलग रहे।

(१) फ्रांस में श्रमिक संस्थाएँ—फ्रांस में समाजवादी, अराजकतावादी, संघवादी और साम्यवादी आदि श्रमिक संस्थाएँ थीं। १९१९ में समाजवादी संसद के सदस्य ६८ और १९३२ में १२९ थे। किन्तु फासिस्टवाद के विरोध स्वरूप १९३४ में समाजवादी और साम्यवादियों के सहयोग से एक "जनमोर्चे" का निर्माण हुआ। बाद में उदारपन्थी तथा प्रजातंत्रवादी भी सम्मिलित हो गये। ४ जून १९३६ को समाजवादी नेता ब्लुम के मार्ग-दर्शन में 'जनमोर्चे' की सरकार भी बनी। द्वितीय महायुद्ध में भी फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध समाजवादियों ने गुप्त आन्दोलनों में प्रमुख भाग लिया।

(२) जर्मनी में सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी—इस पार्टी का नेता एबर्ट (Ibert) था, जो कि १९१९–२५ तक राष्ट्रपति रहा। १९२८ में इस दल ने संयुक्त मंत्रिमण्डल में भाग लिया, किन्तु हिटलर के अधिनायकशाह होने पर सन् १९३३ में सभी राजनीतिक दलों को अवैध घोषित कर प्रमुख नेताओं को फांसी दे दी गई या विवश होकर वे भूमिगत हो गये। द्वितीय महायुद्ध के बाद साम्यवादी दल जर्मनी के पूर्वी भाग तथा पश्चिमी भाग में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) ने पुनः अपनी हलचल प्रारम्भ कर दी।

(३) बेल्जियम में लेबर पार्टी—इसने सन् १९१९, २५, ३२, ३६ में संयुक्त मन्त्रिमण्डलों में भाग लिया। इसका बहुमत न होने के कारण कभी अपनी सरकार न बना सकी। अतः यह केवल संयुक्त सरकारों में ही भाग लेती रही। हॉलैण्ड की सोशल डैमोक्रेटिक पार्टी की प्रगति भी सन्तोषजनक रही। इसने जन-जीवन को पर्याप्त प्रभावित किया और १९३९ में इसने पहली बार संयुक्त मन्त्रिमण्डल में भाग लिया। अपनी लोकप्रियता के कारण द्वितीय महायुद्ध उपरान्त इसे अपनी सरकार बनाने का भी अवसर मिला।

(४) हंगरी, पोलैण्ड आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया तथा स्विटजरलैण्ड की समाजवादी पार्टियाँ—हंगरी, पोलैण्ड और आस्ट्रिया की समाजवादी पार्टियों ने अपने यहाँ के अधिनायकवादी शासन का खुल कर विरोध

किया। चैकोस्लोवाकिया तथा स्विटजरलैण्ड में भी समाजवादी शक्तियाँ प्रबलतम सिद्ध हुईं।

(५) नार्वे, डेनमार्क और स्वीडन में समाजवादी पार्टियाँ—नार्वे में समाजवादी आन्दोलन पर्याप्तरूप में सफल हुआ। इसने १९२९ और १९१२ में अपनी सरकार बनाई। डेनमार्क में भी समाजवादी अग्रणी रहे, किन्तु स्वीडन की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी द्वितीय महायुद्ध के पूर्व पाँच बार अपनी सरकार बनाने में सफलीभूत हुई। वस्तुतः इसने अपने शासन-काल में अनेक जन हित सम्बन्धी कार्य किए और यह भी समाजवादी दलों के लिए पथ-प्रदर्शक तथा प्रेरक बनी।

(६) ब्रिटिश लेबर पार्टी—इसकी स्थापना सन् १९०० में हुई और इसका सम्बन्ध द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ से १९०४ में हुआ। वस्तुतः इसका द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ में प्रमुख स्थान था। ब्रिटिश लेबर पार्टी विभिन्न विचारधाराओं की संगमस्थली थी। इसमें मार्क्सवादी, अमार्क्सवादी उदारवादी, धार्मिक समाजवादी और जनतान्त्रिक समाजवादी आदि विविध धाराओं के अनुयायी थे। एटली का कथन है कि श्रमिक संघ, सहकारी आन्दोलन, चार्टिस्ट आन्दोलन, आयरलैण्ड का स्वातन्त्र्य-आन्दोलन और मार्क्सवादी तथा धार्मिक समाजवादी विचारों ने ब्रिटिश लेबर पार्टी को सुसंगठित एवं प्रगति-पथ पर आरूढ़ किया है। यद्यपि इसने कभी स्पष्ट रूप से 'समाजवाद' शब्द का उल्लेख नहीं किया, किन्तु सन् १९१८ की योजना में समाजवादी झलक मिलती है। दिनों-दिन इसकी शक्ति बढ़ती गई और सन् १९२४ में इसने रैम्जे मैकडोनल्ड के प्रधानमन्त्रित्व में अपनी सरकार बनाई। १९४० में यह चर्चिल के नेतृत्व में संयुक्त सरकार में सम्मिलित हुई। १९४५-५१ तक क्लीमेण्ट एटली के प्रधान मंत्रित्व में इसकी अपनी सरकार बनी जिसने अनेक लोक-कल्याणकारी कार्य किये। हमारा भारत देश भी इसी के शासन काल में स्वतन्त्र हुआ जिसका श्रेय इसी को है।

समष्टिवादी विचारधारा का आधार

समष्टिवाद के प्रमुख आधार दो हैं—फेबियनवाद और संघोद्योगवाद। फेबियनवाद ब्रिटेन की देन है और ब्रिटिश लेबर पार्टी की यह आधार-शिला है। संघोद्योगवाद मार्क्सवाद का परिष्कृत रूप है और इसके द्वारा समाजवादी विचारधारा पर्याप्तरूप में प्रभावित हुई।

फेबियनवाद—इंग्लैण्ड में समाजवादी विचारों के प्रसार एवं प्रचार का कार्य सर्वप्रथम सोशल-डेमोक्रेटिक फेडरेशन (Social Democratic Federation) के द्वारा हुआ, जिसकी स्थापना सन् १८८१ में हुई। इसके सदस्यों में प्रमुख, एच० एम० हिण्डमैन विलियम मारिस, हेलेन टेलर, बेलफोर्ट बैक्स, एलियानोर मार्क्स एवलिंग (मार्क्स की सबसे छोटी लड़की) और उसका पति एडवर्ड एवलिंग आदि थे। इसका लक्ष्य समाजवाद था, किन्तु साधन 'वर्ग युद्ध' था। यह संघ न तो विशुद्ध मार्क्सवादी ही था और न राज्य-समाजवादी ही। अतः इसमें भी दक्षिण एवं वामपक्षी थे। इसके बाद सन् १८८४ में सोशलिस्ट लीग (Socialist League) की स्थापना हुई। इसका श्रेय मारिस बैक्स और एवलिंग को था। ये सभी सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन के सदस्य थे, किन्तु सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण इससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। सोशलिस्ट लीग में भी कुछ संसदीय कार्य में अभिरुचि रखते थे तो कुछ इसके विरोधी भी थे। मारिस अराजकतावाद और सुधारवाद दोनों का विरोधी था। मतभेदों के कारण यह सोशलिस्ट लीग शीघ्र ही समाप्त हो गई। सन् १८९१ में सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन और सोशलिस्ट लीग के सदस्यों के सहयोग से इण्डिपेण्डेण्ट लेबरपार्टी (Independent Labour Party) की स्थापना हुई। इसके सदस्यों में कीयर हार्डी जूल ग्लेसियर, टाम मैन, रेमजे मेकडोनल्ड और फिलिप स्नोडन आदि। जब सन् १९०० में ब्रिटिश लेबरपार्टी की स्थापना हुई तो इसी दल का प्रमुख हाथ था।

फेबियन सोसाइटी (Fabian Society) की स्थापना ४ जनवरी १८८४ में हुई। यह उच्चकोटि के प्रतिभासम्पन्न विचारकों का, जिन्हें राजनीतिक अर्थशास्त्र, भूमि-कर निर्धारण और समाजवाद का व्यावहारिक ज्ञान था, रंगमंच थी। यहाँ सामाजिक नीतिशास्त्र की आधुनिक समस्याओं पर विचार विनिमय एवं शास्त्रार्थ हुआ करता था। इसके प्रमुख सदस्यों में जार्ज बर्नार्ड शा (George Bernard Shaw), सिडनी वेब (Sidney Webb), श्रीमती वेब, ग्राहम वालास (Graham Wallas), वेल्स (H G Wells), एनी बेसेण्ट (Annie Besant) विलियम क्लार्क (William Clarke) सिडनी औलिवर (Sidney Oliver) मेकडोनल्ड (J R Macdonald), लास्की, कोल और एटली (C. Attlee) आदि थे। इस सोसाइटी का 'फेबियन' नाम पड़ने का कारण यह था कि फेबियस (Fabius) ने, जो कि प्राचीन रोम का एक सेनापति था, हनिबाल से युद्ध करते समय प्रतीक्षा एवं शनैः-शनैः बढ़ने की नीति

को अपनाया था।[1] यद्यपि उसकी इस नीति की निन्दा हुई थी किन्तु वस्तुतः यह बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। फेबियन सोसाइटी ने भी "क्रमशः आगे बढ़ने की अनिवार्यता" (Inevitableness of gradualness) में आस्था प्रकट की और अपनी सोसाइटी का नाम 'फेबियन' रखा। इस सोसाइटी की शाखाएँ विश्व विद्यालयों में भी खुलीं, जो आज तक चल रही हैं।

बर्नार्ड शा ने फेबियन सोसाइटी का घोषणापत्र लिखा है जो कि सन् १८८४ में प्रकाशित हुआ। इसमें समाजवाद को लक्ष्य घोषित किया गया है और इस बात पर बल दिया गया है कि "भूमि का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और राज्य को प्रत्येक उत्पादन विभाग में प्रतियोगिता करनी चाहिए।' फेबियनवादी ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं, जिसमें जनता का भौतिक एवं नैतिक उत्थान हो सके। सिडनी ओलिवियर का कहना है कि समाजवाद व्यक्तिवाद के प्रतिकूल होने की अपेक्षा उसका ही शिशु है। यह मानव के पूर्ण विकास एवं आत्मोत्थान की एक आवश्यक स्थिति है। अन्याय और असमानता का मूल कारण व्यक्तिगत स्वामित्व-पद्धति है, जो वर्ग-युद्ध को प्रोत्साहन देती है और मानव को चारित्रिक दृष्टि से दूषित बनाती है। इसलिए यह अनैतिक है। किन्तु समाजवाद के द्वारा नैतिकता सबल एवं सुदृढ़ होती है। इसका आधार सहयोग और साम्य भावना है। व्यक्ति समाजवादी व्यवस्था में भौतिक आवश्यकताओं से विमुक्त रह कर अपनी नैतिकोन्नति में रत रहता है। एडवर्ड पीज (Edward Pease) जो फेबियन सोसाइटी का अनेक वर्षों तक मंत्री रहा, उसका कथन है, कि हमारा उद्देश्य समाजवादी बनाने की अपेक्षा समाजवाद बनाना है और समाजवाद को सम्माननीय रूप प्रदान करना है। ऐसा समाजवाद बनाना है जिसकी सदस्यता प्रत्येक सम्भ्रान्त व्यक्ति निःसंकोच स्वीकार कर सके।

फेबियनवादी विचारकों ने समाजवाद की नवीन व्याख्या रखी है जो कि मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न है। इन्होंने मार्क्स के श्रम-सिद्धान्त से असहमति प्रकट की है। इनका विश्वास है कि वस्तुओं का मूल्य श्रमिक-कृत होने की अपेक्षा

1. 'For the right moment you must wait, as Fabius did most patiently when warring against Hannibal though many censured his delays but when the time comes you must strive hard as Fabius did or your waiting will be invain and fruitless."

समाजवाद है। इनके विचारों पर रिकार्डो के 'भूमि-कर सिद्धान्त' और जेवोन (Jevon) के उपयोगिता सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हेनरी जार्ज (Henry George) के विचारों ने भी फेबियनवादियों को बड़ा प्रभावित किया है। बर्नार्ड शा ने लिखा है कि हेनरी जार्ज के एक कर सिद्धान्त ने ब्रिटिश समाजवादियों को "पूर्ण औद्योगिक पुनर्निर्माण का समर्थक बना दिया।" और इन्हें जमींदारी प्रथा पर राज्य के नियन्त्रण की प्रेरणा भी उसी से मिली है। कोकर का कहना है कि, "उन पर विशेषतः हेनरी जार्ज के सिद्धान्त, मार्क्स के सिद्धान्तों की विविध विभिन्न व्याख्याओं, और, जॉन स्टुअर्ट मिल के व्यक्तिवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत विकसित होनेवाले समष्टिवाद का प्रभाव पड़ा था।" लेकिन बार्कर की धारणा है कि मार्क्स की अपेक्षा मिल ही फेबियनों का आदि प्रेरक है। इन्होंने मार्क्सवाद के प्रसार को रोका और 'वर्ग संघर्ष', 'इतिहास की भौतिक व्याख्या' तथा क्रान्तिकारी पद्धति की आलोचना की है। फेबियन समाजवाद की प्रतिष्ठा सुधारों द्वारा करना चाहते हैं। इसी कारण इन्होंने 'धीरे-धीरे' नीति को अपनाया है। इनकी राज्य में अटूट श्रद्धा है। इनका मत है कि राज्य 'जनता का प्रतिनिधि और संरक्षक' है तथा 'अभिभावक और प्रबन्धकर्ता' है। फेबियनवादियों ने श्रमिकों की नागरिक तथा आर्थिक उन्नति हेतु तथा पूँजीपतियों की शोषण की प्रक्रिया को रोकने के लिए अनेक व्यावहारिक योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। इन्होंने समाजवाद को जनवादी आधार देकर इंग्लैण्ड के जन जीवन में उसे सम्मानित एवं श्रद्धास्पद बना दिया है। फलतः इंग्लैण्ड में समाजवादी होना एक फैशन हो गया। फेबियनवाद ने श्रमिक दल को विशेषतः प्रभावित किया है। इंग्लैण्ड में जो बड़े-बड़े विधि निर्मित हुए उन पर भी इनका विशेष प्रभाव पड़ा है। ग्रे (Gray) का कथन है कि फेबियनवादियों का समाजवाद से अभिप्राय राज्य के कार्य-क्षेत्र को विकसित करने से ही है, इससे अधिक और कुछ नहीं है। किन्तु सैद्धान्तिक क्षेत्र की अपेक्षा फेबियनवादियों का व्यावहारिक क्षेत्र में अधिक योगदान रहा है।

1 'In this respect their Socialism is the Socialism of the Simple-minded, Signifying as it does, nothing more the indefinite extension of State activity So that the hawker's licence becomes a proof of the progress of Socialism, and the existence of a policeman demonstrates that already we are living in a Communistic State' Gray—The Socialist Tradition

संशोधनवाद

कार्ल मार्क्स के विचारों की आलोचना को संशोधनवाद (Revisionism) की संज्ञा प्रदान की गई है। इसका प्रमुख प्रवर्तक जर्मनी का देशवासी बर्नस्टीन (Bernstein) था। इसका जन्म १८५० में हुआ। इसने अपने जीवन में उत्थान-पतन के दिन देखे। इसने जर्मनी को छोड़कर अपने जीवन का अधिकांश भाग लन्दन में बिताया। यह एंजिल्स का मित्र था और फेबियन सोसाइटी का प्रभावशाली सदस्य भी रहा। सन् १९०० में यह जर्मनी चला गया और संशोधनवादी विचारकों में इसका प्रमुख स्थान रहा है। बर्नस्टीन का मार्क्स से अनेक बातों में मतभेद है। इस मतभेद का उल्लेख (Die Neue Leit) नामक जर्मन पत्र में 'समाजवाद की समस्याएँ' के शीर्षक में किया गया है, जो कि सन् १८९६-९८ में प्रकाशित हुआ। बर्नस्टीन ने १८९९ में Voraussetzungen des Sozialismus नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त और इतिहास की भौतिक व्याख्या का खंडन किया है।

(१) मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवादी प्रगति के कारण मध्यमवर्ग (Middle Class) विलुप्त हो जायगा और केवल थोड़े से पूँजीपतियों के अतिरिक्त बहुसंख्यक जनता श्रमिक हो जायगी। बर्नस्टीन ने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया है कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हुई है। उसके मत में आज पश्चिमी यूरोप में मध्यवर्ग के विलुप्त होने की अपेक्षा उसका विस्तार हो रहा है।

(२) मार्क्स का कथन था कि अन्तर्विरोधों के कारण पूँजीवाद में आर्थिक उत्पादन के संकट सदा आते रहेंगे और ये संकट क्रमशः गम्भीरतम होते जायेंगे। पूँजीपतियों के पास इन संकटों से विमुक्ति पाने के लिए कोई हल नहीं होगा। बर्नस्टीन ने इस विचार के विरुद्ध यह बतलाया है कि पूँजीपतियों ने अपने संगठन एवं दूरदर्शी योजनाओं द्वारा इन आर्थिक संकटों के प्रभाव को क्षीण करने के उपाय निकाल लिये हैं। इसके अतिरिक्त संसार के बाजारों में

---

1 The number of members of the possessing classes is today not Smaller but larger The enormous increase of social wealth is not accompanied by a decreasing number of a large Capitalists, but by an increasing number of Capitalists of all degrees. The middle classes change their character but they do not disappear from the Social Scale" —Bernstein

विस्तार और सम्पादन के नवीन साधनों ने ऐसे संकटों की सम्भावना को कम कर दिया है।

(३) मार्क्स ने जिस वर्ग-संघर्ष की परिकल्पना की थी वह भी साकार नहीं हो सकी और न पूंजीवादी देशों में मार्क्स द्वारा भाषित क्रान्तियाँ ही हुई। क्रान्ति यदि हुई भी तो उन देशों में जहाँ मार्क्स कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इन देशों में क्रान्ति होगी, जैसे, रूस और चीन में। बर्नस्टीन का कहना है पूँजीवादी देशों में वर्गसंघर्ष तीव्रतर होने की अपेक्षा शिथिल पड़ रहा है, क्योंकि पूँजीवादी देशों में कानून द्वारा श्रमिकों की दशा में उत्तरोत्तर सुधार हो रहा है। इसके अलावा, जनता को मताधिकार प्राप्त होने से समाजवादी लाभान्वित हो रहे हैं। आज यूरोप और विशेषतः जर्मनी में समाजवादी मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हो रही है। अतः एक दिन संसद में समाजवादी बहुमत बनने पर सरकार का निर्माण होना सम्भव हो सकेगा। उसका यह दृढ़ मत है कि, "बिना दृढ़ प्रजातांत्रिक परम्पराओं एवं संस्थाओं के आज का समाजवादी सिद्धान्त वास्तव में सम्भव नहीं होगा।" भारत के केरल राज्य में साम्यवादियों की सरकार बनने से बर्नस्टीन के इस कथन का सर्वथा औचित्य सिद्ध होता है।

(४) बर्नस्टीन ने मार्क्स की इतिहास की भौतिक व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की भी आलोचना की है। इतिहास की भौतिक व्याख्या के सम्बन्ध में उसका तर्क है कि ऐतिहासिक गति का निर्धारण उत्पादन प्रणाली द्वारा ही नहीं होता, अपितु उसके निर्धारण में अन्य तत्वों का भी हाथ होता है—जैसे कानून ऐतिहासिक एवं धार्मिक रीतिरिवाज नैतिक विचार, भूगोल और अन्य प्राकृतिक परिस्थितियाँ। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मार्क्स ने उत्पादन प्रणाली को केवल प्रधानता दी थी। उसने अन्य तत्वों को नजरन्दाज नहीं किया था। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त बर्नस्टीन के मत में एक भावशून्य (abstract) धारणा है।[1] उसका कहना है कि, 'केवल यह तथ्य वैज्ञानिक

---

1 In it would have been shown most clearly that the labour value is nothing more than a key, an abstract image like the philosophical atom endowed with a Soul a key which employed by the master hand of Marx, has led to the exposure and presentation of the mechanics of Capitalist economy as this and not been hitherto treated not so forcibly, Logically and clearly

संशोधनवाद

कार्ल मार्क्स के विचारों की आलोचना को संशोधनवाद (Revisionism) की संज्ञा प्रदान की गई है। इसका प्रमुख प्रवर्तक मार्क्स का देशवासी बर्नस्टीन (Bernstein) था। इसका जन्म १८५० में हुआ। इसने अपने जीवन में उत्थान-पतन के दिन देखे। इसने जर्मनी को छोड़कर अपने जीवन का अधिकांश भाग लन्दन में बिताया। यह एंगिल्स का मित्र था और फेबियन सोसाइटी का प्रभावशाली सदस्य भी रहा। सन् १९०० में यह जर्मनी चला गया और संशोधनवादी विचारकों में इसका प्रमुख स्थान रहा है। बर्नस्टीन का मार्क्स से अनेक बातों में मतभेद है। इस मतभेद का उल्लेख (Die Neue Leit) नामक जर्मन पत्र में 'समाजवाद की समस्याएँ' के शीर्षक में किया गया है, जो कि सन् १८९६-९८ में प्रकाशित हुआ। बर्नस्टीन ने १८९९ में Voraussetzungen des Sozialismus नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने मार्क्स के मूल्य-सिद्धान्त और इतिहास की भौतिक व्याख्या का खंडन किया है।

(१) मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवादी प्रगति के कारण मध्यमवर्ग (Middle Class) विलुप्त हो जायगा और केवल थोड़े से पूँजीपतियों के अतिरिक्त बहुसंख्यक जनता श्रमिक हो जायगी। बर्नस्टीन ने आँकड़े देकर यह सिद्ध किया है कि मार्क्स की यह भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हुई है। उसके मत में आज पश्चिमी यूरोप में मध्यवर्ग के विलुप्त होने की अपेक्षा उसका विस्तार हो रहा है।

(२) मार्क्स का कथन था कि अन्तर्विरोधों के कारण पूँजीवाद में आर्थिक उत्पादन के संकट बढ़ा-चढ़ा आते रहेंगे और ये संकट क्रमशः गम्भीरतम होते जायेंगे। पूँजीपतियों के पास इन संकटों से विमुक्ति पाने के लिए कोई हल नहीं होगा। बर्नस्टीन ने इस विचार के विरुद्ध यह बतलाया है कि पूँजीपतियों ने अपने संगठन एवं दूरदर्शी योजनाओं द्वारा इन आर्थिक संकटों के प्रभाव को क्षीण करने के उपाय निकाल लिये हैं। इसके अतिरिक्त संसार के बाजारों में

---

1 The number of members of the possessing classes is today not Smaller but larger The enormous increase of social wealth is not accompanied by a decreasing number of a large Capitalists, but by an increasing number of Capitalists of all degrees. The middle classes change their character but they do not disappear from the Social Scale "—Bernstein

विस्तार और उत्पादन के नवीन साधनों ने इन संकटों की सम्भावना को कम कर दिया है।

(३) मार्क्स ने जिस वर्ग-संघर्ष की परिकल्पना की थी वह भी उस प्रकार नहीं हुआ और न पूँजीवादी देशों में मार्क्स द्वारा कल्पित क्रान्तियाँ ही हुई। क्रान्ति यदि हुई भी तो उन देशों में जहाँ मार्क्स कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इन देशों में क्रान्ति होगी, जैसे रूस और चीन में। बर्नस्टीन का कहना है पूँजीवादी देशों में वर्गसंघर्ष तीव्रतर होने की अपेक्षा शिथिल पड़ रहा है, क्योंकि पूँजीवादी देशों में श्रमसंघ द्वारा मजदूरों की दशा में उत्तरोत्तर सुधार हो रहा है। इसके अलावा, जनता को मताधिकार प्राप्त होने से जनतन्त्रवादी आन्दोलित हो रहे हैं। आज यूरोप और विशेषतः जर्मनी में समाजवादी मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हो रही है। अतः एक दिन संसद में समाजवादी बहुमत बनने पर सरकार का निर्माण होना सम्भव हो सकेगा। उसका यह दृढ़ मत है कि "बिना [illegible] प्रजातांत्रिक परम्पराओं एवं संस्थाओं के माध्यम का समाजवादी सिद्धान्त वास्तव में सम्भव नहीं होगा।" भारत के 'केरल' राज्य में साम्यवादियों का सरकार बनने से बर्नस्टीन के इस कथन का सर्वथा औचित्य सिद्ध होता है।

(४) बर्नस्टीन ने मार्क्स की इतिहास की भौतिक व्याख्या और अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की भी आलोचना की है। इतिहास की भौतिक व्याख्या के सम्बन्ध में उसका तर्क है कि ऐतिहासिक गति का निर्धारण उत्पादन-प्रणाली द्वारा ही नहीं होता अपितु उसके निर्धारण में अन्य तत्त्वों का भी हाथ होता है—जैसे मानव ऐतिहासिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ, नैतिक विचार, भूगोल और अन्य प्राकृतिक परिस्थितियाँ। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मार्क्स ने उत्पादन-प्रणाली को केवल प्रधानता दी थी। उसने अन्य तत्त्वों को नजरअन्दाज नहीं किया था। अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त बर्नस्टीन के मत में एक भावमूलक (abstract) धारणा है।[1] उसका कहना है कि "केवल यह तथ्य वैज्ञानिक

1 In it would have been shown most clearly that the labour value is nothing more than a key, an abstract image like the philosophical stone endowed with a Soul—a key which employed by the master hand of Marx has led to the exposure and presentation of the mechanics of Capitalist economy as this had not been hitherto treated, not so forcibly, Logically and clearly

समाजवाद या साम्यवाद का आधार नहीं हो सकता कि वेतन-प्राप्त श्रमिक को अपने श्रम का पूरा मूल्य उपलब्ध नहीं होता है।"

(५) मार्क्स ने कहा था कि समाजवादी क्रान्ति के कारण पूँजीवाद का अन्त हो जायगा, और सर्वहारा-वर्ग की अधिनायक शाही की प्रतिष्ठा होगी। बर्नस्टीन का कथन है कि अधिनायकशाही प्राचीन सभ्यता की प्रतीक है। वयस्क मताधिकार के द्वारा समाजवाद की प्रतिष्ठा हो सकती है और सशस्त्र क्रान्ति के गम्भीर परिणामों से बचा जा सकता है।[1]

बर्नस्टीन के इन विचारों का जोरेस ने भी समर्थन किया है। बर्नस्टीन का मत है कि, 'प्रजातंत्र और समाजवाद में परस्पर अन्तर्विरोध नहीं है, प्रजातंत्र समाजवाद की शर्त है।" "प्रजातंत्र समाजवाद का केवल साधन ही नहीं अपितु उसका सार तत्त्व भी है।" इस प्रकार बर्नस्टीन ने प्रजातांत्रिक समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए एक योजना प्रस्तुत की है।

सन् १८९५ में एंगेल्स की मृत्यु के उपरान्त कार्ल कौटस्की मार्क्सवादी समाजवाद का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार था। वह जर्मनी का प्रमुख श्रमिक नेता दार्शनिक एवं उच्चकोटि का लेखक था। उसने बर्नस्टीन के संशोधनवाद की दार्शनिक आलोचना की है। कौटस्की ने १९१७ की रूसी क्रान्ति का भी दार्शनिक दृष्टि से खण्डन किया है। जार्ज प्लेखनोव (George Plekhanov) मार्क्सवादी दर्शन का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एवं विचारक समझा जाता है। उसने भी १९१७ की रूसी क्रान्ति की दार्शनिक दृष्टिबिन्दु से आलोचना की है। कौटस्की और प्लेखनोव दोनों ही विचारक संशोधनवादी विचारकों की कोटि में आते हैं।

वस्तुतः संशोधनवादी समाजवादी मध्यम-मार्ग को अपनाते हैं। उनका यह विश्वास है कि न तो वर्ग-विग्रह का उन्मूलन केवल राजनीतिक आन्दोलन में ही सम्भव है और न समाजवाद की प्रतिष्ठा ही एकमात्र वर्ग-युद्ध से हो सकती है। अतः इनकी दृष्टि में समझौते एवं समझौते का मध्यम-मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार मार्क्सवाद की मौलिक प्रेरक शक्ति अवसरवाद और संशोधनवाद है।

But this key refuses service over and above a certain point, and therefore, it has become disastrous to nearly every disciple of Marx.'

1 Universal franchise is the alternative to violent revolution"—Bernstein

समष्टिवादियों ने इनसे प्रेरणा लेकर विकासवादी एवं सुधारवादी पथ को ही अपनाया है।

समष्टिवाद की कार्य-पद्धति

समष्टिवादी कार्य-पद्धति पूर्णतः प्रजातंत्रीय एवं वैधानिक है। समष्टिवादी विचारकों की प्रजातंत्र और विकासवाद में पूर्ण निष्ठा है। उनकी दृष्टि में प्रजातंत्र समाजवाद का माध्यम ही नहीं अपितु उसका सार तत्व भी है। अतः समष्टिवादी कार्लमार्क्स के 'सशस्त्र क्रान्ति' के मार्ग का परित्याग कर प्रजातन्त्रीय पद्धति को अपनाते हैं। वे कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'वर्ग-संघर्ष' को भी अमान्य घोषित करते हैं। 'वर्ग-संघर्ष' के स्थान पर 'वर्ग-समन्वय' (Class Collaboration) का अपना आदर्श मानते हैं। फेबियनवादियों का यह दृढ़ मत है कि 'वर्ग संघर्ष' की अपेक्षा 'वर्ग-समन्वय' अधिक प्रभावकारी है। 'वर्ग समन्वय' से भी व्यक्तियों के कार्य प्रभावित होते हैं। 'वर्ग-समन्वय' समाज की आधार-भित्ति है। ब्रिटिश लेबर पार्टी के प्रमुख नेता एटली ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि लेबर पार्टी 'वर्ग-संघर्ष' में विश्वास तो करती है, किन्तु समाज की उसे आधारशिला नहीं मानती। भारत में समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव और डाक्टर राममनोहर लोहिया वर्ग संघर्ष के कट्टर समर्थक हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, 'वर्गसंघर्ष ही सामाजिक प्रगति का आधार रहा है।' 'वर्गसंघर्ष के द्वारा ही समाज की प्रगति होती आयी है समाजवादी इस कठोर सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।"[1] जयप्रकाश नारायण भी वर्ग-संघर्ष' में विश्वास करते हैं, किन्तु आज कल वे 'वर्ग-समन्वय' के प्रयोग में रत हैं। इस प्रकार समष्टिवादियों ने वर्ग-संघर्ष' और 'सशस्त्र क्रान्ति' के स्थान में 'वर्ग-समन्वय और वैधानिक तरीकों' की वकालत की है। जर्मन-समाजवादी-प्रजातन्त्रीय पार्टी के नेता इबर्ट (Ebert) तो क्रान्ति को महानाश समझता है। फेबियनवादी भी 'सशस्त्र' क्रान्ति के स्थान पर 'शिक्षा-मार्ग' को महत्त्व देते हैं। वे पूर्णतः विकासवादी हैं। बर्नार्ड शा का अटूट विश्वास है कि शिक्षा द्वारा अंग्रेजी जनता को समाजवाद में दीक्षित किया जा सकता है और इस प्रकार ब्रिटिश संसद में समाजवादियों का बहुमत हो सकता है। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ के २९ जनवरी १९१९ के बर्न सम्मेलन का ब्रैंटिङ्ग प्रस्ताव समाजवादी समाज के स्थायित्व के लिए जनतंत्र एवं स्वातंत्र्य की आवश्यकता के बल पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। इस प्रकार समष्टिवादी विचारकों का जनतंत्रीय व्यवस्था में निहित

१ आचार्य नरेन्द्रदेव—राष्ट्रीयता और समाजवाद।

नता के मौलिक अधिकार, विभिन्न संगठनों के निर्माण की स्वतंत्रता, वयस्क ताधिकार, राज्य-संचालन में जन-सहयोग और उत्तरदायी शासन आदि में पूर्ण श्वास है। उनके मत में प्रजातंत्र और समाजवाद अलग अलग नहीं हो सकते।

समष्टिवादियों की आस्था संसद में है। संसद प्रजातंत्र का मूर्तरूप है और सका एक विशिष्ट साधन है। संसद में बहुमत प्राप्त करने के लिए राजनैतिक लों के निर्माण की आवश्यकता होती है। ये दल जनता को अपने कार्यक्रम से रिचित कराने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों को अपनाते हैं। इस प्रकार नमत बनता है और संसद में बहुमत होने पर सरकार का निर्माण होता है। माजवादी सरकार निर्मित होने पर वह भूमि, उद्योग और उत्पादन के समस्त धनों का राष्ट्रीयकरण कर पूँजीवाद का उन्मूलन कर देगा। राज्य का आर्थिक न पर एकाधिपत्य होगा। प्रत्येक कार्य राज्य द्वारा जन-हित की दृष्टि से होगा ौर शोषण का अन्त हो जायगा। इस प्रकार समष्टिवादी समाज की स्थापना गी। किन्तु समाजवादी समाज की स्थापना बलात् न होकर क्रमशः और शनैः नैः होगी। सभी उद्योग धन्धों का एक साथ राष्ट्रीयकरण नहीं होगा। ऐसा रने से राष्ट्र-अहित होने की सम्भावना हो सकती है। अतः राष्ट्रीयकरण क्रमशः गा। इसके अतिरिक्त सभी उद्योग धन्धे राष्ट्रीयकरण के लिए उपयुक्त भी हीं होते। व्यवसाय तीन प्रकार के होते हैं—(१) पूर्ण परिपक्व व्यवसाय न्हें आधारभूत उद्योग (Key Industries) कहते हैं, जैसे बैंक लोहा ोयला खान, विद्युत और यातायात आदि का राष्ट्रीयकरण शीघ्र आवश्यक है। २) ऐसे व्यवसाय जो अभी राष्ट्रीयकरण के लिए उपयुक्त नहीं हैं जैसे कागज ाबुन दियासलाई, तेल, वस्त्र आदि और (३) वे जो न तो सदा विकेन्द्रित ौर व्यक्तिगत अधिकार में हैं जैसे, बढ़ई, दर्जी धोबी, होटल आदि। ब्रिटेन की बर पार्टी ने अपने शासनकाल में बैंक, खान, औजार के कारखाने और चिकित्सा ादि का संसदीय नीति द्वारा शनैः-शनैः राष्ट्रीयकरण किया था। धीरे-धीरे ाष्ट्रीयकरण करने से व्यवसाय सुसंगठित हो जायेगा। कर्मचारियों को अनुभव ोगा और यह अनुभव अन्य उद्योगों के राष्ट्रीयकरण में लाभकारी होगा।

समष्टिवादी किसी व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण बिना मुआवजा दिये नहीं रेंगे। बर्नार्ड शा का कथन है कि मुआवजा न देकर आर्थिक संकटों को पैदा रना होगा। ब्रिटिश लेबर पार्टी मुआवजा देने के पक्ष में है। एटली ने सन् १९१४ में ऐसे ही विचार प्रकट किये थे। किन्तु भारतीय समाजवादी दल ुआवजा देने का पूर्ण विरोधी है। अब उत्तर प्रदेश में जमींदारी का उन्मूलन

हुआ तो उसने मुआवजा देने का विरोध किया था। अतः सभी समाजवादी मुआवजे के प्रश्न पर एकमत नहीं हैं।

समष्टिवादी वैधानिक जनतंत्रीय नीति के उपासक हैं। सुधार और विकास उनकी कार्य-प्रणाली का एक प्रमुख अंग है। समाजवाद की स्थापना वैधानिक ढंगों से हो सकती है, इसमें उनका अटूट विश्वास है। जहाँ जनतंत्रीय प्रणाली प्रतिष्ठित है और मताधिकार सभी को उपलब्ध है तो रक्तपात की क्या आवश्यकता है? गुप्त षड्यंत्रों एवं रक्तपात की आवश्यकता नहीं होती है वहाँ प्रकाश्य रूप से कार्य करना असम्भव होता है। ब्रिटेन, अमरीका और भारत जैसे देशों में समाजवाद की स्थापना वैधानिक जनतंत्रीय तरीकों से की जा सकती है। अतः समष्टिवादी वैधानिक जनवाद को समाजवाद की प्रतिष्ठा के लिए एक विशिष्ट साधन समझते हैं। वे उन्हीं कार्यों को करते हैं जो वैधानिक दृष्टि से उचित हैं।

सामाजिक व्यवस्था

समष्टिवादी राजनैतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीयकरण में विश्वास करते हैं। अतः समाजवादी व्यवस्था में जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जायेगा उनमें से जो अखिल देशीय होंगे वे केन्द्र के अन्तर्गत रहेंगे, अन्य सब स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित होंगे। जो इन उद्योगों में काम करेंगे उनके अधिकार सुरक्षित होंगे और उनका निम्नतम वेतन निर्धारित कर दिया जायगा। यह निर्धारित वेतन कम-से-कम इतना अवश्य होगा जिससे समुचित जीवन यापन करना सम्भव हो सके। राष्ट्रीयकरण सभी उद्योगों का नहीं होगा। केवल उन्हीं व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण होगा जो कि आधारभूत उद्योग अथवा उत्पादन के प्रमुख साधन हैं। फलतः समष्टिवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत उद्योग एवं सम्पत्ति भी रहेगी। व्यक्तियों की आमदनी में विशेष अन्तर नहीं रहेगा। आर्थिक साम्य लाने के लिए पूँजीपतियों पर कर भार अधिक रहेगा। उन पर आय कर और सम्पत्ति पर मृत्यु-कर लगाकर आर्थिक वैषम्य को दूर किया जायगा। इस व्यवस्था में राष्ट्रीकृत व्यवसायों का लक्ष्य लाभ की अपेक्षा जन-हित होगा। जिस वस्तु की समाज को आवश्यकता होगी उसी का उत्पादन होगा। वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण भी सामाजिक आवश्यकता के दृष्टि बिन्दु से होगा। सर्व साधारण के उपभोग की वस्तुओं का मूल्य लागत से कम भी हो सकता है।

राज्य का यह प्रधान कर्तव्य होगा कि वह बेरोजगारों को काम दे, जब तक उन्हें कोई काम नहीं मिलता है तब तक उनके भरण-पोषण के लिए वृत्ति (Doles) देना आवश्यक होगा। समाजवादी समाज में यदि कोई भूखा-नंगा रहता है, तो इससे अधिक और कोई लज्जास्पद बात नहीं हो सकती। अतः यह राज्य का पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वृद्ध, अपाहिज और ऐसे लोगों की, जो शारीरिक दृष्टि से काम करने में अयोग्य हैं, उनकी जीविका की व्यवस्था करे। यह राज्य का कर्तव्य ही नहीं अपितु उसका उत्तरदायित्व है।

समाजवादी व्यवस्था में एक निश्चित अवस्था तक बच्चों को स्कूल जाना अनिवार्य होगा। यह आयु १६ या १८ वर्ष तक हो सकती है। शिक्षण-काल में छात्रों से अन्य कोई काम नहीं लिया जायेगा। निःशुल्क शिक्षा के साथ-साथ विद्यार्थियों को और अन्य सुविधाएँ भी उपलब्ध होंगी। उन्हें पुस्तकें और जलपान मुफ्त मिलेगा।

राज्य और स्वतंत्रता

समष्टिवादियों की दृष्टि में राज्य न एक 'वर्गीय संस्था' है और न 'वर्ग-संघर्ष' ही समाज की आधारशिला है। राज्य या समाज सावयव के समान है। जिस प्रकार सावयव और उसके अंगों में पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध होता है और वे अन्योन्याश्रित होते हैं, उसी प्रकार समाज और व्यक्ति भी एक-दूसरे से सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित होते हैं। व्यक्ति का बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास राज्य या समाज द्वारा ही सम्भव है। समाज की प्रगति भी व्यक्ति पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यक्ति-हित और राज्य हित अन्योन्याश्रित हैं, अतः राज्य एक वर्ग-सहयोगी संस्था है। यद्यपि पूँजीपति और श्रमिक दोनों वर्गों में वर्ग-विभेद है, किन्तु समाज-कल्याण हेतु उनमें पारस्परिक सहयोग परम आवश्यक है। यह पारस्परिक सहयोग तभी सम्भव होगा जबकि पूँजीपति द्वारा शोषण बन्द हो। यह शोषण की प्रक्रिया राज्य द्वारा ही बन्द हो सकती है। अतः राज्य का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर एकाधिकार होना चाहिए।

समष्टिवादी, व्यक्तिवादियों की भाँति, व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मानव प्रगति के लिए आवश्यक समझते हैं। किन्तु व्यक्तिवादी नकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं, जबकि समष्टिवादी व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास एवं स्वतंत्रता की धारणा राज्य में ही सम्भव समझते हैं। समाजवादियों की धारणा है कि बिना राज्य के हस्तक्षेप के व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। व्यक्तिवादियों

की स्वतंत्रता में केवल योग्यतम ही जीवित रह सकेगा, किन्तु समाजवादी स्वतंत्रता में सभी को व्यक्तित्व-विकास के समान अवसर उपलब्ध होंगे और राज्य के हस्तक्षेप से अयोग्यतम भी योग्यतम बन सकेगा। अतः राज्य का अस्तित्व एवं उसका हस्तक्षेप मानव के व्यक्तित्व विकास के लिए परमावश्यक है। चिरकालीन शोषण एवं दबाव से विमुक्ति पाकर मानव स्वेच्छा से विचाराभिव्यक्ति कर सकेगा। ऐसे वातावरण में ही उसका विकास सम्भव हो सकेगा। इस प्रकार राज्य का आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना नितान्त आवश्यक है।

समष्टिवाद की विशेषताएँ

(१) समष्टिवाद हिंसात्मक या क्रान्तिकारी उपायों की अपेक्षा शान्तिमय वैधानिक एवं विकासवादी उपायों में अपनी निष्ठा प्रदर्शित करता है।

(२) समष्टिवादी कार्ल मार्क्स के कट्टर-अनुयायी नहीं हैं। वे अन्य समाजवादी विचारकों की विचारधाराओं को स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि मार्क्स के विचारों में देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

(३) समष्टिवाद का जनतंत्र और व्यक्ति-स्वतन्त्रता में पूर्ण विश्वास है। यह समाजवादी समाज की प्रतिष्ठा एवं संचालन जनतंत्रीय प्रणाली द्वारा ही करना चाहता है। जनतंत्र में, विभिन्न दलों का निर्माण, मूल अधिकार, भाषण-लेखन की स्वतंत्रता, वयस्क मताधिकार आदि निहित हैं। इसमें अधिनायकवाद को कोई स्थान नहीं है।

(४) समष्टिवाद 'वर्ग संघर्ष' की अपेक्षा 'वर्ग-समन्वय' में अपनी आस्था प्रकट करता है। 'वर्ग-संघर्ष' को सिद्धान्ततः यह अवश्य मानता है किन्तु यह समाज की आधारशिला नहीं है।

(५) समाजवादी व्यवस्था में राज्य का प्रमुख एवं विशिष्ट स्थान है। उत्पादन के साधनों पर उसका एकाधिपत्य होगा और उसी के द्वारा वे संचालित होंगे। किन्तु यह कार्य शनैः-शनैः होगा। बल प्रयोग को वे अनुचित समझते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य का कार्य अधिक बढ़ जायेगा।

(६) समष्टिवाद में व्यक्तिगत उद्योग एवं सम्पत्ति भी रहेंगी किन्तु वे शोषण के साधन नहीं बनने पायेंगे।

(७) समष्टिवादी व्यवस्था में उत्पादन लाभ की अपेक्षा उपयोग एवं आवश्यकता की दृष्टि से होगा।

समष्टिवाद और साम्यवाद

(१) मार्क्स का दर्शन साम्यवाद की आधारशिला है। यद्यपि परिस्थिति वशात् साम्यवाद में अनेक संशोधन हुए हैं, किन्तु साम्यवादियों का आदि प्रेरक मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही है। साम्यवाद का आधार भौतिक द्वन्द्ववाद, इतिहास की भौतिक व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, श्रम एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त और सर्वहारा का अधिनायकत्व है। किन्तु समष्टिवाद के प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवाद, फेबियनवाद और संशोधनवाद हैं। यद्यपि समष्टिवादी मार्क्सवाद के अनेक विचारों से सहमत नहीं हैं, किन्तु वे उसका पूर्ण परित्याग नहीं करते।

(२) साम्यवाद सर्वहारा के अधिनायकत्व में विश्वास करता है। उसकी आस्था परम्परागत संसदीय प्रजातंत्र में नहीं है। साम्यवादियों के मतानुसार सर्वहारा की अधिनायक-शाही में राजनीतिक प्रजातंत्र न वांछनीय है और न व्यावहारिक ही। फिर साम्यवादियों ने प्रजातंत्र की परिभाषा भी नवीन दी है। किन्तु समष्टिवादी परम्परागत संसदीय प्रजातंत्र में विश्वास करते हैं। वे इस प्रजातंत्री ढाँचे को और अधिक विकसित एवं जनवादी बनाना चाहते हैं। उनका यह अटूट विश्वास है कि इस लोकतांत्रिक प्रजातंत्र के द्वारा समष्टिवाद की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

(३) साम्यवाद और समष्टिवाद में जो प्रमुख विभेद है वह कार्य प्रणाली का है। सी० एम० जोड और अन्य विचारक इसी धारणा के हैं। साम्यवाद अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाता है। उसके मत में सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ही साम्यवाद की प्रतिष्ठा हो सकती है। पूँजीवाद का अन्त केवल पूँजीपतियों को आतंकित करके ही किया जा सकता है। पूँजीवादी-वर्ग इतना चालाक है कि उसे शान्तिमय एवं वैध उपायों द्वारा अधीनस्थ नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साम्यवाद एक क्रान्तिकारी दर्शन है। किन्तु समष्टिवाद इस कार्य-प्रणाली का समर्थक नहीं है। वह वैधानिक साधनों में विश्वास करता है। शनैः-शनैः नीति ही उसकी कार्य-प्रणाली का प्रमुख आधार है। वह पूँजीवाद का अन्त सशस्त्र क्रान्ति की अपेक्षा वैधानिक शान्तिमय एवं जनवादी साधनों द्वारा करना चाहता है। एबेन्स्टिन (Ebenstein) इस अन्तर के विषय में कहता है कि, साम्यवादी एकमात्र क्रान्तिकारी कार्य एवं गृह-युद्ध द्वारा पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं, किन्तु समाजवादी इसके विपरीत इन वैधानिक साधनों को अपनाते हैं। वे गोली की अपेक्षा मत द्वारा सत्ता हस्तगत करते हैं और वे जानते हैं कि इस सत्ता

का उपभोग चिरकाल तक नहीं करता है। वे अगले चुनाव में मत द्वारा पदच्युत किये जा सकते हैं।[1] इस प्रकार समष्टिवाद विकासवादी एवं सुधारवादी है।

(४) साम्यवाद दर्शन और संगठन के एकत्व पर बल देता है। साम्यवादी दलों में आन्तरिक जनवाद (inner democracy) प्रतिष्ठित है। प्रत्येक सदस्य दल के अन्दर किसी भी प्रस्तुत प्रस्ताव पर अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट कर सकता है, किन्तु पूर्ण वाद-विवाद हो चुकने के उपरान्त और एक निश्चित निर्णय ले लेने के बाद, कोई भी सदस्य उस निर्णय की अवहेलना या आलोचना या विरोध नहीं कर सकता। इस प्रथा को जनवादी केन्द्रीयकरण (democratic centralism) की संज्ञा प्रदान की गयी है। प्रत्येक सदस्य के लिए यह अनिवार्य है कि उसका राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि-बिन्दु मार्क्स के दर्शन के अनुकूल ही हो। इस प्रकार साम्यवाद में वैचारिक एकता परम आवश्यक है। किन्तु समष्टिवाद केवल संगठन की एकता पर बल देता है न कि दर्शन की एकता पर। समष्टिवादी दल की सदस्यता प्राप्त करने के लिए केवल सुधारवादी समाजवाद में निष्ठा होना ही पर्याप्त है। चाहे किसी सदस्य के विचारों की पृष्ठभूमि कुछ भी हो उसकी एकमात्र आस्था सुधारवादी समाजवाद में हो, यही आवश्यक है। ब्रिटिश लेबर पार्टी में मार्क्सवादी अमार्क्सवादी, उदारवादी और ईसाई समाजवादी आदि विभिन्न विचारों के सदस्य रहे हैं। 'लास्की' मार्क्स' वादी था। केटलिन (Catlin) और डर्बिन (Durbin) आदि विचारक घोर अमार्क्सवादी थे। लीजस्मिथ (Lees Smith) उदारवादी था और सर स्टैफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) धार्मिक समाजवादी था।

(५) साम्यवाद राज्य को अन्त में समाप्त कर देने के पक्ष में है। मार्क्स के कथनानुसार पूँजीवादी तत्वों को समूल नष्ट करने के लिए राज्य की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु राज्य का अस्तित्व केवल संक्रमित काल तक ही बना रहेगा। साम्यवादी अवस्था में अन्ततोगत्वा राज्य मुरझा कर गिर जायगा (Will

---

1 "First, communist seek to bring about the end of capitalism by a single act of revolutionary upheaval and civil war Socialist, on the other hand adhere to strict constitutional Procedures they seek power by ballots rather than bullets, and once in office, they know they are not in for ages, but are subject to be voted out in the next election."

wither away)। किन्तु समष्टिवाद में राज्य के मुरझा कर मिटने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे राज्य की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। वे उसके विकास पर बल देते हैं। समष्टिवादी व्यवस्था में राज्य की सत्ता अपरिमित होगी और कार्य क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी।

(६) साम्यवादी समाज में—"प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार कार्य करेगा और उसे आवश्यकतानुसार वस्तुएँ मिलेंगी।' किन्तु समष्टिवादी व्यवस्था में "प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार कार्य करेगा, किन्तु उसे श्रम के अनुसार वेतन मिलेगा।"

समष्टिवाद की आलोचना

(१) समष्टिवाद शासन-व्यवस्था की व्यक्तिवादियों ने कटु आलोचना की है। उनका कथन है कि समष्टिवादी शासन में निरंकुशवाद तथा नौकरशाही की प्रधानता रहेगी। राज्य के कार्य बढ़ने से राजकीय कर्मचारी भ्रष्ट एवं पतित हो जावेंगे। उद्योग धन्धों का प्रबन्ध, कर्मचारियों की नियुक्ति और ठेके देने आदि का एकाधिकार उन्हें उपलब्ध होगा। अतः पक्षपात रिश्वत और कुनबापरस्ती को प्रोत्साहन मिलेगा। फलतः ऐसी दशा में समाज में अनैतिकता बढ़ेगी। इसके उत्तर में समाजवादियों का कथन है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका निर्माण जन इच्छा से हुआ है और उसकी आज्ञाओं का पालन करना मनुष्य अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं। जनमत के इच्छानुसार ही शासन-तंत्र चलेगा। इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार का प्रमुख कारण पूँजीपति ही ही है। अतः जब पूँजीपति का अन्त हो जावेगा तो भ्रष्टाचार का कोई प्रश्न ही नहीं रहेगा।

(२) दूसरे उद्योगों का समाजीकरण कर देने से व्यक्ति की कार्य-कुशलता नष्ट हो जायेगी। कार्य-कुशल एवं योग्य व्यक्ति उत्पादन में कोई विशेष अभिरुचि नहीं लेंगे क्योंकि उनके सम्मुख कोई प्रलोभन नहीं रहेगा। आर्थिक समानता की प्रतिष्ठा के कारण धन इकट्ठा करना सम्भव नहीं होगा। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि व्यक्ति फिर भी, अधिक आमदनी के लिए प्रयत्नशील रहेंगे जिससे कि उनका जीवन-स्तर उच्चतर हो सके।

(३) तीसरे, मिल स्पेन्सर तथा अन्य आलोचकों का मत है कि समाजवादी शासन-व्यवस्था में राज्य को अधिक शक्तिशाली बना देने से मनुष्य दास-तुल्य हो

जायेगा।[1] व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी और मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य के लिए राज्य पर निर्भर करेगा। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि राज्य के कार्यों और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में कोई मौलिक विरोध नहीं है। राज्य द्वारा प्रदत्त आर्थिक स्वतंत्रता अन्य स्वतंत्रताओं को मूर्तरूप प्रदान करती है। बिना आर्थिक स्वातंत्र्य के अन्य स्वतंत्रताओं का कोई औचित्य नहीं है। अतः समाजवादियों का लक्ष्य अधिकतम सुविधा प्रदान करके अधिकतम स्वतंत्रता प्रदान करना है, और यही स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ है।

(४) चौथे, उग्र समाजवादी इसके प्रजातंत्रीय कार्यक्रम को अव्यावहारिक बताते हैं। उनका कथन है कि प्रजातंत्रीय कार्यक्रम एवं सुधारों द्वारा पूँजीवाद का अन्त नहीं किया जा सकता। पूँजीवादी छोटे-छोटे सुधारों में तो हस्तक्षेप नहीं करेंगे, किन्तु जैसे ही बड़े सुधारों द्वारा उनके हितों पर कठोर चोट होगी, वे उनका डट कर विरोध करेंगे। ऐसी स्थिति में बिना हिंसा व सशस्त्र क्रान्ति के कोई बड़ा सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं होगा। अतः प्रजातंत्रीय कार्यक्रम द्वारा पूँजीवाद का अन्त नहीं हो सकता।

(५) पाँचवें प्रजातंत्रीय कार्यक्रम द्वारा श्रमिक-नेता पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। वे राजनीतिक लोकप्रियता और पद-लोलुपता के शिकार हो जाते हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य स्वार्थपरता हो जाता है। श्रमिक-समस्याओं में उनकी कोई अभिरुचि नहीं रह जाती। वस्तुतः ये जन-नेता राजनीतिक मायाजाल में फँसकर श्रमिक-आन्दोलनों का बड़ा अहित करते हैं।

(६) छठे, समष्टिवादी व्यवस्था में श्रमिकों के जीवन में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं होगा। निस्सन्देह ऐसी व्यवस्था में उन्हें कुछ विशेष सुविधायें अथवा अधिकार उपलब्ध हो जायेंगे किन्तु रहेंगे फिर भी वे श्रमिक ही। वे कोई मौलिक कार्य नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन्हें दूसरों के आदेशों पर चलना होगा। उनकी रचनात्मक शक्ति विकसित नहीं हो पायेगी। वस्तुतः वे स्वयमेव स्वामी न होकर दास ही रहेंगे। केवल स्वामित्व का परिवर्तन होगा। एक की दासता का परित्याग कर दूसरे की दासता को ग्रहण करना होगा।

1 "Individuals shall become the slaves of the state and collectivism would introduce the servile state" (Hilaire Belloc)

और दर्शन का विषय हो गया। 'सुख' का स्थान 'उपयोगी' या 'उपयोगितावाद' शब्द ने ग्रहण किया। यद्यपि 'ह्यूम' और 'लॉक' दोनों अनुबन्धवादी हैं, किन्तु राज्य की रचना के पीछे जो धारणा है, वह 'उपयोगितावाद' को चरितार्थ करती है। यद्यपि आधुनिक और प्राचीन सुखवाद में भिन्नता है किन्तु दोनों सुख को निर्देशक तत्त्व अवश्य मानते हैं। प्रारम्भिक सुखवाद का जो रूप था वह व्यक्तिवादी था किन्तु आधुनिक सुखवाद का स्वरूप परोपकारी है। इसे 'परार्थवादी सुखवाद' भी कहते हैं।

उपयोगितावादी राजदर्शन के क्षेत्र में विचार करने वाले दार्शनिकों में सर्व प्रथम अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम (David Hume) का नाम आता है। उसका यह एक मत था कि अनुबन्ध से राज्य का यथार्थ स्पष्टीकरण न होकर उपयोगिता से ही होना सम्भव है। किन्तु आधुनिक उपयोगितावाद के प्रतिपादक रिचार्ड कम्बरलैण्ड थे। इस विचारक ने एक निबन्ध लिखा, जिसमें यह सिद्ध किया कि सार्वजनिक कल्याण ही सर्वोत्तम गुण है। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांस में अनेक उपयोगितावादी पैदा हुए, जिनमें हेल्विटियस (Helvetius), भौतिक अर्थशास्त्री (Physiocrats) हालबाख (Holbach) आदि प्रसिद्ध हैं। उनका कथन था कि मनुष्य के जीवन में दो प्रेरक शक्तियाँ हैं—आनन्द (Pleasure) और पीड़ा (Pain)। इन दो शक्तियों के वशीभूत होकर ही मनुष्य कार्य करता है। किन्तु कौन-सा कार्य सामाजिक दृष्टि से उचित और अनुचित है, इसका उत्तर हेल्विटियस ने दिया। उसका उत्तर था—"*जिस कार्य से अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित होता है* (Greatest good of the greatest number) वह अच्छा है और इसके विपरीत बुरा।" इसकी दृष्टि में, 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित" ही विधि-निर्माण और आचार का एक मापदण्ड होना चाहिए। फ्रांस के भौतिक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग अर्थशास्त्र में किया।

'बेन्थम' इन फ्रांसीसी विचारकों और विशेषतः प्रीस्टले (Priestley) से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। वह इन विचारों को इंग्लैण्ड ले आया। बेन्थम ने 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' के सिद्धान्त के आधार पर अनेक सुन्दर सामाजिक योजनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनका प्रभाव इंग्लैण्ड के १९ वीं शताब्दी के सुधारों पर पर्याप्त रूप से पड़ा। बेन्थम के अनुयायियों में जेम्स मिल (James Mill) जॉन स्टूअर्ट मिल (J. S. Mill) और जॉन ऑस्टिन (John Austin) आदि प्रमुख हैं।

उपयोगितावाद की विशेषताएँ

(१) उपयोगितावादी विचारधारा विकासवादी है। यह ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि एक विचारक द्वारा प्रतिपादन करने के पश्चात् यथावत् रहा हो। वास्तविकता तो यह है कि इसका क्रमिक विकास होता रहा है। प्रारम्भ में यह संकीर्ण अवश्य था किन्तु उत्तरोत्तर यह स्पष्ट, व्यापक और विकसित होता रहा। बेन्थम के उपयोगितावाद को जॉन स्टुअर्ट मिल ने संशोधित कर उसे यथार्थ रूप प्रदान किया। इसके विचारक कट्टरवादिता से बचते रहे तथा सतत प्रयत्नशील रहे कि यह सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल विकसित होता रहे।

(२) उपयोगितावाद की द्वितीय विशिष्टता इसकी व्यावहारिकता है। उपयोगितावादी विचारकों के सिद्धान्त की आधारशिला 'यथार्थवाद' है, न कि 'कल्पनावाद'। वस्तुतः यह एक मानवीय और व्यावहारिक दर्शन है। 'राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करके इसका उद्देश्य अपने आपको राज्य के अध्यवस्थापन में प्रतिमूर्त करना होता है।" कल्पनावादियों की निगमनात्मक (deductive) अध्ययन-प्रणाली के विपरीत उपयोगितावादियों ने व्याप्ति एवं अनुभूतिमूलक (inductive and empiric) पद्धति का प्रयोग किया। उपयोगितावाद का सक्रिय आन्दोलनों और व्यक्तियों की अभिरुचियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। दीन दुखियों के प्रति 'उनकी निरन्तर सक्रिय सहानुभूति और मानव-कल्याण के प्रति उनका उत्साह' उनके व्यावहारिक तथा वास्तविक चिन्तन का द्योतक है।

(३) तृतीय विशेषता उपयोगितावाद की मनोवैज्ञानिकता है। मनुष्य की समस्त गतिविधियों का उद्देश्य सुख प्राप्ति ही है। वह आनन्द को प्राप्त करना चाहता है और दुःख का परित्याग करना चाहता है। किन्तु सुख-प्राप्ति व्यक्ति केवल अपने तक ही परिमित नहीं करना चाहता अपितु समाज के प्रत्येक नागरिक की सुख-प्राप्ति की वह मनोकामना करता है। उसके सुख में समस्त नागरिकों का सुख सन्निहित है। अतः राज्य को ऐसे ही कार्य करने चाहिए जिनके द्वारा 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' हो सके।

(४) उपयोगितावादी आचार-शास्त्र को अधिक महत्त्व देते हैं। राजनीति में भी आचार-शास्त्र निहित है। प्रत्येक राजनीतिक कृत्य की उपादेयता तभी है जब कि वह अधिकतम व्यक्तियों को लाभान्वित करता हो। सार्वजनिक हित होता हो। इसी प्रकार राज्य की विधि की उपयोगिता भी इसी पर निर्भर करती है कि उससे अधिकतम व्यक्तियों का हित साधन होता हो। उपयोगितावादी विधि के

दो पक्ष मानते हैं (१) निषेधात्मक और (२) रचनात्मक। निषेधात्मक से अभिप्राय अनुचित वातावरण का विनाश होता है और रचनात्मक से निर्माण कार्य का होता है। इस प्रकार राज्य का प्रत्येक कार्य सुख-दुख पर आधारित होना चाहिए। उसके कार्यों की कसौटी नागरिकों का सुख-दुख ही होना चाहिए।

जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham)

(१७४८—१८३२)

उपयोगितावाद का सर्वप्रथम संस्थापक बेन्थम था। इसका जन्म १५ फरवरी १७४८ को लंदन में हुआ। इसका परिवार मध्यम-वर्गीय था। इसके पिता वकील थे। बेन्थम को भी कानून की शिक्षा दी गई थी। इसके पिता की यह बलवती इच्छा थी कि बेन्थम न्याय-विभाग का कोई उच्च पदाधिकारी बने किन्तु बेन्थम की अभिरुचि कानून में नहीं थी। कालेज के सहपाठी इसे दार्शनिक कहा करते थे। बेन्थम प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी था। इसने सोलह वर्ष की अवस्था में ही बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। कानून शिक्षा के उपरान्त बेन्थम ने वकालत करना प्रारम्भ किया। किन्तु वकालत करने की अपेक्षा बेन्थम ने विधियों और अधिनियमों के अध्ययन एवं संशोधन का कार्य करना प्रारम्भ किया। उसने अनेक सुधारवादी योजनाएँ प्रस्तुत कीं। उसकी अनेक योजनाओं को राज्य ने संरक्षण प्रदान किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जितने भी सुधार हुए हैं, उनका श्रेय बेन्थम को है। हेनरी मेन (Henry Maine) के कथनानुसार इंगलैण्ड में शायद ही कोई ऐसा सुधार हो जिस पर बेन्थम का प्रभाव न पड़ा हो।

बेन्थम स्वभाव से ही बड़ा परिश्रमी और कुशाग्र बुद्धिवाला था। उसने स्वयं अपने ही प्रयास से कोई भाषाएँ सीखीं, वह बयासी वर्ष तक जीवित रहा। वह इतना अध्यवसायी था कि लगभग पचास वर्ष तक १५ पृष्ठ प्रति दिन लिखता रहा। अंग्रेजी भाषा को न्यूनतम (Minimum) अधिकतम (Maximum) संहिताकरण (Codification) उपयोगितावादी (Utilitarian) आदि शब्दों की देन बेन्थम की ही है। लार्ड विलियम बेंटिंक (Lord William Bentinck) भी उससे प्रभावित हुआ और उसके भारतीय सुधारों में इसकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

बेन्थम की निम्नलिखित रचनाएँ हैं :

(1) Fragment on Government (1776)
(2) Introduction to the principles of morals and legislation (1789)

(3) Constitutional code (1830)

(4) Papers on Codification and Public Instruction (1817)

(5) A theory of Punishment and Reward (1811)

बेन्थम का उपयोगितावाद

बेन्थम को प्रीस्टले के लेखों में उल्लिखित 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' नामक उक्ति से प्रेरणा मिली। राज्य के परम लक्ष्य के सम्बन्ध में फ्रांसिस (Francis) और हचीसन (Hutcheson) ने भी इसी पर बल दिया था। बेन्थम को इसे मूर्तरूप प्रदान करने में सुखवादी मनोविज्ञान (Hedonistic Psychology) से सहायता मिली। उसने 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' नामक उक्ति को अपने सुख-दुख के सिद्धान्त से विभूषित किया। बेन्थम की प्रमुख रचना Introduction to Principle of morals and legislation का प्रथम वाक्य है—प्रकृति ने मानव जाति को दो प्रमुख सम्पन्न स्वामियों—सुख और दुख के अधीन बनाया है।"[1] वस्तुतः बेन्थम के सिद्धान्त का यह केन्द्र-बिन्दु है। मनुष्य के कार्य सुख-दुख पर निर्भर हैं। यही जीवन का सार है। "हम जो कुछ भी करते हैं, जो कुछ भी कहते हैं जो कुछ भी सोचते हैं, अपनी अधीनता दूर करने के लिए जो कुछ भी करते हैं सभी से इस तथ्य की पुष्टि होती है। इसी का प्रमाण मिलता है।" उसका कहना है कि उपयोगिता का सिद्धान्त इसी अधीनता को स्वीकार करता है। बेन्थम के शब्दों में 'उपयोगिता के सिद्धान्त से हमारा तात्पर्य उसी सिद्धान्त से है, जिससे सम्बन्धित व्यक्ति की प्रसन्नता में वृद्धि या ह्रास होता है और जिसके आधार पर वह प्रत्येक कार्य को या तो उचित ठहराता है या अनुचित दूसरे शब्दों में जिससे सुखानुभूति होती है या दुख समाप्त होता है। मैं यह बात प्रत्येक कार्य के लिए कहता हूँ और इसीलिए मेरी यह बात किसी एक व्यक्ति पर नहीं, अपितु प्रत्येक राज्यीय कार्य के सम्बन्ध में लागू होती है।" आगे चलकर बेन्थम इस सिद्धान्त को 'सर्वोच्च सुख-सिद्धान्त (The greatest happiness principle) कह कर पुकारता है। जब सार्वजनिक क्षेत्र में इसे लागू किया जाता है तो 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों का मूल्यांकन अपने सुख-दुख के मापदण्ड से करता है। किन्तु

---

1 "Nature has put mankind under the governance of two Sovereign masters——Pleasure and pain" (J Bentham)

...ज्य और समाज में इसका मापदण्ड 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' होता है। इस प्रकार अमुक कार्य की नैतिकता या अनैतिकता व्यक्ति के सुख ...न से प्रकट होती है। इस प्रकार इस तथ्य की कसौटी मानसिक की अपेक्षा ...ात है, जोकि राजनीति-दर्शन को बेन्थम की एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण देन है।

बेन्थम के अनुसार उपयोगितावाद कोई आदर्श या मनन की वस्तु न होकर ...र्वथा व्यावहारिक है। इसका आधार अनुभव है। अनुभव ही इसकी कसौटी ..., और परिणाम ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। यह कल्पना और भाव ...म भावना का विरोधी है। इसके अनुसार अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है।

विभिन्न कार्यों के करने से दुःख और सुख की तुलना एवं माप किस प्रकार की ...य? बिना किसी माप के इस निर्णय पर पहुँचना कि अमुक कार्य के करने से अधिक ...ख की सम्भावना है या कम, असम्भव है। इस प्रकार की माप के लिए यह परमा-...वश्यक है कि सभी सुख एक ही प्रकार के हों। उनमें केवल 'मात्रा-विषयक अन्तर' (difference of quantity) हो और गुणविषयक अन्तर (differ-...nce of quality) न हो। बेन्थम का यह दृढ़ मत है कि सुख या ...न्तर में केवल मात्रा-विषयक ही अन्तर है। उसका ऐतिहासिक सूत्र Pushpin ...oetry इसका औचित्य सिद्ध करता है। पुश्पिन इंग्लैण्ड के शिशुओं का एक ...ल है। बेन्थम का कथन है कि सुख अथवा उपयोगिता के दृष्टिकोण से पुश्पिन ...न और कविता के अध्ययन में कोई मौलिक विभेद नहीं है। इन दोनों से समान ...मात्रा का सुख मिलता है (quantity of pleasure being equal, Pushpin is as good as poetry)।

बेन्थम के अनुसार सुख-दुःख की मात्रा की परख सात विशिष्टताओं के द्वारा ...ी जाती है—(१) तीव्रता (intensity) (२) समय-प्रसार (duration), (३) निश्चय (certainty or uncertainty)। (४) समीपता (propinquity or remoteness), (५) [illegible] (fecundity), (६) शुद्धता (purity), (७) विस्तार (extent)। ...न्थम का कथन है कि उपरोक्त कारणों के आधार पर ही हम समस्त बातों की ...रखते हैं। ये ही सातों कारण हमारे राजनीतिक नैतिक, धार्मिक व्यावहारिक ...र व्यावसायिक क्रियाओं के माप हैं। इन्हीं के आधार पर वस्तु की उपयोगिता ...निर्धारित होती है। बेन्थम ने सुख और दुःख के दो प्रकार बतलाये हैं—(१) ...सामान्य या सरल और (२) जटिल। सामान्य या सरल प्रकार के १४ सुख ...ते हैं और १२ दुःख। सुख इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रिय सुख, (२) धन और

सम्पत्ति सुख (३) निपुणता का सुख, (४) मित्रता या सद्भावना का सुख, (५) यश का सुख, (६) शक्ति या सत्ता का सुख (७) धार्मिक सुख, (८) दया का सुख, (९ निर्दयता का सुख (१०) स्मृति का सुख (११) कल्पना का सुख, (१२) आशा का सुख, (१३) सम्पर्क या मिलन का सुख, और (१४) सहायता का सुख। दुख—(१) दरिद्रता (२) भावना, (३) परेशानी या झिझकिचाहट, (४) शत्रुता, (५) अपयश (६) धार्मिकता, (७) दया, (८) निर्दयता या दुर्भावना (९) स्मृति (१०) कल्पना (११) आशा और (१२) सम्पर्क। इसके अतिरिक्त मिश्रित सुख और दुख भी होते हैं। मनुष्यों की सुख-दुखानुभूति शक्ति (Sensibility) भी शारीरिक गठन, चरित्र, शिक्षा, जाति और लिङ्ग भेद आदि ३२ लक्षणों के अनुसार विभिन्न होती है। इस प्रकार सुख दुख की माप इन सबको दृष्टि में रख कर करनी पड़ती है।

उपयोगितावाद और राज्य

'अधिकतम लोगों का अधिकतम हित' ही समाज या राज्य की कसौटी है, अतः व्यवस्थापक को इसी आधार पर कार्य करना चाहिए। ऐसे नियमों का निर्माण होना चाहिए जिनसे व्यक्तियों के सुख में वृद्धि और दुख का निवारण हो। कानून की उपयोगिता तीन प्रकार से मालूम होती है: (१) प्रथम, इससे राज्य के प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा उपलब्ध होती है अथवा नहीं (२) द्वितीय, इससे व्यक्तियों को आवश्यकता की सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने लगती हैं या नहीं, और (३) तृतीय इसके द्वारा प्रत्येक नागरिक साम्यभावना की अनुभूति करता है या नहीं। इस प्रकार बेन्थम ने कानून की उपयोगिता के सम्बन्ध में अनेक चार्ट बनाये हैं। बेन्थम ने विधियों का वर्गीकरण भी किया है: (१) अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ, (२) संवैधानिक विधियाँ (३) राजकीय या नागरिक विधियाँ और (४) दैन्य विधियाँ।

बेन्थम ने व्यक्तियों के व्यवहार के नियमन हेतु और उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए दण्ड-व्यवस्था की है, जो चार प्रकार की है (१) प्राकृतिक, (२) राजनीतिक (३) नैतिक या सामाजिक और, (४) धार्मिक। समाज-विरुद्ध कार्य करने पर, राज्य केवल राजनीतिक दण्ड भय का ही प्रयोग कर सकता है।

उपयोगिता और व्यक्तिवाद

व्यक्ति-स्वातंत्र्य का बेन्थम के लिए बड़ा महत्व है। वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समानता को जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। अतः उसकी दृष्टि में प्रत्येक

व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व-विकास के लिए सर्व-सुलभ अवसर मिलने चाहिए। किन्तु समाज में पूर्ण स्वातंत्र्य पारस्परिक संघर्ष और अराजकता का मार्ग प्रशस्त करता है। *इसलिए नियंत्रण भी आवश्यक है जो कि राज्य द्वारा ही सम्भव है।* बेन्थम भी अन्य व्यक्तियों की भाँति, राज्य को एक आवश्यक विकार समझता है, और राज्य-नियम जो कि व्यक्ति-स्वतंत्रता में बाधक हैं, विकार तुल्य हैं। किन्तु अन्य विकल्प भी क्या है? अतः बेन्थम ने राज्य के नियंत्रण में कमी की वकालत की है। नियंत्रण विधियों द्वारा होता है, इसीलिए कानूनों की संख्या कम होनी चाहिए। राज्य का पुनीत कर्तव्य है कि वह कम विधियों की रचना करे क्योंकि अधिक विधियाँ हानिप्रद हैं, जिस प्रकार कि अधिक औषध। अधिक औषध सेवन से स्वास्थ्य खराब हो जाता है, उसी प्रकार अधिक कानूनों से समाज-विकास रुक जाता है। किन्तु अस्वस्थ होने पर औषध आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक अव्यवस्था होने पर राज्य-नियमों की भी आवश्यकता है, क्योंकि औषध का कार्य करते हैं। निस्सन्देह राज्य-नियम अवरोधक तो अवश्य हैं, किन्तु आवश्यक भी हैं। किन्तु राज्य को चाहिए कि व्यक्ति के कल्याण हेतु उसे अधिकतम स्वतंत्रता प्रदान करे। यही राज्य की उपयोगिता का भी परिचायक है। *प्रत्येक विधि-निर्माण* से पूर्व राज्य के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम, जिस विधि का निर्माण हो रहा है, उसका लक्ष्य समाज में व्याप्त किसी सामान्य बुराई को रोकना है, जैसे—चोरी। द्वितीय विधि जिसका निर्माण हो गया है उसकी अवहेलना पर व्यक्ति को जो दण्ड मिलता है वह अधिक और बड़ी बुराई तो नहीं है, अपेक्षाकृत उसके अपराध के।

बेन्थम की स्वतंत्रता की कल्पना निषेधात्मक है। उसकी दृष्टि में स्वतंत्रता का अभाव ही वास्तविक स्वतंत्रता है। उग्र व्यक्तिवादी राज्य और अहस्तक्षेप नीति (Laissez Faire) को उपयोगितावाद की आदर्श व्यवस्था कहा है और राज्य के हस्तक्षेप को तभी न्यायोचित बताया है जबकि उससे उपयोगिता की वृद्धि होती हो। अतः राज्य को केवल शान्ति स्थापन के लिए विधि-निर्माण करना चाहिए और इसी दृष्टिकोण से हस्तक्षेप भी। किन्तु फिर भी विधि-निर्माण की कसौटी उपयोगिता ही होनी चाहिए।

जेम्स मिल (James Mill)
(१७७३–१८३६)

जेम्स मिल का जन्म ६ अप्रैल १७७३ ई० को स्काटलैण्ड के एक ग्राम में हुआ था। उसका पिता मोची था किन्तु उसने जेम्स को उच्च शिक्षा दिलाई। वह प्रति

मवरा विश्वविद्यालय का स्नातक था। अध्ययनोपरान्त उसने पादरी का पद सँभाला। उसने विभिन्न विषयों का गहन अध्ययन किया। लन्दन में वह बेन्थम से परिचित हुआ। अन्य उपयोगितावादियों के भी सम्पर्क में आया और उपयोगितावादी विचारधारा का समर्थक बन गया। सन् १८१८ में उसने भारत का इतिहास लिखा। इस रचना की लोक-प्रियता ने उसे इण्डिया-आफिस में स्थान दिला दिया।

मिल पर बेन्थम का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद का समर्थन किया। वह "बेन्थम के सभी शिष्यों में सर्वाधिक अध्यवसायी सम्भवत सबसे अधिक समर्थ और सबसे अधिक दुराग्रही था।" जेम्स मिल का मत है कि कार्यों की नैतिकता और अनैतिकता उसकी उपयोगिता पर निर्भर करती है। जो कार्य जितना अधिक उपयोगी है उसे उतना ही अधिक सर्वोत्तम समझना चाहिए। यही कसौटी विधि के सम्बन्ध में भी है कि जिन विधियों से अधिकतम लाभ हो वे उतनी ही श्रेष्ठ हैं अन्यथा नहीं। जेम्स मिल के मत में, राज्य का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से मनुष्यों के कार्यों को मर्यादित करे, जिससे किसी की स्वतंत्रता का हनन न हो। डेविडसन (Davidson) का कथन है कि जेम्स मिल "बेन्थम के उपरान्त प्रतिवादी उपयोगितावाद का नेता था और इस राजनीतिक सम्प्रदाय के व्यावहारिक सुधारों को मूर्तरूप देने में सर्वोच्च सक्रिय शक्ति था।"

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)

(१८०६–१८७३)

मिल का जन्म सन् १८०६ में हुआ था। उसके पिता जेम्स मिल और बेन्थम घनिष्ट मित्र थे। दोनों ने स्टुअर्ट मिल को उपयोगितावाद का उच्चकोटि का विचारक एवं प्रचारक बनाने का संकल्प लिया। अतः मिल की शिक्षा खूब विधिवत् चली। आठ वर्ष की उम्र में ही मिल को प्लेटो का 'डायलॉग' (Dialogue) कण्ठाग्र करा दिया गया। उसका पाठ्यक्रम उसका पिता ही तैयार करता था। जिस समय स्टुअर्ट मिल सत्रह वर्ष का हुआ, वह विभिन्न विषयों में निष्णात हो गया था और उसे अपने पिता के सहायक के रूप में इण्डिया-आफिस में नौकरी मिल गई। उसकी प्रतिभा ने उसे अपने पिता के स्थान पर पहुँचा दिया। १८३१ ई० में अपने पिता के विरोध पर श्रीमती टेलर से विवाह कर लिया। श्रीमती टेलर की दूरदर्शिता, बौद्धिक प्रतिभा और सम्प्रान्तता का मिल पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

इसने अपनी पुस्तक 'स्वतंत्रता' (On Liberty) १८५९ ई० में लिखी। इस पुस्तक का इतना महत्व है कि मनुष्य जाति के इतिहास में इसकी तुलना केवल मिल्टन (Milton) की 'एरोपैगिटिका' (Areopagitica) से ही की जा सकती है। यह पुस्तक मिल ने अपनी पत्नी टेलर को समर्पित की। मिल अपने अन्तिम दिनों में दक्षिणी फ्रांस में अपनी पत्नी की कब्र के पास मकान बनवा कर रहने लगा। सन् १८६५–६८ तक वह ब्रिटिश संसद का सदस्य रहा। संसद में इसके भाषण आकर्षण के केन्द्र थे। इसने संसदीय सदस्यता काल में—(१) श्रमिक-वर्ग-हित, (२) नारी मताधिकार, और (३) आयरलैण्ड के भूमि-सुधार पर अधिक बल दिया। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अहस्तक्षेप नीति (Laissez Faire) को न्यायसंगत बता कर इसने राजनीति दर्शन को अनुपम देन दी।

मिल का उपयोगितावाद

मिल ने 'उपयोगितावाद' नामक पुस्तक में अपने विचार प्रकट किये हैं। इसने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त को नवीन दिशा प्रदान की है। इसका उपयोगितावाद बेन्थम का संशोधनवाद है। "उन्होंने बेन्थम की कठोर नैतिक मान्यताओं को नम्र बना दिया है और ऐसा करके उन्होंने उपयोगितावाद को अधिक मानवीय पर, साथ ही कम स्थिर और कम दृढ़ बना दिया।"

बेन्थम ने केवल मात्रा का ही सुखों में भेद माना था, गुण या प्रकार (quality or kind) का नहीं। मिल को बेन्थम की ऐतिहासिक उक्ति—Quantity of pleasure being equal, pushpin is as good as poetry, न्यायसंगत नहीं मालूम पड़ी। इसने सुखों में उच्चतर और निम्नतर का विभेद किया। सुखों में गुणात्मक अन्तर होता है, यह इसकी महान् देन है। मिल ने कहा है, 'एक सन्तुष्ट शूकर होने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है। एक सन्तुष्ट मूढ़ बने रहने की अपेक्षा असन्तुष्ट सुकरात या मनीषी होना अधिक अच्छा है। और यदि उस मूर्ख या शूकर का मत इससे भिन्न है, तो यह इसलिए है कि वह प्रश्न के केवल अपने एक पक्ष को ही समझता है। तुलना का अन्य पक्ष दोनों पक्षों को समझता है।"[1] मिल के संशोधन से बेन्थम का उपयोगितावाद

---

1 "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better Socrates dissatisfied than a fool satisfied And if the fool, or the pig, is of different opinion, it is because they only know their own side of the question. The other party to the comparison knows both sides"

अस्तव्यस्त हो गया। वस्तुतः वह उपयोगितावाद ही नहीं रहा क्योंकि उपयोगितावाद का मूल्यांकन सुख के आधार पर होता है और केवल वस्तु की उपयोगिता ही मात्र नहीं रह जाती। व्यक्ति के व्यक्तित्व का भी उसमें समावेश है। इस प्रकार गुणात्मक विभेद से उपयोगिता का मापदण्ड व्यक्ति भी होता है। बेन्थम का उपयोगितावाद पदार्थ विषयक है, जबकि मिल का व्यक्ति-विषयक। इसके अतिरिक्त मिल ने व्यक्तिगत सुख और सार्वजनिक सुख के अन्तर को शिथिल किया है जो कि बेन्थम से भिन्न है। उसका कथन है, 'व्यक्ति का अधिकतम सुख उपयोगितावाद का मापदण्ड नहीं है, अपितु सामाजिक रूप में अधिकतम सुख ही उसका मानदण्ड है।[1] "अपने और अन्य के सुख के बीच, उपयोगितावाद के अनुसार उतना अधिक निष्पक्ष होना चाहिए जितना कि एक निरपेक्ष और उदार दर्शक होता है।"

बेन्थम ने सामाजिक कल्याण हेतु केवल बाह्य दबावों (external sanctions) को ही माना था, किन्तु मिल ने बाह्य एवं आन्तरिक दोनों दबावों को मान्यता प्रदान की है। इन सुधारों के कारण आलोचकों का कथन है कि मिल बेन्थम के उपयोगितावाद से अलग हो गया है एक भ्रान्त धारणा है। उसने उसमें संशोधन अवश्य किये हैं, किन्तु रूप अपरिवर्तित ही रहा है।

आलोचना

(१) अन्तरात्मावादी विचारक उपयोगितावाद को नैतिकता की संज्ञा प्रदान करते हैं। इन विचारकों का कथन है कि इससे व्यक्ति का स्तर निम्न होता है और मनुष्यत्व भी विलुप्त हो जाता है। आर० एच० मुरे (R. H. Murray) के शब्दों में 'यदि हम बेन्थम की भाँति व्यक्ति से उसकी आत्मा को छीन लेते हैं तो नैतिकता या अनैतिकतापूर्ण कार्य जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, यद्यपि ऐसे कार्य शेष रह जाते हैं जो सर्वसाधारण के लिए लाभप्रद हों या न हों। जिस प्रकार बेन्थम की दृष्टि में, व्यक्ति की आत्मा नहीं है, उसी प्रकार समाज की भी आत्मा नहीं है। अपराधी समाज द्वारा दिये गये दण्ड को अनुभव नहीं करता।"[2]

---

1 "The utilitarian standard is not the agent's own greatest happiness but the greatest amount of happiness altogether."

2 "If we take away conscience, as Bentham does" (then only then) "there is no such thing as a moral or an

(२) मनोवैज्ञानिक और नैतिक आधारों पर भी उपयोगितावाद न्यायसंग
नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति स्वार्थी होता है, किन्तु स्वार्थ ह
उसकी एकमात्र विशिष्टता नहीं होती। वह अपनी भी और साथ-साथ दूसरों क
भी उन्नति चाहता है। हेनरी ड्रमण्ड (Henry Drummond) के म
में, 'व्यक्ति के अन्दर न केवल अपनी सत्ता है, अपितु दूसरों के अस्तित्व के लि
भी संघर्ष चला करता है। अतः मनुष्य-स्वभाव के लिए केवल एक पक्ष के आधा
पर, बिना दूसरे पक्ष का ध्यान दिये, कोई मनोवैज्ञानिक या नैतिक सिद्धान्त बनान
गम्भीर दोष है।'[1]

(३) आनन्द जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य नहीं हो सकता। बहुधा हम देखते
हैं कि व्यक्ति अपने नैतिक आदर्शों की पूर्ति हेतु सुख-दुःख का विचार नहीं करता
और न सभी कार्य सुख की इच्छा से ही प्रेरित होते हैं। मनुष्य में भोग एवं त्याग
दोनों प्रवृत्तियों का समावेश है। कभी-कभी वह अपने आनन्द-जनक कार्यों को छोड़
परोपकारी कार्य करता है। यदि आनन्द ही जीवन का लक्ष्य हो तो समाज-सेवा
राष्ट्र प्रेम और लोकहित कार्यों का कोई स्थान ही नहीं रहे। अतः जीवन का
लक्ष्य केवल सुख ही न हो कर परोपकार आदि पुनीत भावनाएँ भी हैं।

(४) बेन्थम ने उपयोगितावादी सुखों में मात्रात्मक भेद माना है, गुणात्मक
नहीं। उसकी ऐतिहासिक उक्ति 'पुशपिन पोइट्री' (Pushpin poetry)
इसका स्पष्टीकरण करती है। यह न तो बुद्धिगम्य है और न व्याव
हारिक। यदि मिल के गुणात्मक भेद को ही मान लें, तो विभिन्न प्रकार के सुखों
को नाप करके उनकी सापेक्ष उपयोगिता (Relative utility) निर्धा-
रित करना कठिन है। फिर गुणात्मक भेद से उपयोगिता का मापदण्ड व्यक्ति भी
होता है एकमात्र वस्तु ही नहीं। बेन्थम वस्तु को ही मापदण्ड मानता था।

---

immoral action, though there my remain acts that are generally useful or the reverse As there is no individual conscience, so there is no collective conscience The culprit does not feel the censure of the community ''

1 "There is in man a struggle not only for one's own existence but also for the existence of others Therefore, to build a psychological and ethical theory on one aspect of human nature to the exclusion of others is seriously defective''

इसी कारण 'टामस कारलायल' ने बेन्थम के दर्शन को सूअर दर्शन (pig philosophy) की संज्ञा प्रदान की।

(५) 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' में अनेक गम्भीर दोष हैं। प्रथम, यह मात्रामूलक (Quantitative) है और गुणों के अनुसार अन्तर नहीं करता। फलतः इसका प्रयोग वहीं केवल समान हित वाले और एक प्रकार के हों वहीं हो सकता है, अन्यथा विपरीत स्थिति में सम्भव नहीं। द्वितीय, सुखों का योग सम्भव दिखाई नहीं देता, क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हितों का योग केवल शून्य ही होता है। जैसे पूँजीपति का हित शोषण में है और सर्वहारा का इस शोषण के विरुद्ध विद्रोह करने में। दोनों के हितों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता है, अतः योगफल शून्य आता है। तृतीय 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' भी व्यावहारिक नहीं है। उदाहरणार्थ किसी विधि-निर्माण से उत्तर-प्रदेश के १० चीनी फैक्टरी-मालिकों में से प्रत्येक को १००० रु० का लाभ होता है, तो कुल लाभ १०, ० रु० हुआ। किन्तु इसी विधि से ६ ० मजदूरों की मजदूरी में प्रत्येक की १ रु० की कटौती होती है तो इस प्रकार कुल ६०० रु० की हानि हो जाती है। इस प्रकार फैक्टरी-मालिकों का १ ०० रु० जो कि अधिकतम लाभ है, मजदूरों की ६ ० रु० की हानि से ज्यादा है, अतः विधि निर्माण भी आवश्यक है। किन्तु जहाँ तक 'अधिकतम' व्यक्तियों का प्रश्न है, इससे केवल १० व्यक्तियों का लाभ और ६०० रु० की हानि होती है। ऐसी दशा में विधि निर्माण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' नितान्त असम्भव एवं अव्यावहारिक है। 'जे०मेकन' का यह कथन सर्वथा तर्कसंगत ही है कि अंकगणित राजनीति में उतना ही अनुपयोगी है जितना कि राजनीति अंकगणित में।

(६) बेन्थम के उपयोगितावाद से पूँजीपति ही लाभान्वित हुए। सुख की मात्रा की अधिकतम वृद्धि हेतु पूँजीपतियों ने सर्वहारा का शोषण करने के लिए बेन्थम के सिद्धान्त से प्रेरणा ली। उन्होंने अपनी स्वार्थ के कारण मानवता का विस्मरण किया। हैलोवैल का कथन है कि बेन्थमवाद एक ऐसा उदारतावाद है जो निरंकुशता के लिए अधिक अनुकूल है।"

— —

। ६ ।

फासिस्टवाद (Fascism)

'फासिस्टवाद' बीसवीं शताब्दी की देन है। यह एक उग्र सर्वाधिकारवादी आन्दोलन था। योरोप में यह आन्दोलन बड़ी तीव्र गति से उभड़ा—रूस में बोल्शेविकवाद के रूप में जर्मनी में नाजीवाद के रूप में और इटली में फासिस्टवाद के रूप में। बोल्शेविकवाद और फासिस्टवाद में बड़ा अन्तर है, किन्तु फासिस्टवाद और नाजीवाद में कोई विभेद नहीं है। प्रथम को इटली में फासिस्टवाद और द्वितीय को जर्मनी में नाजीवाद की संज्ञा मिली। फासिस्टवाद शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द फैसियो (Fascio) से हुई है। इसका अर्थ 'समूह' या 'गट्ठर' है, जो एक साथ बेंत की छड़ियों के समूह के रूप में बाँधे गये हों और जिनके बीच में मूठ में बाहर निकलती हुई एक कुल्हाड़ी का निशान हो। यह निशान 'एकता में शक्ति' का प्रतीक है। यह चिह्न रोमन इतिहास में मजिस्ट्रेट के अन्तर्गत एक कर्मचारी की शक्ति का द्योतक था। इटली में फासिस्ट दल बड़ा सुसंगठित एवं शक्तिशाली था। इसके विरोधियों ने ही इसे फासिस्ट नाम से पुकारा। क्रमशः यह फासिस्टवाद कहलाया। फासिस्टवाद कोई एक सिद्धान्त न हो कर एक सिद्धान्त-समूह का नाम है, जिसमें इटली के फासिस्टवाद और जर्मनी के नाजीवाद का समावेश है। साम्यवाद की भाँति यह भी जीवन का एक सर्वांगपूर्ण दर्शन है। राज्य और राजनीतिक विषयों के अलावा, यह आचार, धर्म, संस्कृति और आर्थिक विषयों पर भी समुचित प्रकाश डालता है। यह दर्शन उदारवाद, सभात्मक सरकार, स्वतंत्रता, समानता और शान्ति का प्रबलतम विरोधी है। यह मानवतावाद में कोई निष्ठा नहीं रखता। मरारमैन लिखता है, "मानव-समता तथा प्रजातांत्रिक शासन के प्रतिकूल फासिस्टवाद मनुष्यों की, 'अपरिवर्तनशीलता, लाभप्रद और फलदायक असमानता' का प्रतिपादन करता है, और इस विशिष्ट कुलीनतंत्रीय शासन के अधिकार का समर्थक है। फासिस्टवाद में "व्यक्ति राज्य के लिए जीवित रहता है, राज्य व्यक्ति के लिए जीवित नहीं रहता।"

फासिस्टवाद का इतिहास

फासिस्टवाद का उदय प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त हुआ। इसकी उत्पत्ति इटली में समाजवादी क्रान्ति की विफलता के कारण हुई। युद्ध के दिनों में समाजवादियों का इटली में बहुमत था। वे युद्ध में भाग लेने के प्रबल विरोधी थे और इसके लिए उन्होंने काफी प्रचार भी किया। इटली के समाजवादी सन् १९१७ की रूसी राज्य-क्रान्ति से बड़े प्रभावित हुए थे; अतः वे वर्गी-व्यवस्था को ही सर्वश्रेष्ठ समझ कर यहाँ स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु श्रमिकों को लाल झंडे के नीचे संगठित किया और उन्हें पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए कल-कारखानों पर एकाधिकार करने की सलाह दी। जनता क्रान्ति के स्वर्णिम स्वप्न देखने लगी और तत्कालीन प्रतिष्ठित शासन की विरोधी हो गई। इटली की सरकार ने भी राज्य-क्रान्ति के भय के कारण उदासीनता की नीति का अवलम्बन किया। युद्धोपरान्त देश में बेकारी और मंदी फैल गई। सरकार को विवश होकर खर्च में कमी करने के लिए फौजों को तोड़ देना पड़ा जिसके फलस्वरूप असंख्य सैनिक बेकार हो गये। ये सैनिक समाजवादी दल में सम्मिलित हो गये। इस समय समाजवादी दल पूर्णतः संगठित और शक्तिशाली हो गया था। इसका चेम्बर ऑफ डेपुटीज स्थानीय संस्थाओं कल-कारखानों भूमि तथा सभी शक्ति केन्द्रों पर पूर्ण आधिपत्य हो गया था। किन्तु समाजवादियों के पास आकर्षक नारे थे, कोई सुनिश्चित योजनाएं नहीं थीं। उन्हें यह परिज्ञान नहीं था कि किस प्रकार वाणिज्य-व्यवसाय की प्रगति हो, कल-कारखानों का किस प्रकार संचालन किया जाय और बेरोजगारी को किस प्रकार दूर किया जाय। वे तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने में नितान्तमेव असफल रहे। उनसे सैनिक और राष्ट्रवादी भी चिढ़ गये थे, क्योंकि उन्होंने विश्वयुद्ध में भाग लेने का डट कर विरोध किया था। उन्होंने कारखानों पर तालाबन्दी करा कर और उनकी कोई समुचित व्यवस्था न करके पूँजीपति और श्रमिक-वर्ग दोनों को ही अपना विरोधी बना लिया था। इसके अतिरिक्त बेरोजगारी की समस्या भी हल न कर सकने के कारण, बेरोजगार व्यक्तियों के भी वे कोपभाजन बन गये। चुनाव के समय समाजवादियों ने किसानों को जमींदारों की जमीन छीनकर देने का वचन दिया था, किन्तु परिस्थितिवशात् वे इसे पूरा नहीं कर सके। अतः कृषक-वर्ग भी समाजवादियों से असन्तुष्ट हो गया। स्थानीय संस्थाओं में जाते समय समाजवादियों ने जनता से मकान-कर तथा जमीन-कर को घटाने का वायदा किया था किन्तु घटाने की अपेक्षा उन्हें और कर-वृद्धि करनी पड़ी। जनता समाजवादियों के इन कार्य-कलापों से

पूर्णतः निराश और असन्तुष्ट हो गई थी। समाजवादियों की इस स्थिति का उनके विरोधियों ने पूरा लाभ उठाया और राष्ट्रवादी, पूँजीपति तथा भविष्यवादियों ने एक नवीन दल की स्थापना की जो 'फासिस्ट दल' कहलाया।

प्रथम विश्व-युद्ध में इटली ने जर्मनी के विरुद्ध भाग लिया था। जर्मनी की पराजय के उपरान्त, मित्रराष्ट्रों और जर्मनी के बीच 'वर्साई' की सन्धि हुई। इस सन्धि के द्वारा जर्मन उपनिवेशों और युद्ध से बची सामग्री का विभाजन हुआ। विभाजन से इटली लाभान्वित नहीं हो सका। उसकी साम्राज्यवादी लिप्सा अधूरी ही रह गई क्योंकि सभी उपनिवेश और शेष सामग्री को इंगलैण्ड, फ्रांस और अमरीका ने हड़प लिया। इटली के इस राष्ट्रीय अपमान को प्रसिद्ध कवि और राष्ट्रवादी नेता डी अनन्जियो सहन नहीं कर सका। उसने सरस्वती की पूजा त्यागकर दुर्गा की आराधना की। उसने राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए सैनिकों और युवकों का आवाह्न किया। मुसोलिनी ने इस आवाहन का स्वागत किया और काली कमीज धारण करनेवाले स्वयंसेवकों की टोली में कूद पड़ा। सरकार किंकर्तव्य विमूढ़ हो गई और मित्र-राष्ट्रों के देखते-देखते फ्यूम पर इटली का आधिपत्य हो गया। फासिस्टों ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर जनता को भावी प्रगति की ओर आशान्वित कर दिया और उसकी निष्ठा फासिस्ट दल में हो गई।

बेनिटो मुसोलिनी का जन्म २९ जुलाई १८८३ ई० को इटली के सम्पन्न कृषक परिवार में हुआ था। उसका पिता भी एक सक्रिय समाजवादी था, लुहार का काम करता था और उसकी माता एक अध्यापिका थी। मुसोलिनी साधारण-सी शिक्षा प्राप्त करके १९०१ में एक अध्यापक बन गया, किन्तु शीघ्र ही उसे अपने क्रान्तिकारी समाजवादी विचारों के कारण इस पेशे को छोड़ कर स्विट्जरलैण्ड भागना पड़ा। वह स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रिया और इटली में लगभग १२ बार जेल गया। १९१० में उसने अन्तिम रूप से इटली में आ कर समाजवादी आन्दोलन में मुख्यतः एक पत्रकार की हैसियत से भाग लेना प्रारम्भ किया। उस समय उसका लक्ष्य समाजवादी शासन की स्थापना करना था, और वह जार्ज सोरेल की सीधी कार्यवाही से पूर्णतः सहमत था। ९ दिसम्बर को वह समाजवादी दल के पत्र अवन्ती (Avanti) का सम्पादक नियुक्त हुआ। १९१४ के प्रथम महायुद्ध में भाग लेने का पहले तो मुसोलिनी ने विरोध किया था, किन्तु बाद में उसने उसका समर्थन किया। उसके इस अवसरवादी रुख की समाजवादियों ने घोर निन्दा की तथा उसे पूँजीवादी कहा। मुसोलिनी ने अवन्ती के सम्पादकत्व से त्यागपत्र दे दिया

और उसे समाजवादी दल ने पार्टी से निकाल दिया। इस समय भी मुसोलिनी की पूर्ण आस्था समाजवाद में थी। उसने अपने इस निष्कासन पर कहा था "यह न सोचिये कि आप मुझे दल की सदस्यता से अलग करके समाजवाद में जो मेरी निष्ठा है, उसे भी समाप्त कर सकेंगे या आप मुझे क्रान्ति में समाजवाद के लिए काम करने से रोक सकेंगे।" उसने अपना एक दैनिक पत्र 'इटली की जनता' (The Popolo d' Italia) प्रकाशित किया। इस कार्य के लिए उसे फ्रांस से आर्थिक सहायता मिली। समाजवादियों का उस पर यह दोषारोपण कि उसने अपने को फ्रांसीसी पूँजी के हाथ में बेच दिया है, नितान्तमेव सत्य था। १९१५ में वह फौज में भर्ती हो गया और १९१७ तक सैन्य-सेवा में रत रहा। कुछ काल के उपरान्त उसने अपने पत्र का पुनः प्रकाशन आरम्भ कर दिया। मुसोलिनी ने मिलान में २१ मार्च १९१९ को एक छोटी सी सभा बुलाई, जिसने एक 'लड़ाकू सैन्य दल' (Fascio di Combattimento) का निर्माण किया। उत्तरी और मध्य इटली में इससे सम्बन्धित अनेक शाखाएँ स्थापित की गईं। मुसोलिनी की अध्यक्षता में दल की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उसके दल में पूँजीपति सैनिक, मध्यम श्रेणी के लोग भविष्यवादी राष्ट्रवादी और युद्धवादी सभी सम्मिलित हो गये। मुसोलिनी ने घोषणा की, कि हम राजत्व का उन्मूलन नहीं करना चाहते, अपितु वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक शक्तिशाली मंत्रिमण्डल और चैम्बर चाहते हैं। इस घोषणा का यह प्रभाव हुआ कि राजत्व के पक्षपाती भी उसके दल में सम्मिलित हो गये। जिन कारखानों को समाजवादियों ने तालाबन्दी के द्वारा बन्द करा दिया था,' उनको फिर से चालू किया गया। इससे पूँजीपति और मध्यम बेरोजगार श्रमिकों की सहानुभूति फासिस्टों को मिल गई। उन्होंने रेल, ट्राम्बे और डाक-घर की भी रक्षा की, जिन्हें समाजवादी नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते थे। उसके इस कार्य से सरकारी कर्मचारी भी उनके प्रशंसक हो गये। मुसोलिनी ने अपने दल की शक्ति बढ़ा कर उद्घोषित किया कि फासिस्ट दल इटली का शासन-सूत्र सँभालने में पूर्ण समर्थ है। हमने जर्मनी को पराभूत कर राष्ट्र की रक्षा की है, और देश को समाजवादी क्रान्ति के खतरे से बचाया है। यदि हमारी माँगों को नहीं माना गया तो हमें विवश होकर बल प्रयोग का आश्रय लेना पड़ेगा। २८ अक्तूबर १९२२ को ५,०० काली कमीज़वाले फासिस्टों ने रोम की ओर कूच कर दिया। राजा भयभीत हो गया क्योंकि वह जानता था कि सेना उसकी आज्ञा की अवहेलना कर देगी अतः राजा ने मुसोलिनी को मंत्रिमण्डल के निर्माणार्थ आमंत्रित किया। "इस प्रकार न तो युद्ध का नगाड़ा बजा, न एक भी बन्दूक

की मसों भस्म हुई, न एक [illegible] सूखी भूमि रक्त से भीगी हुई। किन्तु राज्य-क्रान्ति हो गई।" जनवरी १९२५ को मुसोलिनी ने प्रकाश्य रूप से वैधानिक प्रणाली का अन्त कर फासिस्ट नीति को क्रियात्मक रूप प्रदान किया। उसने कहा था, "यदि १९वीं शताब्दी समाजवाद, उदारवाद तथा जनतंत्र का युग था, तो २०वीं शताब्दी सर्वाधिकारवाद समष्टिवाद, फासिस्टवाद और शक्ति का युग होगा।" फासिस्टवाद के साफल्य का एक प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भी थी जैसा कि इबनस्टीन कहता है, "चूँकि पश्चिमी प्रजातंत्र विश्व को शान्ति के लिए संगठित करने में नितान्त असफल रहे, फासिस्ट बिना किसी कठिनाई के युद्ध के लिए उसका संगठन करने में सफलीभूत रहे हैं। चूँकि इंगलैण्ड और फ्रांस सामूहिक प्रकार से राष्ट्रीय राज्य की प्रभुता स्थापित करने में दृढ़ थे फासिस्टवाद ने राष्ट्र-संघ की सत्ताओं के विरुद्ध राष्ट्र को तैयार किया। चूँकि जनतांत्रिक शक्तियों ने प्रजातीय समता को मान्यता देना अस्वीकार किया, फासिस्टवाद ने प्रजातीय वैषम्य को अपना सिद्धान्त बना लिया। उन जनतांत्रिक राष्ट्रों के विरुद्ध जिन्होंने उपनिवेशों की जनता के शोषण का अन्त करने में बहुत औचित्य दिखलाया फासिस्टवाद ने एक नवीन युद्ध प्रारम्भ किया, जो प्रजातियों के राष्ट्रीय स्तर के रूप में साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठित करता है। यदि वर्साई संधि के लिए एकत्र राजनीतिज्ञों ने निष्पक्षता, उदारता, दूरदर्शिता एवं समता का दृष्टिकोण अपनाया होता तो निस्सन्देह भावी पीढ़ी फासिस्टवाद के भयंकर खतरों और द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका का शिकार नहीं हो पाती। किन्तु वे राजनीतिज्ञ स्वार्थ में मदान्ध थे। उन्होंने जनवादी सिद्धान्तों की निर्मम हत्या की, जिसके फलस्वरूप फासिस्टवाद का मार्ग प्रशस्त करने में उनका अप्रत्यक्ष योगदान रहा।

फासिस्ट-सिद्धान्त की प्रेरक शक्तियाँ

(१) फासिस्टवादी नेता प्रारम्भ में कोरीनी, फेडरजोनी, वर्गना और फोरगेस के राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभावित हुए थे। इस राष्ट्रवादी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य एक विस्तृत रोमन-साम्राज्य की स्थापना करना था। फासिस्टों ने भी अपना लक्ष्य एक वृहद् रोमन-साम्राज्य की स्थापना बनाया।

(२) हीगेल की विचारधारा ने फासिस्टों को यथेष्ट रूप में प्रभावित किया। आज भी [illegible] सिद्धान्त 'नियो-हीगेलियनिज्म' के नाम से प्रसिद्ध है। नवीन हीगेल वादियों में जियोवानी जेन्टाइल (Giovanni Gentile) उच्च कोटि का दार्शनिक था और इटली में हीगेल के सिद्धान्तों का प्रचार उसी ने किया। उसने फासिस्टवाद को हीगेलवादी पुट दी। मुसोलिनी का भी हीगेलवादी-दर्शन सेवक

शक्ति बना। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्ति के कार्य स्वेच्छात्मक की अपेक्षा नैतिकता-पूर्ण होने चाहिए। व्यक्ति का वही कार्य नैतिक है जो व्यक्ति समाज एवं मानवता की नैतिक वृद्धि में सहायक हो। किन्तु उपयोगितावाद और समाजवाद भौतिक उन्नति को ही जीवन का परम लक्ष्य समझता है। मुसोलिनी तथा अन्य फासिस्ट विचारकों ने आदर्शवादी विचार को अपनाया और समाजवादियों तथा उपयोगिता वादियों के इस दृष्टिकोण को निम्नकोटि का बताया। फासिस्टों का कहना था कि "जीवन का एकमात्र उद्देश्य भौतिक परितोष ही नहीं है। भौतिक परितुष्टि पाशविकता की द्योतक है। जीवन का परम लक्ष्य व्यक्ति की समाज एवं राष्ट्र-सेवा है। यही भावना नैतिकता एवं आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति है। राज्य व्यक्ति की आत्मा का प्रतीक है। राज्य आत्मा और विचारतत्व का प्रतिबिम्ब है, अतः व्यक्ति को अपने भौतिक सुखों का परित्याग करके राष्ट्र-सेवा में रत रहना चाहिए। इस प्रकार फासिस्टों ने नैतिकता एवं आध्यात्मिकता को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर, विश्व शान्ति अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व की भावना को तिरस्कार बनाया।

फासिस्टवाद आदर्शवादी स्वतंत्रता-सम्बन्धी धारणा से भी प्रभावित हुआ। हीगेल और बोसाङ्क के अनुसार सच्ची स्वतंत्रता राज्य के नियमों के परिपालन में ही सन्निहित है। हीगेल ने राज्य को 'विश्वात्मा' तथा बोसाङ्क ने राज्य को 'सामान्य इच्छा' का प्रतीक बताया। मुसोलिनी ने भी इसी विचार-सरणि को अपनाया और सच्ची स्वतंत्रता राज्य के नियमों के अनुसार चलने में ही बतायी। किन्तु मुसोलिनी ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण कर कर्त्तव्यों पर विशेष बल दिया। उसने व्यक्ति को राज्य का दास बना दिया, जिसका अस्तित्व राज्य से भिन्न नहीं है।

(३) फासिस्टों पर दांते (Dante) और मेकेवली (Machiavelli) के विचारों का भी प्रभाव पड़ा। व मेकेवली द्वारा प्रतिपादित रोमन-परम्परा के आधार पर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना चाहते थे। उनकी साम्राज्यवादी नीति पर मेकेवली की स्पष्ट छाप है।

(४) मुसोलिनी को विलियम जेम्स (William James), हेनरी बर्गसों (Henri Bergson) नीत्शे (Nietzsche), जार्ज सोरेल (George Sorel) आदि दार्शनिकों की विचारधारा ने प्रभावित किया। सोरेल के दर्शन से वह अपनी युवावस्था में ही प्रभावित हो चुका था। उस समय उसकी निष्ठा संघवाद में थी। सोरेल ने मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष को बर्गसों

के प्रेरणा-सिद्धान्त (Theory of Intutition) की पुष्टि की। मुसोलिनी ने अपने अधिनायकत्व की पुष्टि के लिए सोरेल के क्रान्तिकारी सिद्धान्त को लागू किया। उसने सोरेल से हिंसा और शक्ति के औचित्य को प्राप्त किया। मुसोलिनी की आस्था किसी सिद्धान्त अथवा विचार में न हो कर कर्म में थी। वह विवेक की अपेक्षा विश्वास को अधिक महत्व देता था। उसका मत था कि विश्वास के द्वारा असम्भव कार्यों को सम्भव बनाया जा सकता है। नीत्से की भाँति मुसोलिनी का भी विश्वास था कि संघर्ष केवल अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए ही अपेक्षित नहीं है, अपितु सत्ता-स्थापित करने के लिए भी आवश्यक है; क्योंकि जीवित रहने के साथ-साथ व्यक्ति या राष्ट्र अपनी यश-कीर्ति की भी कामना करता है जो बिना संघर्ष के सम्भव नहीं है।

(५) मुसोलिनी के जनवाद-विरोधी विचारों पर परेटो (Pareto) का प्रभाव है। वह इस प्रभाव के कारण ही जनवादी प्रणाली का अनौचित्य सिद्ध करता है। उसके कथनानुसार निर्वाचन-प्रणाली धोखे की टट्टी है। इस प्रथा में छल कपट और बेईमानी का ही प्राधान्य है। विचारों की कोई महत्ता नहीं है। उसका विश्वास है कि सभी व्यक्ति विवेकशील एवं प्रतिभा-सम्पन्न नहीं होते। अल्पसंख्या में कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इन दैवी गुणों से विभूषित होते हैं।

फासिस्टवादी दर्शन

फासिस्टवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने के लिए कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसमें उसके उद्देश्यों एवं नीतियों का सांगोपांग एवं तर्क-संगत विवेचन किया गया हो। वस्तुतः फासिस्टवाद का कोई भी ऐसा प्रतिपादक नहीं है जिसने उसके सैद्धान्तिक पक्ष की विवेचना की हो जैसे—कार्लमार्क्स ने नवीन सिद्धान्तों को जोड़कर समाजवाद को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया था या जैसे लेनिन ने बोल्शेविज्म के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। अतः यह कहना न्याय-संगत ही है कि फासिस्टवाद का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। वह पूर्णरूपेण व्यावहारिक तथा परीक्षा और अनुभव पर निर्भर करता है। मुसोलिनी के शब्दों में 'हमारे पास कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि हमलोग धर्म नहीं अपितु स्वतः आन्दोलन हैं हम लोग स्वतंत्र विचारों जनसमुदाय हैं। हम लोग सिद्धान्तों एवं प्रणालियों के मताग्रहकार नहीं हैं, वरन् हम आन्दोलन हैं। फासिस्टवाद यथार्थ पर आधारित है, बाल्शविज्म सिद्धान्त पर। हम लोग निश्चित और वास्तविक होना पसन्द करते हैं। हम विचार और सिद्धान्त के मेघों से बाहर निकलना पसन्द करते हैं।' 'मेरा कार्यक्रम कर्म है, बात नहीं।'

एल्फ्रेड रोको (Alfredo Rocco) भी फासिस्ट शासन में न्यायमंत्री एवं कानून-निर्माता था, कहता है, "यह सत्य है कि फासिस्टवाद सर्वोपरि कर्म तथा भावना है और ऐसा ही भविष्य में इसे रहना चाहिए। यदि यह ऐसा न होता तो इसके पास वह विशाल चालक-शक्ति तथा नव-जीवन सचार की क्षमता न हुई होती, जो आज इसके पास मौजूद है और केवल थोड़े से चुनिन्दा लोगों का एकमात्र विचार बन कर ही रह जाता।" यद्यपि फासिस्टवाद व्यावहारिकता पर अधिक बल देता है किन्तु फिर भी वह कुछ सैद्धान्तिक कल्पनाओं का निर्माण करता है और कुछ सामान्य सामाजिक आदर्शों का निर्धारण करता है। वह इटली के सामाजिक जीवन को मूलतः पुनर्गठित करके नव-जीवन प्रदान करना चाहता है। अतः उसने अपनी इस लक्ष्य पूर्ति के लिए यथार्थवाद और रहस्यवाद का सम्मिश्रण किया है। फासिस्टवाद में कर्म की प्रधानता है, जबकि सिद्धान्त का स्थान गौण है। वह पहले कर्म करता है और बाद में, उसके लिए, सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह सिद्धान्त की प्राप्ति अनुभूति द्वारा करता है न कि तर्क द्वारा। फासिस्टवाद रचना और प्रणाली के जिन नियमों को अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए समय-समय पर अपनाता है, वे ऐसे होते हैं जो कि कार्यरूप में परिणत किये जा चुके हैं। अत: ये नियम निश्चित नहीं होते और अनिवार्यतः इनमें कोई परस्पर मेल भी नहीं होता। यद्यपि फासिस्टवाद का कोई ऐसा घोषणा-पत्र नहीं है जिसमें सिद्धान्तों की विवेचना की गई हो फिर भी इसने 'नागरिक जीवन का एक नवीन विचार' एक शक्तिशाली परिवर्तनकारी आन्दोलन', 'नवीन संस्कृति' 'धर्म की प्रकृति, उसके सम्बन्धों और व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं। फासिस्टवाद के ये विचार मार्क्सवाद, उदारवाद और प्रजातंत्र के विपरीत हैं। इस प्रकार फासिस्टवाद भी एक प्रकार का राजनीति-दर्शन बन गया है। किन्तु यह दर्शन अस्पष्ट है और इसके विचारों में कोई तारतम्य नहीं है, जैसा कि सेबाइन (Sabine) ने कहा है, "यह ऐसे विचारों का संकलनमात्र है, जो विविध स्रोतों से प्राप्त किये गये हैं, और परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुकूल होने के कारण एकत्र कर लिए गये हैं।" यह सिद्धान्त विचार द्वारा परिष्कृत नहीं है और प्रायः भावुकतापूर्ण भी है। यह नीत्से के 'सत्ता की इच्छा' (will to power) के सिद्धान्त हीगेल के राष्ट्रवाद और बर्गसाँ के बुद्धि-निरोधवाद (Anti intelectualism) को सम्मिलित करने का प्रयास है।" इसकी राज्य-सम्बन्धी धारणा अधिकांश में आदर्शवादी है और शासन की कल्पना में कुलीनतंत्र (Aristocracy) को ही स्थान दिया गया है। इस प्रकार इसके विभिन्न विचारों में कोई सगति

नहीं है। ये अवसरवादिता के द्योतक हैं। मुसोलिनी घोर अवसरवादी था। उसने सामयिक परिस्थितियों के अनुसार अपनी नीति का निर्माण किया। मुसोलिनी अपनी युवावस्था में जनवादी, दलवादी, शान्ति-प्रिय, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का कट्टर समर्थक, पूरा नास्तिक और समाजवादी था किन्तु सत्ता-प्राप्ति के उपरान्त वही जनतंत्र का हत्यारा, श्रमिक-आन्दोलन के स्वतंत्र अस्तित्व का घोर शत्रु, युद्ध-पिपासु, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का हनन करनेवाला, ईश्वर में आस्था रखनेवाला और पोप की धार्मिक सत्ता को प्राधान्य देनेवाला, समाजवाद और उदारवाद का परम विरोधी बन गया। उसने अपने समाजवादी बन्धुओं की हत्या करवायी, उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएं दीं और देश-निष्कासन के लिए विवश किया। मत्तौती (Matteotti) जिसने फासिस्टवाद की तुलना एक वेश्या से की थी एक समय मुसोलिनी का समाजवादी साथी था जिसे मुसोलिनी के अधिनायक बनने के बाद मरवा डाला था। मुसोलिनी ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए सभी नीतियों को अपनाया। जिस नीति से स्वार्थ-पूर्ति हो वह उचित, नैतिक एवं न्यायसंगत थी। इस प्रकार कर्म करते समय फासिस्टों के लिए किसी सिद्धान्त का प्रश्न नहीं था। सिद्धान्त का प्रतिपादन कर्म के बाद किया गया। मुसोलिनी ने कहा था, "फासिस्टवाद किसी सिद्धान्त का पहले से ही पूरी तैयारी और विस्तार के साथ पालन-पोषण करता नहीं है। यह कर्म के लिए आवश्यकता से उत्पन्न हुआ था और आरम्भ से ही सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा व्यावहारिक था। "फासिस्ट इटली की राजनीति के शिल्पी हैं, जो किसी सुनिश्चित सिद्धान्त से बँधे हुए नहीं हैं। उनका एक ही लक्ष्य है, और वह है—इटली निवासियों का भावी कल्याण।")

राष्ट्र के प्रति भक्ति

फासिस्ट राष्ट्र की स्तुति करते हैं। आदर्शवादियों की भाँति उनका विश्वास है कि राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व, इच्छा एवं आदर्श होता है जो उसमें बसनेवाले व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न होता है। उदारवाद एवं प्रजातंत्र व्यक्तियों के हितों की रक्षा करते हैं, समाजवाद एक आर्थिक वर्ग के हितों का संरक्षक है, किन्तु फासिस्टवाद सम्पूर्ण समाज का एक इकाई के रूप में ध्यान रखता है। "फासिस्टवाद के लिए समाज ही साध्य है, व्यक्ति साधन है और उसका समस्त जीवन व्यक्तियों का उसके साध्यों की प्राप्ति के लिए, साधनों के रूप में उपयोग करने में ही है।" फासिस्टवादियों की राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में धारणा व्यक्तिवादियों से सर्वथा विपरीत है। वे व्यक्तिवादियों की अणुवादी (Atomistic) अथवा

यांत्रिक (Mechanistic) कल्पना के स्थान पर राज्य की सावयवीय (Organic) प्रकृति मानते हैं । 'समाज' से उनका अभिप्राय सदैव ही 'राष्ट्र' (Nation) से होता है । राष्ट्र का अर्थ है, उन समान लोगों का वह समूह जो सामान्य भाषा, धर्म, रीति, रिवाजों तथा परम्पराओं द्वारा एकता के सूत्र में आबद्ध हों । फासिस्टों के अनुसार व्यक्ति की यदि कोई महत्ता है तो वह राष्ट्रीय जीवन के प्रसंग में ही है, इसके अलावा वह एक निर्जीव पदार्थ है, एक अस्तस्व्यस्तता की तरह है । व्यक्ति का जो एक निश्चित लक्ष्य अथवा व्यक्तित्व हुआ करता है वह राष्ट्र या राज्य के सदस्य होने के नाते ही होता है । राज्य राष्ट्र का एक जीवधारी ढाँचा है। इस प्रकार राज्यवाद (State-ism) और राष्ट्रीयतावाद (Nationalism) दोनों का व्यक्ति के जीवन पर एक-सा ही प्रभाव पड़ता है । राष्ट्र एक आत्म-पूरित इकाई (Self sufficing entity) है, जिसका जीवन सतत और अनन्तकालीन है । राष्ट्र 'अपनी एकता के सूत्र में आबद्ध न केवल जीवित सदस्यों का ही विवरण देता है, अपितु असंख्य सन्ततियों के क्रम का बोध कराता है ।" इस प्रकार फासिस्टवाद राष्ट्र या राज्य की निरंकुश सार्वभौमता की स्थापना करता है और नैतिक एवं वैधानिक दोनों क्षेत्रों में राज्य की सर्वोपरिता बनाये रखता है । फासिस्टवाद के अनुसार व्यक्ति अपनी सम्पत्ति, सभ्यता, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संगठन आदि को राष्ट्र से वरदान स्वरूप प्राप्त करता है और राष्ट्र से अलग उसका कोई भिन्न व्यक्तित्व ही नहीं है । फासिस्टवाद व्यक्ति को अपनी आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए किसी प्रकार के अधिकार प्रदान नहीं करता किन्तु राज्य के कल्याणार्थ व्यक्ति के हितों की आहुति देने को सदा तैयार रहता है । ' राज्य ही अन्तिम या चरम लक्ष्य है जिसे व्यक्ति के विरुद्ध सर्वोच्च अधिकार प्राप्त है जिसका कि सर्वोच्च धर्म राज्य का सदस्य होना है ।' राज्य से पृथक् व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है । व्यक्ति राज्यरूपी विशाल प्रासाद में एक ईंट की भाँति है । राज्य के द्वारा ही उसका सर्वांगीण विकास सम्भव है । मुसोलिनी कहा करता था, "समस्त वस्तुएँ राज्य में हैं, कोई भी राज्य के बाहर नहीं है कोई भी वस्तु या सत्ता राज्य के विरुद्ध नहीं हो सकती ।"

फासिस्टवाद लोकतंत्र, उदारवाद और समाजवाद का विरोधी

फासिस्टवादी प्रजातन्त्र को मूर्खों का शासन समझते हैं जो कि भ्रष्ट, धीरे-धीरे रेंगनेवाला काल्पनिक और अव्यावहारिक है । उनके मतानुसार जनतंत्र सड़ा हुआ मृतक शरीर है और इसकी विधान-सभाएँ केवल वार्तालाप की दुकानें

है, जिनसे किसी प्रकार की कोई फल प्राप्ति नहीं हो सकती । वे प्रजातंत्र को मनो-वैज्ञानिक समझते हैं और उसकी आधारभित्ति को भी अमान्य घोषित करते हैं । उनकी दृष्टि में व्यक्ति का कोई पृथक् व्यक्तित्व या लक्ष्य नहीं है और न उसे प्राकृतिक अधिकार ही उपलब्ध होने चाहिए । फासिस्टों के मत में यह धारणा कि व्यक्ति अपने लिए जीवित रहता है और उसकी स्वतंत्र सत्ता है तथा उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए, तर्क-संगत नहीं है क्योंकि व्यक्ति की राज्य से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं ।

फासिस्टवादी विश्वास करते हैं कि जन-समुदाय अपने को शासित करने के नहीं है । बहुमत सदैव अयोग्य और असमर्थ व्यक्तियों का होता है । इसमें राष्ट्र गौरव के मार्ग प्रदर्शन की क्षमता नहीं होती । इस प्रकार फासिस्ट जनतंत्रीय प्रणाली का अनौचित्य सिद्ध करते हैं । उनकी दृष्टि में, केवल अल्पवर्गीय व्यक्ति ही शासन करने की योग्यता और आकांक्षा रखते हैं । उनमें उच्चकोटि की दूरदर्शिता, महान् व्यक्तित्व, सैद्धान्तिक सम्यक् ज्ञान और राष्ट्र के प्रति अपार श्रद्धा तथा भक्ति होती है । वे अपनी प्रतिभा के द्वारा विभिन्न वर्गों में सामंजस्य स्थापित करने में सफली-भूत हो सकते हैं । वे राष्ट्र-हित को भली-भांति समझते हैं और राष्ट्र की रक्षा कर सकते हैं । नागरिकों को सरकार की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है । उनका पुनीत कर्त्तव्य यह है कि राज्य द्वारा प्रदत्त कामों को पूरा करें । फासिस्ट मानव-असमानता में विश्वास करते हैं, जैसा कि मुसोलिनी ने कहा था, "फासिस्टवाद मानवता की अचल लाभप्रद एवं फलदायी असमानता का पोषण करता है ।" इस प्रकार फासिस्टवाद जनतंत्र की अपेक्षा कुलीन-तंत्रीय शासन व्यवस्था का समर्थक है । ऐसी व्यवस्था का संचालन एक महान् नेता के नेतृत्व में कुछ व्यक्तियों द्वारा होगा । यह नेता पूर्णतः अधिनायक होगा । कुलीनतंत्रीय शासन में विरोधी भावना के लिए कोई स्थान नहीं है ।

फासिस्टवादी जनतंत्र को अस्वाभाविक एवं भ्रमात्मक सिद्धान्त कह कर उसका खंडन करते हैं । वे लौकिक सार्वभौमता (Popular Sovereignty) और सामान्य इच्छा की पद्धति का भी विरोध करते हैं । इनके कथनानुसार सामान्य इच्छा केवल व्यक्तियों की गणना मात्र ही नहीं है, अपितु सामान्य इच्छा में व्यक्तियों की प्रेरणा का योग होता है । चूंकि प्रेरणा को नापा नहीं जा सकता, अतः मतदान हमें सामान्य इच्छा नहीं बतला सकता । फासिस्टवाद जनतांत्रिक सिद्धान्त की सम्पूर्ण पेचीली पद्धति से भिड़ता है और इसके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों को अस्वीकार करता है । "फासिस्टवाद इस बात का खण्डन करता है कि

सदस्य केवल सदस्य होने के नाते मानव समाज का संचालन कर सकते हैं, यह इस बात का भी निषेध करता है कि पारस्परिक विचार विमर्श द्वारा ये सदस्यगण समाज का शासन कर सकते हैं फासिस्टवाद इस तथ्य को भी प्रमाणित करता है कि मानवों में स्वाभाविक, लाभकारी तथा फलदायक असमानता अवश्य रहती है और उन्हें बाह्य यांत्रिक मतदान द्वारा समान नहीं किया जा सकता है।' जन तंत्र का आदर्श सार्वभौमिक मताधिकार के विशाल प्रासाद पर आश्रित है, जबकि फासिस्टवाद का आदर्श पिरामिड के समान है। फासिस्टवादी समाज में नेताओं का निर्वाचन न तो जनता द्वारा ही होगा और न वे जनता के प्रति उत्तरदायी ही होंगे। इसके विपरीत जनता नेताओं के प्रति उत्तरदायी होगी। यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में फौजी अनुशासन और अन्ध आज्ञाकारिता होगी। फासिस्टों के प्रमुख नारे थे—'श्रद्धा रखना, 'आज्ञा पालन करना' और 'लड़ना' तथा 'मुसो लिनी सदैव सही है।' फासिस्टवादी व्यवस्था में जनवादी एवं उदारवादी विचारों के लिए कोई स्थान नहीं है। फासिस्टवाद कुलीनतंत्रीय शासन के सिद्धान्त को अंगीकार करता है और उसी को उसने अपना ध्येय बनाया।)

फासिस्टवाद उदारवाद को एक सरकारी व्यवस्था और सिद्धान्त दोनों के रूप में अस्वीकार करता है। यह व्यक्ति के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को जिसमें कि राज्य का कल्याणकारी आदर्श निहित है, पुनः स्थापित करता है। 'उदार वाद व्यक्ति विशेष के हित में राज्य को अस्वीकार करता है, जबकि फासिस्टवाद राज्य को व्यक्ति की सच्ची यथार्थता के रूप में पुनः स्थिर करता है।'' फासिस्ट वाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता की उदारवादी मान्यता का उपहास करता है। उदार प्रजातंत्र का नारा है—'स्वतंत्रता समता तथा बन्धुत्व' किन्तु फासिस्टवाद, 'आदेश, अनुशासन और सत्ता' पर बल देता है। फासिस्टवाद सत्तावादी और सर्व हारावादी राज्य के आदर्शों को अंगीकार करता है। फासिस्टवाद उदारवादी परम्परा को ठुकराकर सर्वाधिकारी व्यवस्था का निर्माण करता है। उदार वाद व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्रदान करता है, राज्य की आलोचना करने का अधिकार देता है। यदि लोग चाहें तो वैधानिक एवं शान्तिपूर्वक साधनों द्वारा शासन में परिवर्तन कर सकते हैं। किन्तु फासिस्टवाद में व्यक्ति के नैसर्गिक अधि कार सारहीन हैं, क्योंकि अधिकार केवल राज्य द्वारा ही प्रदान किए जाते हैं। फासिस्टवाद व्यक्ति को राज्य के विरोध करने की स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता। फासिस्टवाद के अनुसार व्यक्ति की सच्ची स्वतंत्रता राज्य के आदर्शों के परिपालन में ही है। उदारवाद के अनुसार राज्य को व्यक्ति के सामाजिक, शैक्षिक एवं

सांस्कृतिक कार्यों में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, किन्
फासिस्टवादी राज्य में व्यक्ति के सामाजिक सांस्कृतिक, शैक्षिक, और मनोवैज्ञानि
कार्यों का सम्पादन राज्य द्वारा ही होता है। उदारवाद के अनुसार राज्य साध
है और व्यक्ति साध्य किन्तु फासिस्टवाद के अनुसार व्यक्ति साधन है और राज
साध्य। फासिस्टवादी समाज में राज्य सर्वप्रधान एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न है जबकि
व्यक्ति और वर्ग का स्थान गौण है। फासिस्ट राज्य एक चेतन शक्ति है। उसक
निजी व्यक्तित्व और इच्छा-शक्ति है। राज्य से भिन्न व्यक्ति या वर्ग की को
अलग सत्ता ही नहीं है। उदारवाद में भौतिकता का प्राधान्य है जबकि फासिस्ट
वाद में आध्यात्मिकता की प्रधानता है। फासिस्टवादियों के मत में, भौतिक सन्तुष्
पाशविकता की परिचायक है, यह जीवन का निम्न कोटि का लक्ष्य है
मानवता के लिए नैतिक संघर्षमय आध्यात्मिक एवं संयमी जीवन ही श्रेयस्क
है, अतः फासिस्टवादी नैतिकता को मानव-जीवन में उच्च स्थान देते हैं। व
नैतिकता केवल राज्य में ही सम्भव है। राज्य के नियमों का पालन करना ह
नैतिकता है। नैतिकता की अभिव्यक्ति राष्ट्र-प्रेम, राज्य भक्ति, साम्राज्यवाद
भावना और नेतृ-वर्ग में आस्था से होती है। किन्तु उदारवादी नैतिकता औ
नैतिक जीवन को व्यक्तिगत क्षेत्र के अन्तर्गत रखते हैं। उन्हें राज्य का व्यक्ति
नैतिक जीवन में हस्तक्षेप सह्य नहीं है।

फासिस्टवाद समाजवाद का भी विरोधी है। समाजवादी वर्तमान पूँजीवाद
हति को परिवर्तित कर वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। इस
ध्येय की पूर्तरूप देने के लिए वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन, उत्पादन के समस्
साधनों का समाजीकरण और धन का समुचित वितरण करना चाहते हैं। फासिस्ट
वाद आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं
करना चाहता। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को अनिवार्य समझता है। उसके पास
आर्थिक वैषम्य को दूर करने की कोई योजना नहीं है। फासिस्टवाद मार्क्सवाद
की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या और वर्ग-संघर्ष में कोई विश्वास नहीं करता
उसका यह विश्वास नहीं है कि मानव-कार्य आर्थिक कारणों से ही प्रेरित होते हैं।
मुसोलिनी ने कहा था कि व्यक्ति को धार्मिकता और वीर पूजा' से अन्तःप्रेरणा
मिलती है। फासिस्टों की दृष्टि में आर्थिक कल्याण या सुख ही जीवन का एकमात्
लक्ष्य नहीं है। मुसोलिनी के शब्दों में 'आर्थिक सुख मानव को पशु बना देगा
जो केवल खाने और अच्छा खाने की इच्छा करेगा और इस प्रकार मानवता
को केवल भौतिक जीवन-यापन का यंत्रमात्र बना देगा। फासिस्टवादी वर्ग-संघर्

के स्थान पर वर्ग-सामंजस्य को महत्त्व देते हैं। वे समाज में विविध वर्गों की उपादेयता समझते हैं। उनका विश्वास है कि समाज में विभिन्न वर्ग सहकारी हैं और उनके कोई विरोधी हित नहीं हैं। उनका विश्वास है कि स्वामी और सेवक के बीच ऐक्य-सम्बन्धों की स्थापना हो जाती है और वर्ग विरोध नैसर्गिक या अवश्यम्भावी नहीं है। इस प्रकार फासिस्टवाद विविध वर्गों में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है और उन सभी को राष्ट्र के सम्मुख अर्पित कर देता है। फासिस्टवादी समाजवाद की पूँजीवादी आलोचना को अंगीकार करते हैं। वे पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण उनके अल्प वेतन अधिक घंटे काम और बेहद मुनाफा की भर्त्सना करते हैं, किन्तु समाजवाद द्वारा प्रतिपादित हल को मान्यता प्रदान नहीं करते। फासिस्टवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति और शोषक-वर्ग का उन्मूलन नहीं करना चाहते। वे पूँजीपति वर्ग को उपयोगी समझते हैं। किन्तु ये न तो पूँजीवादी वर्ग को निजी हित के लिए कल-कारखानों पर पूर्ण एकाधिकार एवं नियंत्रण की स्वतंत्रता ही देते हैं और न श्रमिक-संघों को उद्योगों पर स्वेच्छात्मक एकाधिकार की ही छूट देते हैं। फिर भी, फासिस्टवाद, 'कोल' के शब्दों में, "राज्य का समाज के सामाजिक जीवन तथा आर्थिक जीवन के नियंत्रण का अन्तिम अधिकार मानते हुए, आर्थिक मामलों को जहाँ तक सम्भव है, व्यक्तिगत उत्पाद पतियों के हाथों में ही रहने देना चाहता है।"

व्यक्तिगत स्वतंत्रता

फासिस्ट राज्य में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि फासिस्टवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अपेक्षा राज्य की सत्ता पर अधिक बल देते हैं। उनके मत में, व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य की शक्ति पर निर्भर करती है। जितना अधिक राज्य-शक्ति होगी उतना ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता का क्षेत्र व्यापक होगा। फासिस्टों के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता या समानता की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी एक शक्तिशाली राज्य की आवश्यकता है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास स्वयमेव नहीं कर सकता। वह केवल राष्ट्र-हित में ही सम्भव हो सकता है। व्यक्ति का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह अपना व्यक्तित्व को परिवार, वर्ग और अन्तत: राज्य में विलुप्त कर दे। फासिस्टवादियों के अनुसार, "ऐसे किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है, केवल उस स्वतंत्रता के जो राज्य में अन्तर्वर्ती है।" राज्य "निरंकुश इच्छा के अर्थ में एक साधिकार समुदाय है और समाज के लिए सामान्यत: तथा व्यक्तिगत नागरिक के लिए विशेषत: एक प्रतिभू है, जिसकी सुरक्षा

कानूनी बन्धन द्वारा की जाती है।" "स्वतंत्रता एक अधिकार न होकर एक कर्तव्य है।" फासिस्टवादी स्वतंत्रता को नैसर्गिक अधिकार नहीं मानते, यह तो राज्य की एक रियायत है, जो राज्य के नियमों के पालन करने में सन्निहित है। स्वतंत्रता 'कानूनी अधीनता' और 'राज्याधीनता' है। व्यक्ति की स्वतंत्रता समाज-सेवा में ही निहित है। व्यक्ति जितना अपने को समाज में विलीन कर पाता है, वह उतना ही स्वतंत्रता का उपभोग करता है। स्वतंत्रता अनुशासन की द्योतक है, जैसे कि जेन्टाइल कहता है, "कानून और राज्य स्वतंत्रता का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश-स्तम्भ है" तथा "अत्यधिक स्वतंत्रता अत्यधिक राज्य-शक्ति में अनुकल्पित है।" व्यक्ति अपना वास्तविक व्यक्तित्व और सच्ची स्वतंत्रता तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि वह अपनी सत्ता को बड़ी इकाइयों में विलीन कर दे। अतः व्यक्ति की अपेक्षा राज्य या राष्ट्र श्रेष्ठतम है और सामूहिक हित व्यक्तिगत हित से श्रेष्ठतर है। इस प्रकार फासिस्टवाद का प्रमुख लक्ष्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता और अधिकार जो प्रजातंत्र के आधार भूत तत्त्व हैं, उनके स्थान पर नौकरशाही तथा सीढ़ीनुमा श्रेणीबद्ध संगठित राष्ट्र के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करता है और स्वतंत्रता समता तथा भ्रातृत्व के लुभावने नारों की अपेक्षा उत्तरदायित्व अनुशासन और श्रेणीबद्ध संगठन (Hierarchy) को स्थापित करता है।

निगमात्मक राज्य

फासिस्टों का कथन है कि आर्थिक क्षेत्र में निगमात्मक राज्य उनकी सर्वाधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण देन है। यह देन पूँजीवाद और समाजवाद दोनों सिद्धान्तों से भिन्न, उच्चतर एवं नवीनतर है, जैसा कि मुसोलिनी ने कहा था कि निगमात्मक राज्य, "सर्वाधिक साहसपूर्ण और मौलिक कृत्य है, दूसरे शब्दों में सबसे अधिक क्रान्तिकारी कार्य है।" "निगमवाद समाजवाद और उदारवाद दोनों ही से उच्चतर है; यह एक नूतन व्यवस्था का जन्मदाता है।" किन्तु फासिस्टवादी निगमात्मक राज्य के सिद्धान्त में श्रेणी संघवाद और आधुनिक संघवाद दोनों के विचारों का समावेश है। कुमारी विस्किमन के मत में, "फासिस्टवाद सिर्फ पूँजीवाद का प्रतिक्रियास्वरूप ही नहीं है, अपितु यह अपने समाजवादी तत्त्वों से भी पूर्ण है।" एक अन्य लेखक का विचार है कि फासिस्टवाद पूँजीवादी और समाजवादी दोनों है, क्योंकि पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रवृत्तियाँ उसमें निहित हैं।

निगमात्मक राज्य में अधिनायक संगठन और नियंत्रण के फासिस्टवादी सिद्धान्त के आधार पर फासिस्टवादी आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करते हैं। यह आर्थिक

व्यवस्था राज्य द्वारा नियंत्रित पूँजी और श्रम के संगठनों में उपविभाजित कर दी जाती है। प्रत्येक संगठन अपने उद्योग या व्यवसाय पर एकाधिपत्य रखता है। फासिस्टवादियों की धारणा है कि राज्य उन व्यक्तियों द्वारा निर्मित हुआ है, जो समाज के विभिन्न कार्य करनेवाले व्यावसायिक समुदायों में संगठित हैं। ये व्यावसायिक समुदाय समाज के लिए स्वाभाविक और आवश्यक होते हैं। इन समुदायों को कुछ विशिष्ट एवं आवश्यक कार्यों का सम्पादन करना होता है जिनके लिए उनका उत्तरदायित्व राज्य के प्रति होता है। इस प्रकार के प्रत्येक समुदाय को निगम (Corporate) कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को इन निगमों द्वारा ही करता है। ये निगम प्रत्येक व्यक्ति को सामूहिक रूप में करने का अवसर प्रदान करते हैं। इनके द्वारा वर्गीय प्रतियोगिता की अपेक्षा राष्ट्रीय सहयोग एवं सहकारिता को बल मिलता है। श्रमिक ट्रेड युनियनों और निगमों के संगठन में भिन्नता है। निगम एक स्वायत्तशासी संस्था नहीं है। वह राज्य द्वारा नियंत्रित होती है। उसके अधिकारियों का चुनाव उसके सदस्यों द्वारा नहीं होता। उनकी नियुक्ति राज्य द्वारा होती है। निगमों की सदस्यता भी राज्य द्वारा नियमित है। सभी व्यक्ति इसके सदस्य नहीं हो सकते। राज्य की इस प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में 'जोड' का कहना है कि मुसोलिनी कहता है कि— 'फासिस्ट राज्य ने अपने अन्तर्गत राष्ट्र की आर्थिक क्रियाओं को भी सम्मिलित कर लिया है और जिन सामाजिक तथा आर्थिक निगम-समुदायों को उसने जन्म दिया है, उनके द्वारा वह अपना प्रभाव राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अंग पर डालता है और राष्ट्र की सम्पूर्ण आर्थिक राजनैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को जो अपने समुदायों में संगठित है, अपने में शामिल करता है। इस प्रकार फासिस्टवाद आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में भी राज्य की प्रभुसत्ता स्थापित करता है। मालिक और मजदूर की इन निगमों में समान स्थिति है। मुसोलिनी ने राज्य के इस फासिस्ट-सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया है, 'फासिस्टवाद के लिए राज्य निरंकुश है और व्यक्ति तथा समुदाय सापेक्ष है। फासिस्ट राज्य रात का प्रहरी नहीं है, जो जनता की व्यक्तिगत सुरक्षा के लिए आतुर हो और न राज्य का संगठन इसलिए हुआ है कि वह नागरिकों के भौतिक कल्याण एवं शान्तिपूर्ण जीवन की व्यवस्था के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करे। फासिस्टवाद की कल्पना के अनुसार राज्य राष्ट्र के राजनैतिक न्यायिक और आर्थिक संगठन की उपलब्धि के लिए एक आध्यात्मिक सत्ता है। यह ऐसा संगठन है जो अपनी उत्पत्ति तथा विकास में आत्मा की अभिव्यक्ति है। राज्य देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा की गारण्टी देता है, किन्तु

यह जनता की आत्मा की भी रक्षा करता है, जो चिरकाल से उसकी भाषा, लोकाचार एवं धर्म द्वारा विकासोन्मुख रही है। राज्य केवल वर्तमान ही नहीं है, अपितु वह भूत और भविष्य भी है। राज्य नागरिकों को नागरिकता की शिक्षा देता है, वह उन्हें उनका ध्येय बतलाता है, उन्हें एकत्व की ओर प्रेरित करता है; उसका न्याय उनके विविध हितों में एकता की स्थापना करता है, वह भावी सन्तान को कला विज्ञान कानून और मानव-संगठन के क्षेत्रों में जो मस्तिष्क ने सफलताएं उपलब्ध की हैं, उन्हें विरासत के रूप में प्रदान करता है; वह उन्हें एक कबीले के जीवन से मानव-शक्ति के उच्चतम रूप, साम्राज्य-शासन को पहुँचाता है।" इस प्रकार 'प्रत्येक वस्तु राज्य के लिए है; राज्य के विरुद्ध कोई भी वस्तु नहीं है; राज्य से बाहर भी कुछ नहीं है।

जब एननजियो (Annunzio) और उनके अनुयायियों ने सन् १९१९ में फ्यूम (Fiume) के शहर पर एकाधिपत्य कर लिया तो एक नवीन संविधान की रचना की गई। इस संविधान के अनुसार नागरिकों को व्यावसायिक कार्य के सिद्धान्त के आधार पर संगठित करना था। सर्व प्रबन्ध को श्रमिक मालिक और व्यवसायियों के वर्गों में विभक्त कर दिया गया। केवल एक ही संघ को उद्योग या व्यवसाय की प्रत्येक शाखा में मान्यता दी गई। संघ की सदस्यता अनिवार्य नहीं थी। संघ के पदाधिकारी या तो फासिस्ट राजनीतिज्ञ होते थे या ऐसे व्यक्ति जिनकी भक्ति फासिस्ट शासन के प्रति थी। निःसन्देह श्रमिक और मालिकों के संगठन व्यावसायिक आधार पर स्थापित थे। वर्ग-संघर्ष वर्जित था और मालिकों मजदूरों और व्यावसायिकों को राज्य-हित की दृष्टि से एक साथ कार्य करना पड़ता था। जब इटली में १९२२ को फासिस्ट शासन की स्थापना हो गई तो एननजियो की नियमात्मक-पद्धति को ग्रहण कर लिया गया। इस योजना के अपनाने जाने का एक कारण यह भी था कि इटली और विश्व के लोग यह जान सकें कि फासिस्टवाद केवल प्रतिक्रियात्मक दर्शन ही नहीं है, अपितु एक नवीन रचनात्मक सिद्धान्त भी है।

फासिस्ट सरकार ने नियमात्मक प्रणाली को इटली में लागू किया। ये नियम एक उद्योग में अन्तरासंघीय एजेन्सियाँ थे। इनका प्रमुख ध्येय उद्योग में श्रमिकों तथा मालिकों के झगड़ों को संगठित एवं नियंत्रित करना था। यद्यपि कानून की दृष्टि से ये संघ स्वतंत्र थे, किन्तु इनका संचालन राज्य द्वारा होता था। इन नियमों के लिए एक राज्य-मंत्री नियुक्त होता था जो इनकी बैठकों का सभापतित्व करता था। श्रमिक, पूँजीपतियों के प्रतिनिधि और राज्य-कर्मचारी मिल कर

राष्ट्रीय आर्थिक नीति का निर्धारण करते थे। ये निगम केवल आयात-निर्यात उत्पादन, कार्यकाल, वस्तुओं की कीमत और मजदूरी-पूँजीपतियों के समझौते आदि को निश्चित करते थे। राष्ट्रीय आर्थिक जीवन पर इन निगमों का एकाधिकार था। ये निगम राज्य की एकमात्र प्रशासकीय एजेन्सियाँ ही थे और प्रत्येक दशा में एक कारागार से कम नहीं थे। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी केन्द्रीयकरण पूर्णरूपेण व्याप्त था और फासिस्ट पार्टी की इन पर प्रभुता थी।

यद्यपि मुसोलिनी को इस निगमात्मक राज्य-व्यवस्था पर बड़ा गर्व था, किन्तु द्वितीय-महायुद्ध के समय यह व्यवस्था निष्फल सिद्ध हुई। यह निगमात्मक राज्य जिसने एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्वप्निल कल्पना के लिए, गरीब जनता के कल्याण एवं सुख को तिलांजलि कर दिया था, पूर्णतः धूल-धूसरित हो गया। इटली का फासिस्टवाद सैन्य मोर्चे की अपेक्षा आर्थिक मोर्चे पर बुरी तरह पराभूत हुआ। निगमात्मक राज्य ने पूँजी और साम्राज्य के क्षेत्र में परिवर्तन की अपेक्षा औपनिवेशिक क्षति और निर्धनता को बढ़ावा दिया। फलतः मुसोलिनी के बाद निगमात्मक राजकीय व्यवस्था का अन्त हो गया।

जहाँ तक इस निगमवादी पद्धति के महत्व का प्रश्न है, निःसन्देह इसने राज्य के कार्यों का एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। यह 'मध्यमार्गम् नीति' और समाजवाद से उच्चतर थी। इसने राज्य और व्यक्ति को परस्पर एकता के सूत्र में आबद्ध किया। निगम व्यक्तियों की विचाराभिव्यक्ति एवं मतभेदों को एकता का प्रतीक था। इसकी अन्य विशेषता यह थी कि निगमवाद सभी राजनीतिक शासनों से नितान्त भिन्न था। यह प्रत्येक प्रकार के शासन में जारी रह सकता था। निगमवाद और सर्वहारा राज्य में किसी प्रकार का प्रायस्वीय सम्बन्ध नहीं था। इसकी अन्तिम महत्ता यह थी कि निगमवाद ने राज्य के ढाँचे और रूप के नवीन विचारों का प्रतिपादन किया था। इसने बीसवीं शताब्दी के नवीन तथा सच्चे जनतंत्र को उद्घाटित किया। यह न केवल आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित सभी तत्वों के मतभेदों में एकता स्थापित कर सका, अपितु आत्म-अनुशासन को प्रचलित किया। राजनीतिक क्षेत्र में इसने प्रतिनिधित्व के एक नवीन आधार का सूत्रपात किया। धारासभा न तो प्रादेशिक इकाइयों पर निर्भर थी और न यह राजनीतिक दलों का अखाड़ा ही थी।

बुद्धि विरोध अथवा अबौद्धिकवाद
(Anti Intellectualism or Irrationalism)

बुद्धि-विरोध या अबौद्धिकवाद फासिस्टवाद का एक महत्वपूर्ण अंग है।

फासिस्टवाद किसी विशेष सत्य में विश्वास नहीं करता जिसे तर्क की कसौटी पर कसा जा सके। सम्भवतः बुद्धि में अविश्वास फासिस्टवाद की निश्चित सैद्धान्तिक-विहीनता का एक कारण है। उसके मत में, वही सत्य है जिसे राज्य सत्य घोषित करे। फासिस्टवाद मानव की अन्तर्गत प्रवृत्ति (instinctive) और अविवेकात्मक (non rational) पक्ष पर अधिक बल देता है। वह विचारात्मक और विवेकात्मक पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा करता है। उसका विश्वास वाद विवाद की पद्धति में नहीं है। जेन्टाइल के कथनानुसार 'फासिस्टवाद विश्वरूप से बुद्धि-विरोधक और अनिश्चयवादी है; अर्थात् हमारा बुद्धि-विरोध से अभिप्राय व्यवहार से विचार-त्याग करने से है। फासिस्टवाद काल्पनिक पद्धतियों का विरोधी है, जो यथार्थता की परीक्षा के सम्मुख टिक नहीं सकतीं। यह उस समस्त विज्ञान एवं दर्शन-शास्त्र का विरोधी है जो कल्पना और विवेक का ही विषय रहता है। यह वह फासिस्टवाद नहीं है जो सांस्कृतिक मूल्यांकन को अस्वीकृत करता है। यह उतना संस्कृति का विरोधी नहीं है जितना कि बुरी संस्कृति या उस संस्कृति का जो शिक्षित नहीं करती, जो मानव नहीं बनाती, बल्कि जो एक पाण्डित्यपरम्परी और कल्पित कला-शास्त्री, अहंकारी दुनिया में पैदा करती है, जहाँ कि व्यक्ति नैतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से उदासीन रहता है। फासिस्टवाद अपने चारों ओर अव्यावहारिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में समय का दुरुपयोग करना पसन्द नहीं करता। किन्तु जब हम कहते हैं कि यह एक प्रणाली या सिद्धान्त नहीं है, इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि यह एक अन्ध परम्परा या एक विशुद्धतः अस्पष्ट पद्धति है। यदि एक पद्धति या दर्शन से हमारा तात्पर्य एक सजीव विचार, एक सार्वलौकिक नैतिक सिद्धान्त (Principle of universal character) से है, जो नित्य अपनी आन्तरिक उपज और महत्ता का प्रकाशन करता है, तो फासिस्टवाद सुदृढ़ एवं ठोस नींव पर आधारित एक पूर्ण प्रणाली है और जिसके विकास से संचालित एक आर्थिक तर्क है। जिन्हें यह सत्य प्रतीत होता है और इस सिद्धान्त की शक्ति का आभास है, वे उत्तरोत्तर इसके विकास में रत हैं।" इस प्रकार फासिस्टवादियों के मतानुसार राजनीतिक सत्ता व्यक्तिगत होनी चाहिए, न कि संस्थागत। सम्पूर्ण राजनीतिक गति-विधि का क्षेत्र धारणा या इच्छा होनी चाहिए अपेक्षाकृत बुद्धि के। अतः फासिस्टवाद जनवादी विचार का *मनोविज्ञान सिद्ध करता है* जहाँ वाद-विवाद का प्राधान्य है। वह शासन के संसदीय रूप की अमान्य ठहराता है। फासिस्टवादियों का कथन है कि संसद का यह कार्य नहीं है कि वाद-विवाद तथा मतदान द्वारा सामान्य इच्छा का

निर्धारण और उसकी अभिव्यक्ति करे और कार्यकारिणी को इसे क्रियात्मक रूप देने के लिए विवश करे। फासिस्टों की दृष्टि में, संसद राज्याकांक्षा की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में निरर्थक सिद्ध हुई है।

फासिस्टवादी कुछ प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को ही सरकार-संचालन के योग्य समझते हैं। उनके अनुसार केवल अल्पसंख्यक वर्ग, शिक्षा तथा सामाजिक स्तर की दृष्टि से उच्चतर हैं उन्हीं में सरकार के चलाने की क्षमता है, अतः 'वे एक नेता में विश्वास करते हैं जिसका बौद्धिक धरातल उच्च होता है और जिससे कभी भूल नहीं होती। जब कभी जनता और नेता के विचारों में मतभेद होता है, तो प्रथम को आत्म समर्पण कर देना चाहिए। ऐसा नेता विद्वान् या सिद्धान्तवादी होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक होता है। वह समग्र रूप से समाज का जिसमें हित है उसे भली-भाँति समझता है। व्यक्ति सदा अपने व्यक्तिगत हितों को ही समझते हैं, और ऐसे हित समाज हित से भिन्न होते हैं।'

(फासिस्टवाद बुद्धिवाद और नैतिक साधनों द्वारा कार्य करने में विश्वास नहीं करता। वह बल प्रयोग को अपनाता है। यदि जनता राज्य-भक्त नहीं है तो उसमें राज्य-भय पैदा करना चाहिए। राजनीतिक नेता का सर्वोपरि कर्त्तव्य अपने पक्ष में जन समर्थन का ही प्राप्त करना नहीं है, वरन् अपने प्रति आदर-भाव और जनता में आदेश-परिपालन की भावना का संचार करना है। अपनी इस कर्त्तव्यपरायणता के लिए वह किन्हीं भी साधनों को अपना सकता है। फासिस्टवाद साधनों की पवित्रता पर बल नहीं देता और न विशुद्ध आतंकवाद और दमन को ही एकमेव साधन मानता है। शक्ति और दमन का प्रयोग केवल तभी होता है, जब अन्य साधनों की अनुपयोगिता निश्चय सिद्ध होती है। साधारणतः प्रचार उनके कार्य-क्रम की पूर्ति का एक प्रमुख साधन है। इसके अतिरिक्त वे बच्चों को फासिस्टवादी सिद्धान्तों से प्रभावित करने के हेतु शिक्षा-प्रणाली के नियोजन एवं नियंत्रण पर विशेष बल देते हैं। इस प्रकार फासिस्टवाद का लक्ष्य बौद्धिक विकास न हो कर सबल शारीरिक एवं चारित्रिक निर्माण करना है।)

फासिस्टवाद और धर्म

(जिस समय मुसोलिनी सत्तारूढ़ हुआ, उसके पास कोई विशेष कार्य-क्रम नहीं था। उसका विश्वास कार्यक्रम की अपेक्षा कर्म में था। वस्तुतः अवसरवाद ही उसका कार्यक्रम था। उसने सामयिक परिस्थितियों के अनुसार अवसरवादी नीति को अपनाया। मुसोलिनी और अन्य फासिस्ट धर्म के विरोधी थे।)[1] उनकी

ईश्वर में कोई आस्था नहीं थी। किन्तु देश-हित एवं अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए फासिस्टों के लिए यह आवश्यक था कि वे चर्च से मित्रवत् सम्बन्ध स्थापित करें। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसे व्यक्तियों का, जिन्होंने फासिस्ट-दल की सदस्यता ग्रहण कर ली थी, कैथोलिक चर्च के प्रति झुकाव था। अन्ततः फरवरी १९२९ में फासिस्टों और पोप के बीच एक संधि हुई और इस संधि के द्वारा, जो विक्षेप चला आ रहा था समाप्त हो गया। पोप ने फासिस्टों के शासन को मान्यता प्रदान की और फासिस्ट सरकार ने भी पोप की सत्ता को मान्यता दे दी। कैथोलिक पोप व्यापक स्वत्वों से विभूषित किया गया। धर्म द्वारा नागरिकों को कर्त्तव्य-भावना की ओर प्रेरित किया गया। कैथोलिक धर्मावलम्बियों के बच्चों के लिए धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। पोप ने सभी कैथोलिक पुजारियों और कैथोलिक धर्म में विश्वास करनेवालों को राजनीति में भाग लेने पर प्रतिबन्धित किया, फिर भी कैथोलिक धर्म के अनुयायियों ने चुनाव के समय फासिस्ट उम्मीदवारों का समर्थन किया। जब १९३५ में अबीसीनिया पर इटली ने आक्रमण किया तो धार्मिक नेताओं ने इसे धर्म-युद्ध की संज्ञा दी और नागरिकों की धार्मिक भावनाओं को उभाड़ कर उन्हें धर्म-युद्ध में सम्मिलित होने के लिए बाध्य किया। [illegible] १९४० में जब इटली ने ग्रीस पर आक्रमण किया तो पोप ने हमलावर फौज को आशीर्वाद दिया। कैथोलिक चर्च और फासिस्टों के बीच यह सहयोग-नीति फासिस्ट शासन तक चलती रही। इस प्रकार मुसोलिनी ने अपनी अवसरवादी एवं स्वार्थी नीति को आध्यात्मिकता एवं नैतिकता की पुट दी।

फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद

मुसोलिनी का विश्वास था कि सतत संघर्ष व्यक्तियों और संघ दोनों में है। संघर्ष केवल जीवन के अस्तित्व के लिए ही नहीं होता वरन् गौरव-गाथा के लिए भी होता है। गौरव-गाथा की अभिव्यक्ति साम्राज्य की परिवृद्धि में होती है। साम्राज्य-परिवृद्धि की कामना एक जाति के जीवन एवं विकास की परिचायिका है। यह राष्ट्र की शक्ति को प्रकट करती है। अतः साम्राज्यवादी भावना में ही राष्ट्रोत्थान निहित है। इस प्रकार फासिस्टवाद के मत में 'चिरस्थायी शान्ति कायरों का एक स्वप्न है।' मुसोलिनी के शब्दों में "साम्राज्य जीवन का सनातन एवं अचल नियम है।" "इटली का विस्तार जीवन और मृत्यु का एक विषय है। इटली को या तो विस्तारित होना चाहिए या विनष्ट होना चाहिए।" मुसोलिनी के लिए विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-शान्ति काल्पनिक जगत् की एक उड़ान थी। उसके

कथनानुसार, 'यद्यपि शब्द सुन्दर होते हैं किन्तु राइफल, मशीनगन, जहाज, हवाई-जहाज और तोप उनसे भी सुन्दर होते हैं। बन्दूकें मक्खन की अपेक्षा अधिक वांछनीय हैं।' मुसोलिनी की दृष्टि में "एक स्त्री के लिए जो महत्त्व शिशु का है वही पुरुष के लिए युद्ध का है।" "मैं निरन्तर शान्ति में विश्वास नहीं करता, न केवल मैं इसमें विश्वास ही करता हूँ, अपितु मैं इसे मानव के सभी मूलभूत गुणों को नष्ट करनेवाला और एक निषेध मानता हूँ। अतः फासिस्टवाद के अनुसार स्थायी शान्ति न तो कल्याणकारी ही है और न सम्भव ही। शान्ति में जीवन का अन्त है और युद्ध में जीवन का परिष्कार एवं विकास है। फलतः इटली को एक सैनिक राष्ट्र बनना चाहिए।

फासिस्ट दल

फासिस्ट दल इटली का शासक-दल था। जैन्टाइल के मतानुसार, 'वह राज्य की आत्मा' था। दल का राज्य पर एकाधिपत्य था। दल द्वारा राज्य-नीति का निर्धारण, कानून-निर्माण और प्रशासकीय कार्यवाहियों का संचालन होता था। दल और शासक-वर्ग एक ही था। पार्टी की सदस्यता सभी के लिए खुली न हो कर प्रतिबन्धित थी। पार्टी में सदस्यों को बड़ी सावधानी के साथ भर्ती किया जाता था और प्रशिक्षित एवं अनुशासित भी किया जाता था। जो सदस्य योग्य एवं दक्ष सिद्ध होते थे उन्हें फौज में भर्ती किया जाता था, किन्तु अयोग्य और अप्रशासकीय व्यक्तियों के लिए पार्टी में कोई स्थान नहीं था। राज्य के सभी विभागों में पार्टी के सदस्यों की नियुक्ति की जाती थी।

फासिस्ट दल का संगठन राज्य के समान था। केन्द्रीकरण और एकीकरण दल का वैशिष्ट्य था। दल की स्थानीय संस्था को फैसियो (Fascio), प्रान्तीय संस्था को फैसी (Fasci) और राष्ट्रीय संस्था को महती फासिस्ट सभा (Grand Fascist Party) कहते थे। स्थानीय और प्रान्तीय संस्थाओं की स्वतंत्रता धीरे-धीरे समाप्त हो गई थी। केन्द्रीय संस्था पर पूर्णाधिपत्य मुसोलिनी का था, जिसे ड्यूस (Duce) कहते थे। नेता दल की ही नीति का निर्धारण करता था। वही सरकार का सर्वोच्चाधिकारी था। दल की बड़ी फासिस्ट सभा ही राज्य की सर्वोच्च धारासभा थी। केन्द्रीय संस्था से परामर्श लेना भी नेता के विवेक पर निर्भर करता था। वही केन्द्रीय और प्रान्तीय मंत्रियों तथा सदस्यों की नियुक्ति करता था। प्रान्तीय मंत्री स्थानीय मंत्रियों की नियुक्ति करते थे। इस प्रकार मुसोलिनी पूर्ण अधिनायक था। किसी की नियुक्ति और पदच्युति उसकी

स्वेच्छा पर निर्भर करती थी। दल में साम्यवादी दल भी प्रतिबन्धित नहीं था। विरोधी दलों का भी उन्मूलन कर दिया गया था। जनता को पार्टी द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों एवं उम्मीदवारों में से चुनने का अधिकार था न कि अन्य दलों से। इस प्रकार फासिस्ट राज्य में आन्तरिक एवं बाह्य जनतंत्र का नितान्त अभाव था।

फासिस्टवाद और साम्यवाद

यद्यपि फासिस्टवाद और साम्यवाद दोनों में विभिन्नता है किन्तु फिर भी दोनों में कुछ समानताएं हैं, जो विचारणीय हैं (१) दोनों विचारधाराओं का जन्म प्रथम विश्वयुद्ध की उत्पन्न परिस्थितियों के कारण हुआ। दोनों देशों के नेताओं ने अपने देशों की तत्कालीन विषम परिस्थिति से लाभ उठाया। दोनों ने जनता को आकर्षक नारों द्वारा प्रभावित कर अपनी सत्ता को स्थापित किया। दोनों ही शक्ति के उपासक थे और वही उनकी सफलता का एक साधन था। किन्तु फासिस्टवाद द्वितीय महायुद्ध में विलीन हो गया, जबकि साम्यवाद आज भी जीवित है। इसे आशातीत सफलता मिली है। यदि यह कहा जाय कि आज का युग साम्यवादी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज पूँजीवाद और साम्राज्यवाद टूट रहा है। विश्व से उसकी सत्ता विलुप्त हो रही है। युग अँगड़ाई ले रहा है। मानव-जाति साम्यवाद की ओर आकर्षित हो रही है। रूस ने पूँजीवादी देशों को वैज्ञानिक क्षेत्र में पछाड़ दिया है। साम्यवाद का द्रुतगति से विस्तार उसके सैद्धान्तिक साफल्य का द्योतक है।

(२) दोनों ही अधिनायकवादी प्रणाली में आस्था रखते हैं। दोनों ही पूँजीवादी जनतंत्र का उपहास करते हैं। दोनों के दर्शन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, भाषण, मत प्रदर्शन और राजनीतिक दलों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे संघ *रीय जनतंत्र को अनैतिक, अकार्यक्षम और निरर्थक समझते हैं।* दोनों [illegible] व्यक्ति के ऐच्छिक सहयोग की अपेक्षा शक्ति के पूजक हैं और व्यक्ति की अपेक्षा राष्ट्र पर बल देते हैं।

(३) दोनों की निष्ठा संघर्ष में है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष में विश्वास करता है जब कि फासिस्टवाद राष्ट्र-संघर्ष में।

फासिस्टवाद और साम्यवाद में यह समानता होते हुए भी पर्याप्त विभिन्नता है। यह भिन्नता इतनी व्यापक और उग्र है कि दोनों ने एक दूसरे को अस्तित्व विहीन करने का भरसक प्रयास किया। फासिस्टवाद ने साम्यवाद के प्रसार को यूरोप में फैलने से रोकने की चेष्टा की और साम्यवाद ने फासिस्टवाद को पतन

नैतिक एवं राष्ट्रीय आधार पर अमान्य घोषित किया, क्योंकि यह वर्तन सबहारा पर प्रहार करता है। दोनों सिद्धान्तों का यह विचार-वैभिन्य उनके उद्देश्यों पर आधारित है, जो निम्नलिखित हैं—

(१) फासिस्टवाद राज्य को आदर्श एवं अनिवार्य संस्था मानता है। यह उस पर अधिक बल देता है और राज्य ही उसका साध्य है तथा व्यक्ति साधन। मुसोलिनी के शब्दों में, "राज्य फासिस्टवादी आदर्शों का प्रतिबिम्ब है।" इसके विपरीत साम्यवाद राज्य को एक वर्गीय संस्था एवं दमनकारी यंत्र मानता है। यह राज्य के अस्तित्व को समूल नष्ट कर देना चाहता है। किन्तु साम्यवाद इसे संक्रान्तिकाल तक बनाये रखने के पक्ष में है, क्योंकि इसके द्वारा पूँजीवादी-वर्ग के उन्मूलन में सहायता मिलेगी। जब पूँजीवादी तत्व मिट ही जायेंगे तो राज्य 'मुरझा कर गिर जायेगा' (Will wither away)। लेनिन ने कहा था "राज्य केवल ऐसा यन्त्र है, जिसके द्वारा सर्वहारा-वर्ग अन्य वर्गों से समर्ष करता है।"

(२) फासिस्टवादी समाज को असमान बनाये रखने के पक्ष में हैं। वे मानव असमानता में विश्वास करते हैं। फासिस्टवाद एक राष्ट्रीय आन्दोलन है, जो राज्य की सर्वोपरिता को महत्व देता है और व्यक्ति को राज्य के अधीन रखना चाहता है। किन्तु साम्यवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है और उसका लक्ष्य वर्ग एवं राज्य-विहीन समाज की स्थापना करना है। इस समाज में न तो शोषण होगा और न राज्य की सार्वभौमता ही।

(३) फासिस्टवाद पूँजीवाद और साम्राज्यवाद दोनों का निरूपण करता है, जब कि साम्यवाद दोनों का प्रबलतम विरोधी है और उनके उन्मूलन के लिए प्रयत्नशील है। लेनिन के अनुसार, 'साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है।" और आज साम्राज्यवाद धूल-धूसरित हो रहा है।

(४) फासिस्टवाद में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। व्यक्ति राज्य के पूर्णतया अधीन है। फासिस्टवादियों का कल्पित राज्य फासिस्टवाद का एकमात्र निरंकुश शासन है। ऐसे शासन में शोषण अत्याचार, अन्याय और असमानता की परिवृद्धि होती है। किन्तु साम्यवाद प्रत्येक प्रकार के शोषण का अन्त करना चाहता है, चाहे वह मनुष्य द्वारा मनुष्य का, वर्ग द्वारा वर्ग का और राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का क्यों न हो? साम्यवाद की आधार-भित्ति मानव-हित चिन्तन है, जब कि फासिस्टवाद की राज्य-हित-चिन्तन।

(५) फासिस्टवाद में जातियों की समानता का पूर्ण अभाव है। फासिस्टवादियों की धारणा है कि जैसा व्यक्तियों में संघर्ष व्याप्त है वैसा ही राष्ट्रों में भी व्याप्त है। साम्यवाद जातियों की समानता का समर्थक है और वह एक जाति पर अन्य जाति के आधिपत्य की भर्त्सना करता है। रूस में अनेक राष्ट्र, उपराष्ट्र और जातियां हैं किन्तु सभी सांस्कृतिक स्वातंत्र्य का उपभोग करती हैं।

(६) फासिस्टवाद की वर्ग-सामंजस्य में आस्था है। वह यह नहीं मानता कि वर्गों में कोई स्वाभाविक विरोध है। उसके मत में वर्गों में परस्पर सहयोग सम्भाव्य है और वर्ग-सहयोग द्वारा ही राष्ट्रोत्थान हो सकता है। इसी कारण फासिस्टवाद के अन्तर्गत पूंजीवादी वर्ग व्यवस्था सामाजिक दृष्टि से हितकर एवं आवश्यक थी। साम्यवाद की आधारशिला वर्ग-संघर्ष है। साम्यवाद के अनुसार वर्ग द्वारा ही वर्ग-संघर्ष पैदा हुआ है और वर्ग द्वारा ही इसका अन्त होगा। श्रमिक-वर्ग ही एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना करेगा। साम्यवाद का यह दृढ़ विश्वास है कि पूंजीपति और श्रमिक तथा शासक और शासित में कभी पारस्परिक सहयोग नहीं हो सकता।

(७) साम्यवाद के अनुसार व्यक्ति के जीवन में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही धर्म राजनीति और संस्कृति का निर्माण होता है। ये आर्थिक व्यवस्था की अनुचरी हैं। आर्थिक व्यवस्था धर्म, संस्कृति और राजनीति को नियमित करती है।। किन्तु फासिस्टवाद आर्थिक व्यवस्था की अपेक्षा धर्म गौरव को उच्चतर स्थान प्रदान करता है।

(८) साम्यवाद धर्म का विरोधी है। वह धर्म और चर्च को समाप्त करना चाहता है, क्योंकि ये संस्थाएं शोषण की प्रक्रिया को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुई हैं। मार्क्स के अनुसार, 'धर्म व्यक्तियों के लिए अफीम का नशा है।'' आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में ''फायरबाख के समान मार्क्स का कहना था कि मनुष्य धर्म को बनाता है, न कि धर्म मनुष्य को और मानवेतर परमपुरुष की कल्पना मनुष्य के अज्ञान और वहम का नतीजा है। जितना ही अधिक मनुष्य ईश्वर को गुणों से विभूषित करता है उतना ही अधिक वह अपने को दरिद्र और निर्गुण बनाता है।'' इसके विपरीत फासिस्टवाद चर्च और धर्म दोनों का ही औचित्य सिद्ध करता है। उसने अपने आक्रमणों को धर्म का पुट दिया और पोप से मित्रवत् सम्बन्ध स्थापित किये।

(९) साम्यवादी व्यवस्था में श्रमिक और किसान को समुचित स्थान प्राप्त है। साम्यवाद सर्वहारा के अधिनायकत्व में विश्वास करता है। चीन में नवीन प्रजातंत्र

को मापित किया गया है। रूस में आज जनतंत्रीय केन्द्रीयकरण (Democratic centralism) प्रतिष्ठित है। किन्तु फासिस्टवाद में श्रमिक के लिए कोई स्थान नहीं है। मुसोलिनी का कथन था कि मजदूर समाज का कर्णधार नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपनी गृह-व्यवस्था करने में ही असमर्थ है। फासिस्टवाद जनतन्त्र का घोर विरोधी है। उसके दर्शन में जनतंत्र के लिए कोई भी स्थान नहीं चाहे वह जनतंत्र पूंजीवादी हो या सर्वहारा का।

(१०) फासिस्टवाद स्त्री-जाति की अपेक्षा पुरुष-जाति को पवित्रतर समझता है, और वह प्रथम को द्वितीय के अधीन कर देता है। साम्यवाद में स्त्री और पुरुष के विभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। आज रूस में स्त्रियां पुरुषों के समान ही प्रत्येक क्षेत्र में अधिकारों का उपभोग करती हैं।

फासिस्टवाद की आलोचना

फासिस्टवाद का मानवीय दृष्टि से चाहे मूल्यांकन न रहा हो, किन्तु उसे अपने ध्येय में आशातीत सफलता मिली यह निर्विवाद है। 'उसने इटली के राष्ट्रीय जीवन का पुनरुत्थान किया। जब इटली वर्साई-संधि के कारण उपेक्षित एवं अपमानित हो रहा था ऐसे समय में फासिस्टवाद ने इटली के मान एवं गौरव की रक्षा की। उसने उदारवाद एवं जनवाद दोनों विचार-सरणियों की भर्त्सना कर उग्र राष्ट्रवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उसने आन्तरिक शान्ति-सुरक्षा तथा कुशल शासन-व्यवस्था स्थापित की। उसने राष्ट्रीय संकटों का मुकाबला किया और इटली को संसार के प्रथम कोटि के राष्ट्रों में ला खड़ा किया। फासिस्टवाद ने समस्त राष्ट्र को एकता के सूत्र में आबद्ध किया और श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के मध्य सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। वस्तुतः, 'इटली-निवासी अपने सर्वोच्च तानाशाह मुसोलिनी के नेतृत्व में उसके मार्ग प्रदर्शन की छाया में पुनर्जीवित हो उठे।" किन्तु फासिस्टवाद की इन सफलताओं के बावजूद भी, वह द्वितीय विश्वयुद्ध की गोद में विलुप्त हो गया। फासिस्टवाद का प्रादुर्भाव मुसोलिनी के साथ हुआ, उसकी गतिविधियों के साथ वह विकसित हुआ और उसके अवसान के साथ वह भी विलीन हो गया। फासिस्टवाद में निम्नलिखित दोष थे —

(१) फासिस्टवादी आन्दोलन अनेक दृष्टियों से भ्रमपूर्ण था जैसा कि सैबाइन ने कहा है, 'यह ऐसे विचारों का संकलन मात्र है, जो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किये गये हैं। और परिस्थिति की आवश्यकताओं के अनुकूल होने के कारण एकत्र कर लिए गये हैं।" "यह सिद्धान्त विचार द्वारा परिष्कृत नहीं है और प्राय

भावुकतापूर्ण भी है। यह नीत्शे के 'सत्ता की इच्छा' (will to power) के सिद्धान्त, हीगेल के राष्ट्रवाद और बर्गसां के बुद्धि विरोधवाद (anti-intellectualism) को सम्मिलित करने का प्रयास है।"

(२) फासिस्टवाद आधुनिक प्रगतिशील विचारों का विरोधी है। यह जनवाद और विश्व-शान्ति का प्रतिवाद है। यह उदारवाद और मानव-समानता में विश्वास नहीं करता। यह व्यक्तियों को अपने सम्बन्ध में निर्णय करने की स्वतंत्रता नहीं देता। नेता के आदेश-परिपालन पर ही बल देता है। इस प्रकार फासिस्टवाद मानव-प्रकृति को कुण्ठित कर देता है।

(३) फासिस्टवाद अत्यधिक राष्ट्रवादी है। यह राज्य को स्वयं में एक उद्देश्य घोषित करता है। व्यक्ति एक साधन है, जिसे राज्य के लिए अपने को निछावर कर देना चाहिए। ऐसा दर्शन मानवता का कल्याण नहीं करता। युद्धघोष की कल्पना सभ्यता और संस्कृति का विनाश करती है। नैतिक सार्वभौमता के अभाव में और व्यक्ति का राज्येच्छा पर निर्भर रहना राज्य निरंकुशता को प्रतिष्ठित करता है।

(४) फासिस्टवाद मानव को उसके नैतिकोत्थान के लिए स्वतंत्रता और अधिकार प्रदान नहीं करता। वह उसके जन्मजात गुणों और आत्मबल को विकसित करने का अवसर नहीं देता। फासिस्टवाद स्वतंत्रता का गलत अर्थ लगाता है। उसका यह विचार कि स्वतंत्रता केवल एक कर्त्तव्य है, न कि अधिकार और स्वतंत्रता केवल एक सुदृढ़ राज्य में ही सम्भव है, तर्क-संगत नहीं है। व्यक्तिगत-स्वतंत्रता का क्षेत्र और प्रकृति को राज्येच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता।

(५) फासिस्टवाद भय की नीति पर आधारित है। यह शान्ति का उपहास करता है। यह हिंसा और आतंकवाद में विश्वास करता है। राजनीतिक कार्यों के लिए शक्ति को ही साधन के रूप में उचित बताता है। किन्तु एक स्थायी परोपकारी और उदार सरकार के लिए शक्ति और भय को आधार नहीं बनाया जा सकता। केवल न्याय और सत्यता ही एक स्थायी समाज तथा राज्य के आधार हो सकते हैं। ग्रीन का कथन उचित ही है कि, "शक्ति नहीं, जनेच्छा राज्य का आधार है। बिना अधिकार के शक्ति केवल अस्थायी रह सकती है। अधिकारपूर्ण शक्ति ही केवल राज्य का स्थायी आधार है। प्रभावपूर्ण एवं निश्चित राष्ट्रीय एकता और प्रीति के लिए शक्ति मानव की आत्मा एवं मस्तिष्क का दमन करती है। यह स्वेच्छापूर्वक राज्य के नियमों के परिपालन एवं प्रेम-अनुशासन

की प्रकृति का मूल्यांकन नहीं करती। क्सो के मतानुसार "शक्ति के समक्ष झुकना आवश्यकता का कार्य है, इच्छा का नहीं, अधिक-से-अधिक बुद्धिमानी का कार्य है। फासिस्ट राज्य, "एक ऐसा रेजिम है जिसका निर्माण युद्धगति और आक्रमण तथा संघर्ष के लिए हुआ है, व्यक्तित्व के लिए नहीं।"

(६) फासिस्टवाद प्रगति एवं विकास के मार्ग में एक जबर्दस्त अवरोध है। कोकर का कहना है, "अधिनायकतंत्र एक संगठित वराक-गृह के समान है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को एक कार्य सौंप दिया जाता है और उसकी गतिविधि पर बड़ी सतर्कता से दृष्टि रखी जाती है। यह व्यवस्था समाज के दोषी एवं अपराधी व्यक्तियों के लिए तो ठीक है किन्तु सामान्य व्यक्तियों के लिए विशेषतः उच्च व्यक्तियों के लिए, यह उपयुक्त नहीं है। राष्ट्र के सार्वजनिक एवं सांस्कृतिक जीवन का केन्द्रीभूत तथा दमनकारी निर्देशन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य एवं कला के विकास के सम्भाव्य के लिए घातक है। वस्तुतः यह एक अस्थायी निदान की दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध हो सकता है किन्तु निश्चित रूप से जनसाधारण के लिए सदा के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता।" अल्बर्ट आइन्स्टेन के शब्दों में "अधिनायकत्व का अर्थ है चारों ओर प्रतिबन्ध और उसके परिणामस्वरूप निरर्थक प्रयास। विज्ञान केवल स्वतन्त्र भाषण के वातावरण में पनप और बढ़ सकता है।" वेनेडेटो क्रोचे लिखता है, "बल प्रयोग पर आधारित शासन केवल पतनोन्मुख जातियों में ही चिरकाल तक बने रह सकते हैं, वे ऐसे राष्ट्रों में अस्थायी काल के लिए ही स्थापित रह सकते हैं जो अग्रगामी है और उन्नत हो रहे हैं और दमन से निर्मित शक्तियों के अधिक हिंसात्मक विस्फोट होते हैं।" फरेरो का कथन है, "बल ने जिसका निर्माण किया उसका बल ने नाश भी कर दिया। रोम-साम्राज्य का निर्माण फौज द्वारा हुआ था और उसका अन्त फौज ने ही कर दिया। प्राचीन सभ्यता रोमन साम्राज्य के साथ ही विनष्ट हो गई जब कि साम्राज्य में शासन को आधारशिला केवल बल ही रह गई थी, जिसे कानूनी अधिकार का समर्थन प्राप्त नहीं था।

—x—

• १० •

बहुलवाद (Pluralism)

यह बीसवीं शताब्दी का दर्शन है। इसका आधुनिक राजनीति दर्शन में सर्वप्रथम प्रयोग हेरल्ड ज० लास्की (Harold J Laski) ने किया। यह सिद्धान्त अद्वैतवाद विरोधी है। यह हीगेलवादी धारणा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ। हीगेल ने राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वरीय यात्रा' के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह दर्शन राज्य विरोधी नहीं, अपितु राजसत्ता-विरोधी है। बहुलवाद राज्य को एक अद्वितीय संघ की श्रेणी में रखता है, जिसकी क्षमता एवं अधिकार परिमित हैं। बार्कर के शब्दों में 'अब हम राज्य को केवल समान व्यक्तियों का ही एक संगठन नहीं समझते अपितु उसे उस संस्था के रूप में देखते हैं जिसकी रचना मनुष्य के उन छोटे-छोटे समुदायों से मिल कर हुई है जो व्यक्ति के जीवन-उत्थान हेतु अलग-अलग प्रयास करके अपने उच्चतम लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं।'[1]

बहुलवाद का क्रमिक विकास

मध्यकालीन यूरोप के राजनीतिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से राज्य की स्थिति का बोध होता है। उस युग में राज्य सर्वोपरि एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न नहीं था। अन्य संस्थाओं का जन-जीवन पर आधिपत्य था और राज्य का इनके द्वारा मार्ग-दर्शन होता था। धार्मिक विषयों में चर्च, लौकिक विषयों में सामन्त और आर्थिक विषयों में श्रेणी की प्रमुखता थी। राज्य को धार्मिक विषयों में चर्च के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता था। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं जबकि राज्य को अपनी इच्छा के विरुद्ध चर्च के आदेशों का पालन करना पड़ा। सामन्त

---

1 "No longer do we consider society as mere sand heap of individuals all equal and unrelated though leading a common life, but an association of individuals already united in various groups each with its common life in a further and higher group for a further and more embracing purpose"

विक क्षेत्र में भी राजाओं को सामन्तों के इच्छानुसार कार्य करना होता था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सत्ता का विरोध भी राजा को सहन करना पड़ता था। इस प्रकार चर्च, सामन्त और केन्द्रीय सत्ता के विरोध स्वरूप कभी-कभी युद्ध और गृह-युद्ध होते रहते थे। इसी काल में धीरे-धीरे राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ। राजा अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना चाहता था और व्यापारी वर्ग भी राज्य को सर्वशक्तिमान् बनाना चाहता था। इस प्रकार राजसत्ता का केन्द्रीयकरण एक आवश्यक लक्ष्य हो गया। हाब्स (Hobbes) जैसे अनुबन्धकारी विचारक ने इन गृहयुद्धों की विभीषिका को देखा और राज्य विरोधी तत्त्वों का विरोध किया। उसने राजा की शक्ति का औचित्य सिद्ध किया। राज्य ही उसका 'दीर्घकाय (Leviathan) था और संघ मानव की अंतड़ियों में कीड़े की भांति थे। रूसो (Rousseau) के प्रत्यक्ष जनतंत्र में राज्य ही सामान्य इच्छा (General will) था और संघों को कोई स्थान नहीं था। सामान्य इच्छा तभी सम्भव है जबकि संघों का कोई अस्तित्व न हो। आस्टिन (Austin) ने 'सुनिश्चित सर्वोच्च मानव' (determinate human Superior) को ही सर्वोपरि बतलाया। हीगेल (Hegel) ने राज्य को 'विश्वात्मा का प्रतिनिधि', विवेक का मूर्तरूप' (embodiment of reason), 'पृथ्वी पर ईश्वर की यात्रा' (The march of God on earth) आदि अनेक संज्ञाओं से विभूषित किया। उसने राज्य को निरंकुश, सर्वसम्पन्न, अभ्रान्त, 'वास्तविक स्वाधीनता का मूर्तरूप', स्वतन्त्रता की यथार्थता' कहा। हीगेल ने राज्य को साधन की अपेक्षा साध्य बताया। उसने उसे परम वैधानिक ही नहीं अपितु परम नैतिक भी बताया। समाजवादी विचारकों ने भी राज्य को अपनी लक्ष्य-पूर्ति का साधन बनाया। मार्क्स ने भी 'सर्वहारा की अधिनायकशाही' की प्रतिष्ठा के लिए राज्य की सत्ता का मूल्यांकन किया।

हीगेल की राज्य-सम्बन्धी-धारणा के प्रतिक्रिया-स्वरूप बहुलवाद का उदय हुआ। इस दर्शन के प्रादुर्भाव का श्रेय इंगलैण्ड को है। इंगलैण्ड में व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रणेता लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर विशेष बल दिया। लास्की ने विभिन्न संघों की उपादेयता पर प्रकाश डाला और उन्हें राज्य की समान स्थिति में रखा। प्रजातंत्र की असफलता और प्रजातंत्रीयवादी संगठनों की दुर्बलता से भी बहुलवाद को पर्याप्त बल मिला। राज्य के केन्द्रीय कारण और अपरिमित कार्यों के कारण कार्य-कुशलता में शिथिलता ने बहुलवादी भावना को सुदृढ़ किया। वार्ड (Ward) के शब्दों में, "केन्द्र को पक्षाघात ही

गया है और शीर्षबिन्दुओं पर रक्तहीनता दृष्टिगोचर होती है।"[1] अतः बहुलवादियों ने विकेन्द्रित सत्ता की वकालत की।

बहुलवाद पर अन्य विचारधाराओं का प्रभाव

जिन विचारधाराओं ने बहुलवाद को प्रभावित किया विशेषतः वे वही हैं, जिन्होंने अद्वैतवादी दर्शन की कटु आलोचना की। ये विचारधाराएँ पाँच भागों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) व्यक्ति-स्वतंत्रतावादी—इस दृष्टिकोण के समर्थक जॉन लॉक, मान्टेस्क्यू और जॉन स्टुअर्ट मिल थे। लॉक उच्चकोटि का व्यक्तिवादी था। उसने व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। उसका राज्य संप्रभु नहीं था, केवल संरक्षक था; जिसकी आधारशिला जन-स्वीकृति (will) थी। संप्रभुता का निवास जन-स्वीकृति में था। व्यक्ति राज्य से उच्चतर है, अतः राज्य व्यक्ति का स्वामी न हो कर दास है। उसका अस्तित्व व्यक्ति में निहित है।

मान्टेस्क्यू भी व्यक्ति-स्वतंत्रता-प्रेमी था उसने राज्य के शक्ति-विभाजन पर बल दिया। उसने राज्य के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह राज्य के केन्द्रीयकरण को व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए घातक समझता था अतः उसका यह दृढ़ मत था कि राज्य की शक्तियों का समुचित रूप से विभाजन होना चाहिए। शक्ति विभाजन से अभिप्राय विकेन्द्रीयकरण से था। राज्य के तीनों अंग—धारासभा कार्यपालिका और न्यायपालिका पृथक्-पृथक् होने चाहिए। ये राज्य की तीनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में निहित न हों। जब एक ही व्यक्ति या सभा में इन तीनों शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है तो ऐसी दशा में व्यक्ति-स्वतंत्रता असम्भव है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य केवल सत्ता के विकेन्द्रीकरण से ही सम्भव है। यह विचारधारा अद्वैतवाद के सर्वथा विपरीत है।

उन्नीसवीं शताब्दी का प्रमुख व्यक्तिवादी विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल था। इसकी विचारधारा का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति था। व्यक्ति-स्वातंत्र्य का औचित्य सिद्ध करना इसका सर्वोपरि ध्येय था इसने राज्य के कार्यों एवं अधिकारों को मर्यादित किया। इस प्रकार तीनों विचारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल देकर अद्वैतवादी दर्शन का विरोध किया।

---

1 'There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities"—Ward

(२) पुनरुत्थानवाद—पुनरुत्थानवादी विचारकों में जर्मन दार्शनिक गिर्के (Otto Von Gierke), मेटलैण्ड (F W Maitland) और फिगिस (J N Figgis) आदि प्रमुख हैं। इन विचारकों ने मध्यकालीन सभ्यता की भूरि भूरि प्रशंसा की। इनके विचार में मध्य-युग में जबकि राज्य-शक्ति केन्द्रित नहीं थी तो व्यक्तियों का जीवन समृद्धिशाली और सुखी था। इसलिए उन विशिष्ट तत्वों की पुनर्स्थापना होनी चाहिए। यह विचार ही 'पुनरुत्थानवादी' कहलाता। गिर्के ने मध्यकालीन संघों की उपादेयता पर प्रकाश डाला। उसके कथनानुसार इन संघों का व्यक्ति के सामाजिक राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में बोलबाला था। ये संघ स्वतंत्र थे और इनके सदस्य इन संघों के नियमों का स्वेच्छा से पालन करते थे। राज्य की इन संघों पर सर्वोपरिता नहीं थी। उसका स्थान समकक्ष था। मेटलैण्ड ने, जो कि आधुनिक काल में संघों की दृष्टि से बहुलवादी विचारों का संस्थापक समझा जाता है, ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे। ये दोनों विचारक संघों को समाज तथा राज्य में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के पक्षपाती थे। मेटलैण्ड का मत था कि स्थानीय निकायों (Local Bodies) को स्थानीय प्रबन्ध और व्यवस्था में अधिकतम स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। फिगिस के विचारों की आधारभित्ति भी मध्ययुगीन संघ की स्वतंत्रता थी। उसने धर्म की स्वतंत्रता पर बल दिया और अन्य विविध संस्थाओं का जो कि विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित थीं, औचित्य सिद्ध किया। उसने राज्य को 'संघों का संघ' बताया। इस प्रकार बहुलवाद पर पुनरुत्थानवादी विचारधारा का यथेष्ट प्रभाव पड़ा।

(३) समाजवादी विचारधाराएँ—समाजवादी विचारधारा के अन्तर्गत तीन विशिष्ट विचारधाराएं आती हैं, जिनमें (१) अराजकतावाद (Anarchism), संघवाद (Syndicalism) और श्रेणी-समाजवाद (Guild Socialism) हैं। अराजकतावादी राज्य को व्यर्थ एवं विनाशमय समझते थे। उनकी दृष्टि में, राज्य अनिवार्य नहीं है और वास्तविक स्वतंत्रता केवल अराजकतावादी समाज में ही सम्भव हो सकती है। फ्रांसीसी संघवादी भी राज्य का विनाश चाहते थे। उनका मत था कि समाज बहुलवादी है और वर्ग-संघर्ष का प्राधान्य है। श्रेणी समाजवादी फेबियनवाद (Fabianism) और समष्टिवाद (Collectivism) के विरोधी थे। इनमें कोल (G D H Cole) नितान्त बहुलवादी था। उसने राज्य को समान स्थान प्रदान किया।

(४) विधानवाद—ड्यूगी (Duguit) ने फ्रांस और क्रैब (Krabbe) ने हॉलैण्ड में बहुलवादी विचारधारा का समर्थन किया।

क्रैबे के शब्दों में 'कानून राजनीतिक संगठन की अपेक्षा स्वतंत्र, उच्च और पूर्व कालिक है। यह सामाजिक जीवन का फल है। कानून राज्य को परिमित करता है। क्रैब भी कानून को राज्य से और उच्चतर मानता था। बहुलवादियों ने राज्य को सर्वोच्च विधायिनी संस्था तो अवश्य माना, किन्तु उन्होंने राज्य की विधियों को सामाजिक एवं न्याय की भावना पर अवलम्बित बताया। दोनों विचारकों ने, राज्य के किसी भी अंग को कानून बनाने का पूर्णाधिकार हो, इसका खण्डन किया। इस प्रकार ऑस्टिन का 'सुनिश्चित सर्वोच्च मानव' राज्य में कहीं स्थित नहीं है और क्रैब ने तो यहाँ तक कह दिया कि "सार्वभौमता की धारणा को राजनीति से निकाल देना चाहिए।"[1]

बहुलवादी आधुनिक विचारक

आधुनिक बहुलवादी विचारकों में लिण्डसे, बार्कर, कोल, सिडनी और बीट्रिस वेब तथा लास्की आदि प्रमुख हैं।

लिण्डसे (A D Lindsay) यह अभी जीवित और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहा है। लिण्डसे के बहुलवादी होते हुए भी उसके विचारों में उदारता की झलक दिखाई देती है। इसी कारण इसे 'उदारवादी बहुलवाद' का विचारक माना जाता है। लिण्डसे ने कहा था "यदि हम तथ्यों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि सार्वभौम राज्य (Sovereign State) का सिद्धान्त खंडित हो चुका है।"[2] समाज-संचालन एवं समन्वय हेतु संघों की उपादेयता राज्य से कहीं अधिक है। उनकी अधिक महत्ता है और वे नागरिकों के हितों का प्रतिनिधित्व समुचित रूप से कर सकते हैं। लिण्डसे राज्य को अनिवार्य मानता है किन्तु यह 'संगठनों का संगठन' (an organisation of organisations) है। अन्य संगठनों की सदस्यता ऐच्छिक (voluntary) और अभिरुचि-मूलक (selective) है, किन्तु राज्य की अनिवार्य (compulsory) तथा व्यापक (comprehensive) है। मनुष्य की श्रद्धा धर्म, श्रमिक संस्थाओं और दलों के प्रति राज्य की अपेक्षा अधिक है। राज्य का कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है, क्योंकि किसी निगम (corporation)

1 "The notion of sovereignty must be expunged from political theory"—Krabbe

2 "If we look at the facts, it is clear enough that the theory of the sovereign state has broken down."—A D Lindsay

के सम्बन्ध में 'संघ-चेतना' (group mind), 'संघ इच्छा' (group will) और 'संघ व्यक्तित्व' (group personality) की कल्पना करना निरर्थक है। राज्य का निकायों पर अधिकार केवल उसी और उसी मात्रा में है जितना कि नागरिक राज्य को प्रदान करें।[1] राज्य का प्रमुख कार्य छोटे-छोटे संघों का समन्वय करना है। राज्य की आज्ञा का पालन नागरिक इस सामाजिक समन्वयता के ही कारण करते हैं।

बार्कर (Earnest Barker)—यह भी आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था और अभी जीवित है। यह कल्पनावादी होते हुए भी विचारकों में उदार है। बार्कर की "Political thought in England from Herbert Spencer to the Present Day' नामक पुस्तक १९१५ में प्रकाशित हुई। बार्कर विशेषतः गिर्क और मेटलैण्ड से अधिक प्रभावित हुआ है। बार्कर ने बेन्थमवादी परम्परा पर प्रहार किया। बेन्थम और उसके अनुयायियों के अनुसार सामाजिक जीवन में संघों का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार राज्य और व्यक्ति के बीच जो सम्बन्ध है वह सीधा है। बार्कर ने बेन्थमवादियों की इस त्रुटि की ओर संकेत किया। उसने कहा कि आधुनिक समाज सबीज है। नागरिक विभिन्न संघों के सदस्य हैं। इन संघों का राज्य की अपेक्षा अधिक सम्मानप्रद स्थान है। एक मजदूर का सम्बन्ध राज्य के साथ उसके संघ द्वारा ही होता है। इन संघों की रचना राज्य द्वारा नहीं हुई है। वे स्थायी संघ समाज में राज्य-निर्माण से पूर्व भी थे और इनमें से प्रत्येक का अपना कर्तव्य और नियमीय स्वरूप था। 'हम राज्य को व्यक्तियों के सामान्य जीवन के लिए निर्मित संस्था के रूप में कम देखते हैं, हम उसे ऐसे व्यक्तियों की संस्था के रूप में ही अधिक देखते हैं जो पूर्व से ही ऐसे अधिक व्यापक सामान्य लक्ष्य के लिए अनेक समुदायों में संयुक्त हों।" राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह इन संघों के अस्तित्व को स्वीकार करे और उनका समन्वय करे। बार्कर ने कहा था, "जीवन की एक सामान्य और व्यापक व्यवस्था के रूप में राज्य को अपने साथ रहने वाले संघीय सम्बन्धों को, संघीय पारस्परिक सम्बन्धों को तथा संघ और उसके सदस्यों के सम्बन्धों को सन्तुलित रखना आवश्यक है। अपने साथ होने वाले सम्बन्धों को स्वयं अपनी व्यवस्था के प्रति निष्ठा और उसकी अखण्डता को सुरक्षित रखने के हेतु सन्तुलित करना

1 "The state can have control over the associations within it only if and so far as, the citizens are prepared to give it such power"

आवश्यक है। संघों के पारस्परिक सम्बन्धों को विधान की दृष्टि में संघों की समानता को बनाये रखने के लिए सन्तुलित करना आवश्यक है और संघों तथा उसके सदस्यों के सम्बन्धों को इसलिए सन्तुलित करना आवश्यक है कि व्यक्ति संघ की निरंकुशता का शिकार न बन जाय।[1]

कोल (G D H Cole)—कोल आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का स्नातक था और वह वहीं पर प्रोफेसर हो गया। जब वह स्नातक भी नहीं हुआ था कि उसने फेबियन-समाज की सदस्यता ग्रहण कर ली थी।

कोल ने आधुनिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के केन्द्रवादी विचार को अमान्य घोषित किया। उसका कथन था कि व्यक्ति के अनेक लक्ष्य और हित होते हैं। अतः केवल एक ही व्यक्ति उन लक्ष्यों एवं हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इन लक्ष्यों तथा हितों का प्रतिनिधित्व विभिन्न संघों द्वारा ही हो सकता है। इसी कारण वह 'व्यावसायिक प्रतिनिधित्व' (Functional representation) का समर्थक बना। कोल ने कहा कि "समाज में पृथक् रूप में निर्वाचित प्रतिनिधियों के उतने ही समुदाय होने चाहिए, जितने कि उसके योग्य व्यवसायों के स्पष्ट एवं आवश्यक वर्ग हैं। मनुष्य को उतने ही भिन्न तथा पृथक् रूप में प्रयोग होने योग्य वोटे का मताधिकार होना चाहिए, जितने कि उसके सामाजिक लक्ष्य अथवा हित हैं।' एक आदर्श समाज को उपभोक्ताओं और उत्पादकों के बीच विभक्त हो जाना चाहिए। ये संघ सह-प्रभुत्व (co-sovereign) होंगे। उत्पादकों का संगठन राष्ट्रीय संघों (national guilds) में से होगा। ये संघ प्रशासकीय एवं वैधानिक दृष्टि से अधिकार-सम्पन्न होंगे। ऐसी दशा में न्यायपालिका राज्य और श्रेणीमूलक नियमों (guildlaw) की व्याख्या करेगी। इसके अतिरिक्त झगड़ों का निर्णय एक सन्तुलित संस्था (co-ordinating body), जो संसद के दोनों सदनों की सम्मिलित समिति द्वारा निर्मित

---

1 "The state as a general and embracing scheme of life, must necessarily adjust the relations of associations to itself, to other associations and to their own members to itself in order to maintain the integrity of its own scheme; to other association to preserve the equality of associations before law, and to their own members in order to preserve the individual from the possible tyranny of the group"

होगी, करेगी। इस समुचित संस्था का न्यायपालिका, कानून तथा पुलिस की सम्पूर्ण शक्ति पर एकाधिपत्य होगा। इस प्रकार कोल की योजना में राज्य अनिवार्य होते हुए भी अन्य समुदायों के समान ही है। उसके पास उतनी ही अधिकार-सत्ता होनी चाहिए जितनी कि अन्य संघों के पास, ताकि वह समाज में अपने विशेष कार्यों को समुचित रूप से कर सके।

कोल ने रूसो की 'सामान्य इच्छा' का भी खण्डन किया। उसके मत में 'सामान्य इच्छा' भ्रमात्मक है। यह कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यक्ति की स्वार्थी इच्छा (active will) का बोध सम्भव है, किन्तु सामाजिक इच्छा (real will) का ज्ञान होना असम्भव है। जब सामाजिक इच्छा का बोध ही असम्भव है तो उसका प्रतिनिधित्व करनेवाली 'सामान्य इच्छा' का बोध भी नितान्त असम्भव है। फलतः 'सामान्य इच्छा' जिसमें राज्य की सार्वभौमता का निवास है वह भी कल्पनात्मक तथा अस्तित्वहीन है।

सिडनी और वेब—ये ब्रिटिश श्रमिक-आन्दोलन के प्रमुख विचारक हैं। इन्होंने १९२० में लेबर पार्टी को एक आदर्श समाजवादी योजना (Constitution for Socialist Common Wealth of Great Britain) प्रस्तुत की। वेब सर्वप्रथम विचारक है, जिसने कहा कि संसद व्यक्ति के समस्त हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती अतः उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत दो संसदों का सुझाव दिया गया, जिसमें एक राजनीति-सम्बन्धी विषयों तथा दूसरी सामाजिक विषयों से सम्बन्धित होगी। इस प्रकार दोनों संसदें अधिक कार्य भी कर सकेंगी और अधिक कार्य भार होने से सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी हो जायगा। इसके अतिरिक्त अन्य विचारक जैसे बेलाक (H. Belloc) आदि ने भी विकेन्द्रीकरण-सम्बन्धी अनेक योजनाएँ बनाई थीं।

लास्की (Harold J. Laski)—लास्की हमारे युग के सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक विचारकों में से था। उसका जन्म सन् १८९३ में मैनचेस्टर में एक उच्च मध्यम-श्रेणीय परिवार में हुआ था। बचपन में ही लास्की बड़ा मेधावी और कुशाग्र बुद्धि का छात्र था। उसकी स्मरण-शक्ति और अध्ययनशीलता ने सभी को आकर्षित कर लिया था। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में ही लास्की ने शादी कर ली थी। उसकी पत्नी उससे उम्र में बड़ी थी। लास्की अभी एक स्कूल का विद्यार्थी ही था। किन्तु लास्की के माता-पिता ने उसकी शादी को मान्यता प्रदान नहीं की, क्योंकि उसका पिता कट्टर यहूदी था और यह सहन नहीं कर सकता था कि उसका लड़का अंग्रेज ईसाई लड़की से विवाह करे। लास्की ऑक्सफोर्ड में १९११ से १९१४ तक

अध्ययन करता रहा। अपनी अटूट लगन के कारण लास्की ने १६१४ में इतिहास में प्रथम श्रेणी प्राप्त की। ऑक्सफोर्ड में उसके गुरु फिशर, मेटलैण्ड और बार्कर आदि थे। बचपन से ही लास्की की अभिरुचि राजनीति में थी। अपनी इस विशिष्ट रुचि के कारण अध्ययनोपरान्त लास्की ने पत्रकारिता को अपनाया। लास्की भावुक था, अतः वह मानवतावादी हो गया। वह प्रथम महायुद्ध के समय कनाडा और अमरीका के विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक के पद पर रहा। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'Problem of Sovereignty' ने तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ वेत्ताओं की कोटि में उसे रख दिया। जब १६२० में प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ, तो लास्की इंग्लैण्ड आ गया और London School of Economics and Sciences में ग्राहम वालास (Graham Wallas) के स्थान पर उसकी नियुक्ति राजनीति के प्राध्यापक पद पर हो गई। अध्यापन के प्रति लास्की की विशेष अभिरुचि थी। वह अपने छात्रों के प्रति आत्यधिक उदार था।

लास्की 'फेबियन-संघ' का सदस्य और लेबर पार्टी का प्रमुख नेता था। सन् १६४५ में वह इसका सभापति भी था। वह उच्चकोटि का दार्शनिक था और व्यक्ति उसके विचारों का केन्द्रबिन्दु था। १६३१ के उपरान्त वह मार्क्सवाद की ओर झुका और अन्त में वह मार्क्सवादी हो गया। वह प्रख्यात राजनीतिक विचारक, दार्शनिक, पत्रकार, लेखक, सम्पादक और श्रमिक-नेता आज इस संसार में नहीं है, किन्तु आज भी इसके अनेक शिष्य संसार में फैले हुए हैं, जो इससे प्रेरणा लेते हैं। 'ब्लम' ने लास्की की तुलना एक राजनीतिक विचारक की दृष्टि से माण्टेस्क्यू और दि टॉकेविले से की है।[1]

लास्की के ग्रंथ

(1) Studies in the Problem of Sovereignty
(2) A Grammar of Politics
(3) Authority in the Modern State
(4) Socialism and Freedom

---

1 'As a Political thinker Blum compared Harold to Montesquieu and De Tocqueville and added that he did not think that any other man in Europe or America had such a profound and original knowledge of democratic thought and institutions since the seventeenth century.'—Kingsley Martin

(5) Communism
(6) The State in Theory and Practice
(7) Liberty in Modern State
(8) Parliamentary Government in Great Britain
(9) American Presidency
(10) American Democracy
(11) Karl Marx An Essay आदि प्रमुख हैं।

लास्की पर अन्य विचारकों का प्रभाव

(१) लास्की अपने छात्र-जीवन में ही अपने अध्यापक-गण की उदार आदर्शवादी तथा व्यक्तिवादी विचारधारा से पर्याप्त रूप में प्रभावित हुआ था। इनमें प्रमुखतः डायसी (A V Dicey) फिशर (H A L. Fisher) और बार्कर थे।

(२) नेविन्सन (H. Nevinson) और लान्सबरी (George Lansbury) ने भी लास्की को प्रभावित किया। नेविन्सन एक उदारवादी विचारक और लान्सबरी एक शान्त श्रमिक नेता था। लास्की ने प्रथम से स्वतंत्रता का अर्थ और उसकी महत्ता तथा दूसरे से समानता का अर्थ और उसका महत्व समझा।

(३) लास्की ग्रीन से भी यथेष्ट रूप में प्रभावित हुआ। उसकी 'नैतिक चेतना' की कल्पना और व्यक्तिवाद ने उस जीवन पर प्रभावित किया। इस प्रकार ग्रीन के विचारों की लास्की के दर्शन पर अमिट छाप है।

(४) श्रेणी समाजवादी दर्शन से भी लास्की प्रभावित हुआ। इस दर्शन के प्रभाव ने उसे इसका समर्थक बना दिया था। किन्तु उसने इसकी राजसत्ता की धारणा की आलोचना की थी।

(५) लास्की पूँजीवाद का घोर शत्रु था। उसके इस दर्शन पर 'मोयजू' (Senor de Moeztu) तथा 'टानी' (R H. Tawney) के साम्पत्तिक-अधिकार-सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। सम्पत्ति के अधिकार का औचित्य समाज हित से होता है। किन्तु पूँजीपति ऐसा अधिकार नहीं रखता क्योंकि उसका लक्ष्य समाज-हित की अपेक्षा निजी हित होता है। इस विचार ने लास्की को बहुत प्रभावित किया।

(६) "सत्य वही है जो हितकर है, असत्य वही है जो हानिकारक है। इस सूत्र के प्रतिपादक विलियम जेम्स (William James) ने भी लास्की

को प्रभावित किया। यह तथ्य दर्शन के क्षेत्र तक ही परिमित था, किन्तु लास्की ने इस तथ्य को राजनीतिक क्षेत्र में भी लागू किया। उसका कथन था कि राजनीति में केवल उन्हीं सिद्धान्तों का कार्यान्वयन होना चाहिए जो लाभप्रद हों; क्योंकि अन्त में वही सत्य सिद्धान्त होंगे। अतः ऐसे सिद्धान्त जो हानिप्रद हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उनसे मतभ्रमाभास स्पष्ट है।

(७) कार्ल मार्क्स भी लास्की का प्रेरक है। उसने Karl Marx An Essay नामक पुस्तक १९२१ में लिखी। १९३४ में उसका 'मार्क्सी भाषण' उसके मार्क्सवादी झुकाव को अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः लास्की के बहुलवादी विचार मार्क्सवाद की पृष्ठभूमि पर ही निर्मित हुए थे। लेनिन की राज्य-सम्बन्धी विश्लेषण की धारणा का समावेश उसकी State in Theory and Practice नामक पुस्तक में हुआ है। वह सोवियत सभ्यता का प्रशंसक था और उसने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि वह सभ्यता ही यूरोपीय सभ्यता को जीवित रख सकती है। मार्क्स का लास्की पर इतना अधिक प्रभाव था कि उसका व्यक्तिवाद का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टि-बिन्दु से होता था जबकि मार्क्सवाद का विश्लेषण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से।

समाज और राज्य

लास्की की दृष्टि में आधुनिक समाज संघीय और बहुलवादी है। समाज में व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व राज्य द्वारा न होकर संघों द्वारा होता है। व्यक्ति के अनेक ध्येय होते हैं और इन विभिन्न ध्येयों की पूर्ति विभिन्न संघों द्वारा होती है। इन विभिन्न संघों के नियमों का पालन नागरिक उसी भक्ति करते हैं जैसे राज्य विधियों का। अतः समाज में इन विभिन्न संघों का प्रमुख स्थान है और अपने-अपने क्षेत्र में इनकी प्रभुता है। इनकी शक्ति सम्पन्नता के सम्मुख कभी-कभी राज्य को नतमस्तक होना पड़ता है। इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है जबकि विभिन्न संघों के आन्दोलनों के सामने राज्यों को झुकना पड़ा है। उदाहरणार्थ अखिल भारतीय कांग्रेस के समक्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद नतमस्तक हुआ। अखिल भारतीय रेल-संघ (All India Railway Federation) की मांगों को भारत-सरकार ने स्वीकार किया है। हिन्दू कोड बिल का जब जनता द्वारा व्यापक विरोध हुआ तो राजसत्ता को झुकना पड़ा। इस प्रकार संघ पर्याप्त शक्ति शाली हैं। किन्तु लास्की राज्य को सर्वोच्च संस्था अवश्य मानता है। "राज्य एक ऐसी संस्था है, जिसकी सदस्यता अनिवार्य है। वह नागरिकों के रूप में, मानवों

के हितों की रक्षा के लिए एक संस्था है," और "उसे अन्य संस्थाओं पर उस सीमा तक नियन्त्रण करना चाहिए जहाँ तक उनसे इन आवश्यकताओं की पूर्ति कराने के लिए नियन्त्रण आवश्यक हो।" किन्तु वह ऐसा कहकर संघों की स्वायत्तता का अपहरण नहीं करता। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के कारण संघों में पारस्परिक संघर्ष स्वाभाविक है। अतः एक ऐसी केन्द्रीय तथा सत्ता-सम्पन्न संस्था की आवश्यकता है जो समन्वयवादी कार्य कर सके और वह संस्था राज्य है। किन्तु लास्की ने राज्य की सार्वभौमता (Sovereignty) पर जबर्दस्त प्रहार किया था। उसका कथन था "राजनीतिक दर्शन के लिए सार्वभौमता के कानूनी सिद्धान्त को वैध बनाना सम्भव नहीं है", और "यदि सार्वभौमता की सम्पूर्ण कल्पना का परित्याग कर दिया जाय तो वह राज्य-विज्ञान के लिए स्थायी हित का कार्य होगा।" उसकी दृष्टि में, चरम सार्वभौमता का सिद्धान्त एक कानूनी कपोल कल्पना (legal fiction) तथा निरर्थक धारणा (barren conception) है। और यह "असंयत एवं अनुत्तरदायी राज्य का सिद्धान्त मानवता के हितों के अनुकूल नहीं है" तथा इसकी समाप्ति उसी प्रकार हो जायेगी जिस प्रकार राजाओं के दैवी अधिकार का अन्त हो गया है। इस प्रकार सार्वभौमता अनेक संघों में विभक्त हो जानी चाहिए। राज्य का कर्त्तव्य सहयोग और समन्वय का है जो उसे पूरा करना चाहिए। राज्य को विधियाँ बनाने का भी अधिकार है, किन्तु वे विधियाँ जन-हित पर आधारित हों और उनका बहुसंख्यक समुदाय विरोध नहीं करता हो। जिन कानूनों का जनता विरोध करती है, राज्य को उन्हें नहीं बनाना चाहिए। इस प्रकार राज्य की विधि-निर्माण शक्ति भी परिमित है।

लास्की ने राज्य की सार्वभौमता पर जो आक्षेप लगाये थे, उनके निम्न लिखित कारण हैं:—

(१) राज्य को अद्वैतवादी तथा अन्य विचारक एक सत्ताधारी संस्था मानते हैं, किन्तु व्यवहार में इस सत्ता का उपभोग कुछ पूँजीपति करते हैं। राज्य उनके शोषण का एक साधन है। सार्वभौमता पर एकाधिपत्य इन पूँजीपतियों का ही है।

(२) यह कहना कि राज्य व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक बनाता है और सुसम्पन्न जीवन की व्यवस्था करता है—बहुत बड़ा धोखा है। जहाँ उत्पादन के समस्त साधनों पर कुछ थोड़े लोगों का एकाधिकार हो और जहाँ घोर शोषण की

प्रक्रिया पनपती हो, ऐसी राज्य-व्यवस्था में आदर्श नागरिक जीवन अव्यावहारिक एवं नितान्त असम्भव है। शासन-सूत्र तो इन्हीं शोषकों के हाथों में है। फिर किस प्रकार ये शोषक शोषितों के कल्याण की बात सोच सकते हैं ?

(३) अद्वैतवादियों ने राज्य की सत्ता को असीमित कहा है और यदि वह परिमित भी है तो अपनी इच्छा से। किन्तु इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है जबकि उसकी यह स्वेच्छाचारिता धूलि-धूसरित हुई है। उसे अन्य संघों के समक्ष झुकना पड़ा है। उसे अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा है।

(४) राज्य को अनुत्तरदायी संस्था कहना भी भूल है, क्योंकि वह अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी है। इसका ज्वलन्त उदाहरण फ्रान्स का प्रशासकीय नियम (Administrative Law) है।

(५) सार्वभौमता (Sovereignty) को अविभाज्य बताना भी एक भ्रान्त धारणा है। शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त जो कि आज प्रचलित है, इसका अनौचित्य सिद्ध करता है।

(६) राज्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है, इसे भी अंगीकार नहीं किया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि समाज बहुलवादी है, क्योंकि उसकी शक्ति विभिन्न संघों में विभाजित है, और राज्य अद्वैतवादी है।

व्यक्तिवाद

लास्की बीसवीं सदी का 'मिल' था। उसकी विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति ही था। वस्तुतः लास्की और स्वाधीनता जुड़वां पैदा हुए थे। व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास ही राज्य और समाज का लक्ष्य होना चाहिए। व्यक्ति के नैतिक, धार्मिक और भौतिक उत्थान हेतु राज्य को वातावरण पैदा करना चाहिए। लास्की अव्यवस्था को अधिक श्रेयस्कर समझता था, अपेक्षाकृत अन्याय के। उसकी दृष्टि में व्यक्ति साधन है और सुव्यवस्था साध्य।

लास्की ने राज्य की अपेक्षा व्यक्ति को उच्चतर स्थान प्रदान किया। उसने उसे व्यक्ति के अन्तर्गत ही बताया। राज्य की सत्ता को व्यक्ति तभी मानता है जब उसकी अन्तरात्मा उसे स्वीकार करती है। मुझ पर सत्ता का दावा उसकी नैतिक प्रार्थना की मात्रा के अनुपात में ही उचित है।" "जिस राज्य के प्रति मेरी श्रद्धा है, वह वही राज्य हो सकता है, जिसमें मैं नैतिक पर्याप्तता देखता हूँ ।

हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति सच्चा होना है।"[1] और "मेरे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के लिए कोई एक संस्था नियम-निर्माण नहीं कर सकती है।" इस प्रकार लास्की राज्य को नियम-निर्माण का एकाधिकार प्रदान नहीं करता क्योंकि "मैं" का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और वह नागरिकता तक ही परिमित नहीं है। "राज्य में मानव की समस्त संस्था-सम्बन्धी प्रवृत्तियों की समाप्ति नहीं हो जाती।" राज्य तो मानवीय स्वार्थों के कई स्वरूपों में से केवल एक स्वरूप है, अतः मानव के अन्य हितों की पूर्ति अन्य विभिन्न वर्गों द्वारा होती है। किन्तु ऐसे समय में जबकि हितों में पारस्परिक विरोध हो तो राज्य को क्या करना चाहिए? उदाहरणार्थ, रेलवेकर्मियों का संघ सत्याग्रह की धमकी देता है जिससे कि राज्य में अव्यवस्था फैलने की आशंका है, और राज्य इस संघ को सत्याग्रह बन्द करने का आदेश देता है। ऐसी स्थिति में राज्य की सर्वश्रेष्ठता उसकी नैतिक प्रार्थना की श्रेष्ठता पर निर्भर करती है। उसे अपनी नीति और कानूनों द्वारा व्यक्ति के आत्म-बोध के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस प्रकार राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य व्यक्ति की बहुमुखी प्रतिभाओं को मूर्तरूप देना है। उसे आत्म-सन्तुष्टि प्रदान करना है।

जनतंत्र

लास्की की जनतंत्र में अगाध निष्ठा थी। वह इसका कट्टर अनुयायी था किन्तु उसने पूँजीवादी जनतंत्र की कटु आलोचना की थी। उसका कथन था कि पूँजीवादी राज्य और जनतंत्र परस्पर विरोधी हैं। जनतंत्र की स्थापना केवल बहुलवादी राज्य में ही सम्भव हो सकती है।

लास्की आधुनिक निर्वाचन-प्रणाली को उपयुक्त नहीं समझता था क्योंकि चार या पाँच वर्ष में शासनारूढ़ दल केवल एक बार अपना उत्तरदायित्व प्रजा के प्रति समझता है। इससे जनतंत्र वास्तविक नहीं होता। जब आम-निर्वाचन होता है, तो चुनाव-घोषणा-पत्र में बड़े आकर्षक नारों का उल्लेख होता है, किन्तु राज्य-सूत्र हाथ में आने पर वे समस्त प्रतिज्ञाएँ विस्मृत कर अधिनायकशाही प्रतिष्ठित की जाती है। शासक अधिनायकशाह हो जाता है और जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को भूल जाता है। किस प्रकार ऐसी शासन-व्यवस्था जनतंत्रीय हो सकती है? लास्की का विश्वास आदर्श जनतंत्र में था, जहाँ विभिन्न विपक्षी

1 'The only state to which our allegiance is the *state in* which I discover moral adequacy our first duty is to be true to our conscience "—Laski

पर जनता को विचार-अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान किया जाता हो और उसके निर्णय ही राज्य नियमों की आधारशिला हों, वही सच्चा प्रजातंत्र है। ऐसे प्रजातंत्र में संघों का अस्तित्व आवश्यक है; क्योंकि इन्हीं के द्वारा जनमत-निर्माण और विचार-प्रकाशन होता है। ऐसी स्थिति में ही नागरिक राज्य विधियों का पालन करता है क्योंकि व उसके विचारों के प्रतिबिम्ब एवं प्रतीक हैं। इस प्रकार आदर्श प्रजातंत्र सामाजिक प्रगति का द्योतक है।

अन्तर्राष्ट्रीयता

लास्की विश्व-शान्ति का परम उपासक था। विश्व-शान्ति की स्थापना उसका सर्वोत्तम लक्ष्य था। उसका मत था कि एक आदर्श नागरिक को विश्व बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए। उसे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रत्येक समस्या पर विचार करना चाहिए। विश्व-शान्ति उसका मूलमंत्र और मानवता उसका लक्ष्य होना चाहिए। उसके कार्य ऐसे होने चाहिएं कि जिससे समस्त विश्व एकता के सूत्र में आबद्ध हो सके। लास्की ने कहा था कि राज्य को भी यही दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। किन्तु अद्वैतवादी राज्य और आस्टिन का 'सुनिश्चित सर्वोच्च मानव' इस विश्व-एकता में बाधक था। लास्की ने उसका खण्डन किया। जब एक आदर्श राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण होगा तो सामाजिक प्रगति का होना भी सम्भव होगा। विश्व-कल्याण में ही सभी का कल्याण निहित है अतः राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य विश्व शान्ति की स्थापना होनी चाहिए।

लास्की ने कहा था कि आज के युग में राज्य की प्राचीन अद्वैतवादी धारणा का कोई औचित्य नहीं है। मानवता का उल्लंघन करके कोई राज्य जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक राज्य आज अन्तरावलम्बित्व का अनुभव करता है। उसे जागृत एवं प्रगतिशील जन-समाज का ध्यान है और राष्ट्रों की प्रतिक्रिया को वह भलीभांति समझता है। अतः राज्य का अद्वैतवादी रूप न आज है और न सम्भव ही हो सकता है।

बहुलवाद का औचित्य

बहुलवाद कठोर एवं हठवादी विधानवादिता और राज्य की सार्वभौमता की एक उचित प्रतिक्रिया है। बहुलवाद ने राज्य की सार्वभौमता के विभाजन पर बल दिया है। वह राज्य की अन्य राज्यों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वाधीनता को उचित नहीं समझता। बहुलवादी विभिन्न सामाजिक संघों के बढ़ते हुए प्रभाव,

इनके कार्य-क्षेत्र में राज्य द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप तथा उन्हें राजनीतिक व्यवस्था में अधिक महत्ता देने पर प्रकाश डालते हैं। वे विधि को राज्य से स्वतंत्र एवं उच्चतर समझते हैं। वस्तुतः राज्यीय संघ व्यवस्था तथा धारा-सभा में संघ-प्रतिनिधित्व-सम्बन्धी उनके तर्कसंगत सुझाव बड़े ही उपयोगी हैं। बहुलवादी विचार धारा ने राजनीति-दर्शन को नवीन दिशा की ओर मोड़ा है और नवीन हल बताये हैं संघर्षों के निवारण का। जैसा कि गैटिल ने कहा है—"बहुलवाद एक ऐसी व्यवस्था का दृष्टिकोण है जबकि नवीन स्थितियाँ उन दिनों के वैधानिक वर्गीकरण को असन्तोषजनक पा रही थीं और उनके पास ऐसा कोई पर्याप्त एवं निश्चित समाधान नहीं था जिससे वे उपस्थित संघर्षों का निवारण कर सकतीं। यह समन्वय एवं समझौता की उस प्रणाली का प्रतिनिधित्व करता है जिसके द्वारा नवीन धर्मों की रचना की जाती है और विरोधी स्वार्थों को सन्तुलित किया जाता है।'

मिस फॉलेट (Miss Follet) ने अपनी New state नामक पुस्तक में बहुलवाद के जो गुण बतलाये हैं, वे इस प्रकार हैं —

(१) बहुलवादियों ने राज्य के इस आधुनिक अधिकार का भंडाफोड़ किया है कि वह सर्वप्रभुत्व है।

(२) बहुलवादियों ने आधुनिक संघीय जीवन के महत्व को प्रकट किया है और राजनीतिक व्यवस्था में संघों को विशिष्ट स्थान मिलने पर बल दिया है।

(३) वे स्थानीय जीवन के महत्व को स्पष्ट करते हैं और उसके पुनर्जीवन की माँग करते हैं।

(४) उनकी दृष्टि में राज्य और उसके अंगों के हितों में अन्तर है। दोनों के स्वार्थ समान नहीं हैं।

(५) बहुलवाद की उत्पत्ति के कारण जन-भीड़ का अन्त हो रहा है और व्यवस्थित संघों की स्थापना हो रही है।

(६) बहुलवाद ने एकात्मकता, संगठन और संघवाद की समस्या पर प्रकाश डाला है।

बहुलवाद की आलोचना—

(१) बहुलवादी सार्वभौमिकता का विभाजन कर राज्य को समन्वयकारी संस्था (Co-ordinating body) बनाना चाहते हैं। किन्तु राज्य वैधानिक नियन्त्रण शक्ति के बिना समन्वय का कार्य कैसे करेगा, यह पूर्णतया संदिग्ध है।

(२) बहुलवादी विचारकों की विचारधारा में विरोधाभास है। एक ओर वे राज्य की शक्ति का विरोध करते हैं, तो दूसरी ओर उसका समर्थन। लास्की ने सार्वभौमता के विकेन्द्रीकरण की वकालत की है, किन्तु राज्य की असीमित अधिकार-सम्पन्नता का भी औचित्य सिद्ध किया है। बार्कर की दृष्टि में, राज्य व्यक्ति के हितों की पूर्ति की तथा नागरिक को महाअभिव्यक्ति की सजीव प्रतिमा है। "हम देखते हैं कि राज्य को व्यावसायिक संघ, राष्ट्रीय दल और धर्म-संघ की प्रगति के समक्ष हट जाने को कहा जाता है। किन्तु चाहे जितने अधिकारों के सम्बन्ध में ये संघ दावे करें या मिल जायें फिर भी राज्य एक व्यवस्थात्मक शक्ति के रूप में आवश्यकीय होगा, और यह भी सम्भव है कि यदि इन संघों को नवीन अधिकार मिलते हैं तो राज्य को भी जितने अधिकार उससे छीन लिये जायेंगे अपेक्षाकृत उनसे कहीं अधिक अधिकार प्राप्त हों क्योंकि उसे व्यवस्था की और अधिक गम्भीर तथा भारी समस्याओं को हल करना होगा।"[1] फिगिस और मेटलैण्ड संघ को वास्तविक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि राज्य अन्य सामाजिक संस्थाओं से उच्चतर है। फिगिस राज्य को समुदायों का समुदाय मानता है। पाल बकर (Paul Boncour) सभी संस्थाओं को सार्वभौम मानता है, किन्तु उनको राज्य के अन्तर्गत ही रखता है और उसके मत में राज्य सभी नागरिकों के हितों तथा राष्ट्रीय एकता का मजबूत आधार है। सिएडसे राज्य को उच्चतम संस्था मानता है, क्योंकि उसकी सदस्यता अनिवार्य है।

(३) बहुलवादियों का यह तर्क कि समाज के अन्दर विभिन्न संघ समानान्तर रूप से बढ़ते हैं और उनके मध्य कर्तव्य-सम्बन्धी पारस्परिक संघर्ष नहीं होता, न्यायसंगत नहीं है। यदि उनका यह तर्क ही तथ्यपूर्ण है तो एक सार्वभौम राज्य की आवश्यकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु वस्तु-स्थिति सर्वथा

1 "We see the State invited to retreat before the advance of the guild, the national group, the church Yet whatever rights such groups may claim or gain, the State will still remain necessary adjusting force; and it is even possibl that if groups are destined to gain new ground the State will also gain, perhaps even more than it loses, because it will be forced to deal with ever graver and ever weighter problems of adjustment"

—E. Barker

इसके विपरीत है, क्योंकि विभिन्न संघों के बीच कल स्वार्थों, स्वार्थों और निष्ठाओं सम्बन्धी संघर्ष होता है। अतः ऐसी दशा में एक अधिकार-सम्पन्न राज्य की परम आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त बहुलवादी किस प्रकार आवश्यक और अनावश्यक संघों का निर्णय करेंगे और उन्हें प्रतिनिधित्व देने का भी क्या आधार होगा?

(४) मिस फालेट का यह तर्क अधिक युक्तिसंगत है कि "राज्य को संघों का संघटन नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई भी संघ या संघ-समूह व्यक्ति के पूर्णत्व को नहीं समेट सकता और एक आदर्श राज्य व्यक्ति के पूर्णत्व की मांग करता है। नागरिकता व्यावसायिक संघ की सदस्यता से अपेक्षाकृत विशिष्ट वस्तु है। हमें राजनीति में परिपूर्ण मनुष्य की आवश्यकता है। आदर्श एकीकृत राज्य सभी का अन्तर्विनाश करनेवाला नहीं है। वह सर्व-परिग्राही है। एक सच्चे राज्य को सभी स्वार्थों को अपने अन्दर एकत्र करना चाहिए। उसे हमारी अनेक निष्ठाओं को लेकर उन्हें एकरूपता देनी चाहिए। हमारी आत्मा का वास राज्य में है।"[1]

(५) बहुलवाद के आलोचकों का कथन है कि यदि राज्य को अन्य संघों के समान एक संघ मान लिया जाय तो तीन महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं —

(१) राज्य अन्य संघों से कर-वसूली के अधिकार से वंचित हो जायेगा।

(२) संघों के पारस्परिक झगड़ों के निर्णय देने का अधिकार उसे नहीं रहेगा। और

(३) राज्य की अनिवार्य नागरिकता समाप्त हो जायेगी।

अतः एक ऐसी संस्था की परमावश्यकता है जो अन्य संघों से उच्च एवं पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हो जिससे कि अन्य संघों में सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित कर

---

1 "The State can not be composed of groups because no group nor number of groups can contain the whole of me and the ideal State demands the whole of me My citizenship is something bigger than my membership in the Vocational group We want the whole man in politics... The ideal unified State is not all absorptive It is all inclusive...The true State must gather up every interest within itself It must take our many loyalties and find how it can make them one The home of my soul is in the State' —Miss Follett

गया, जिसका अपना धर्म और अपनी सरकार थी। फ्रांस ने भी इंगलैण्ड का अनुकरण किया। फ्रांस में राष्ट्रीयता की अग्रगामी जोन ऑफ आर्क (Joan of Arc) थी। उसने फ्रांसीसी जाति को राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत किया। स्पेन और पुर्तगाल में भी विभिन्न कारणों से राष्ट्रीयता का उदय हुआ। सेंट जोन (St. Joan) हस (Hus), दान्ते (Dante), लूथर (Luther) और मैकेयवली (Machiavelli) आदि महान् विचारकों ने राष्ट्रीयता की भावना को बलवती बनाया। मैकेयवली ने इटली को, जो विभिन्न स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था, राष्ट्रीय एकता के सूत्र में आबद्ध किया। इसके लिए उसने पोप के विरुद्ध वकालत की और वह इटली को एक सुसंगठित राष्ट्रीय राज्य बनाने में सफलीभूत हुआ। धार्मिक-सुधार-आन्दोलन (Reformation) ने रोमन कैथोलिक चर्च की सार्वभौमिकता को विनष्ट कर राष्ट्रवाद को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। किन्तु राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान में विशिष्ट हाथ फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का रहा। पोलैण्ड के विभाजन के उपरान्त ही फ्रांस में राज्य-क्रान्ति हो गई और नैपोलियन का यूरोप के विभिन्न देशों पर एकाधिपत्य हो गया। फ्रांसीसी क्रान्ति ने 'मानव समाज को जातियों के रूप में संगठित करने की पद्धति को पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित किया।' और "जनप्रिय शासन-सिद्धान्त तथा राष्ट्रीय शासन-निर्णय के सिद्धान्त को स्थापित किया।" फ्रांसीसी क्रांति ने राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्र चिह्न और राष्ट्रगान को प्रचारित एवं प्रसारित किया। इसके द्वारा जनतन्त्रात्मक राष्ट्रवाद को बल मिला और राष्ट्र भक्ति की भावना में परिपुष्टि हुई। इस प्रकार फ्रांसीसी जाति एक सबल राष्ट्र के रूप में संगठित हो गई और इस भावना से अन्य देश भी प्रभावित हुए। नैपोलियन की अधीनता में जो राष्ट्र थे उनमें भी राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गई। इसके अतिरिक्त लेखकों, कवियों और दार्शनिकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा को और विकसित किया, जिनमें विशेषतः उल्लेखनीय हैं—कांट, फिश्टे, हीगेल, शिलर गेटे (Goethe) आदि। फिश्टे ने कहा, "हम जर्मनी निवासियों में एकता की उस भावना को फूँकना चाहते हैं जो उनके धर्म प्रवर्तन को धक्का दे।" हीगेल ने भी राष्ट्र का स्तुतिगान राज्य को "पृथ्वी पर ईश्वर का प्रयाण" कहकर किया। रोज (H Rose) का कथन है कि, "जातीयता ने समस्त जनता में अपना एक अलौकिक चमत्कार दिखलाया। विचारकों ने उस चमत्कारिक शक्ति की अनुभूति की थी जो जर्मन राजनीति के प्रति आकर्षित नहीं था आगे में इस भावना की अद्भुत शक्ति के प्रदर्शन से विशिष्ट रूप से प्रभावित हुआ। शिलर और फिश्टे ने इस भावना का विश्व के

लिए मृत संजीवनी बूटी की भाँति स्वागत किया। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज जैसे विश्व-कवियों ने जन-जागरण के मोद एवं उल्लास को देख उसके काव्य का सृजन किया और इसी में यह भविष्यवाणी की "जो भी इस राष्ट्रीय जागृति को विनष्ट करने का प्रयास करेगा उसका पराजित होना अवश्यम्भावी है। यह अपने विशुद्ध रूप में राष्ट्रीयता थी।" किन्तु इस राष्ट्रीय जागरण की १८१४ की वियना-कांग्रेस (Congress of Vienna) में यूरोप के पुनर्निर्माण के प्रश्न पर, उपेक्षा की गई और राजाओं के अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई। अब राष्ट्रवाद राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उदित हुआ। इटली, पोलैण्ड और यूनान में राजनीतिक क्रान्तियाँ हुई। इटली में मेजिनी राष्ट्रीयता का महान् सेनानी और अग्रदूत था। बिस्मार्क ने भी 'रक्त और लौह' (Blood and Iron) की नीति का अनुसरण कर जर्मनी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य में परिणत कर दिया। बिस्मार्क के समकालीन ट्रीट्श्के (Treitsche) ने, जो बर्लिन विश्वविद्यालय में १८७४ से १८९६ तक इतिहास और राजनीति का प्राध्यापक रहा, राष्ट्रवाद का नवीन विचार प्रस्तुत किया। ट्रीट्श्के बिस्मार्क और हिटलर की ही कोटि में आता है। इटली और जापान विशेषतः उसकी विचारधारा से प्रभावित हुए। उसका कहना था कि राज्य का अपना एक विराट सामूहिक व्यक्तित्व है और उसकी अपनी एक इच्छा है। ट्रीट्श्के एक सार्वलौकिक राज्य (universal state) में विश्वास नहीं करता था। उसकी धारणा थी कि शक्ति के दृष्टिबिन्दु से एक राज्य का प्रतिनिधित्व केवल राष्ट्र ही कर सकता है। एक राज्य को किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सम्मुख झुकने की आवश्यकता नहीं। "जब एक राष्ट्र का अस्तित्व खतरे में हो, तो किसी बाह्य शक्ति की निष्पक्षता में विश्वास नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह एक राज्य के लिए सम्मान का एक प्रश्न है कि वह कठिनाइयों का समाधान स्वयमेव करे।'

प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को यथेष्ट बल मिला। वर्साई की संधि (Treaty of versailles) में 'राष्ट्रीय आत्म-निर्णय' (National self-determination) के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। इसका श्रेय राष्ट्रपति विल्सन को है। विल्सन के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम में 'आत्मनिर्णय' के सिद्धान्त को भी शामिल किया गया था। इसी सिद्धान्त के आधार पर चेकोस्लोवाकिया (Czechoslovakia), पोलैण्ड (Polland), लेटाविया (Latavia) लिथुनिया (Lithunia) आदि अनेक नवीन राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। किन्तु राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का

निष्पक्ष तथा प्रभावशाली पालन नहीं किया गया, क्योंकि इससे शीर्षस्थ राष्ट्रों के परस्पर हितों को आघात पहुँचता था।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता

'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रवाद' शब्दों की सटीक परिभाषा के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारक एकमत नहीं हैं। 'राष्ट्र' शब्द की उत्पत्ति लैटिन धातु 'नैशियो' (Natio) से हुई है, जिसका अर्थ है 'जन्म' या 'प्रजाति'। फलतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से एक राष्ट्र से अभिप्राय है जिसका निवास एक नस्ल से हो। ऐसे व्यक्ति जो रक्त-सम्बन्ध द्वारा एक राजनीतिक समाज में परस्पर संबद्ध हों। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं है कि राष्ट्रवाद और प्रजातिवाद समान विचार के हैं। बर्जेस (Burgess) और लीकॉक (Leacock) राष्ट्र की परिभाषा वंशीय भाव में करते हैं। वैसे बर्जेस सामान्य वंश-परम्परा को कोई आवश्यक तत्व नहीं समझता। इसके मतानुसार, "राष्ट्र वह जनसंख्या है जिसकी भाषा, साहित्य परम्परागत रीति-रिवाज तथा इतिहास समान है, जिसमें अच्छे-बुरे की चेतना के समान भाव हैं और जिनका निवास ऐसी भूमि पर है जिसमें भौगोलिक एकता है।" केल्वो (Calvo) की धारणा है कि राष्ट्र का विचार जन्म देश और भाषा के समुदाय से संबद्ध है। किन्तु देश और राष्ट्र दो नितान्त भिन्न शब्द हैं। फिर रक्त की पुनीतता के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। संयुक्त अमरीका की जनसंख्या का निर्माण विभिन्न नस्लों या मिश्रित रक्त से हो सकता है। इसके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड एक राष्ट्र है, जहाँ विभिन्न भाषा-भाषी और विभिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं।

कुछ विचारक राष्ट्र का प्रयोग राजनीतिक संगठन की विचाराभिव्यक्ति में करते हैं। उनके मत में राष्ट्र का अर्थ है ऐसे व्यक्ति, जो सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से परस्पर अपनत्व की अनुभूति करते हैं और एक सरकार के अन्तर्गत सुसंगठित हैं।

'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता रहा है। किन्तु अब निश्चित रूप से दोनों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग राजनीतिक एकता या स्वाधीनता में होता है—अन्यों से भिन्न ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय, जिनका घटना किसी राजनीतिक गठबन्धन हो। इसके विपरीत राष्ट्रीयता में राजनीतिक एकता सन्निहित नहीं है। अधिकांशतः यह एक अराजनीतिक धारणा है, एक मनोवैज्ञानिक गुण है और विभिन्न शासन में भी इसका

अस्तित्व बना रह सकता है। यह प्रायः एक सांस्कृतिक एवं नैतिक धारणा की अभिव्यक्ति करती है। यह व्यक्तियों के उस समूह को इंगित करती है जो जोत वंश-सामान्य परम्परा, भाषा और इतिहास की समानता द्वारा सम्बद्ध हुए हैं। इस प्रकार लार्ड ब्राइस के शब्दों में, 'एक राष्ट्रीयता वह जन-संख्या है जो कुछ बन्धनों द्वारा ऐसे ढंग से संगठित होती है, जैसे—भाषा साहित्य, विचारों, रीतियों और परम्पराओं द्वारा, कि वह अपनी सम्बद्ध एकता का अन्य उन जनसंख्याओं से भिन्नता का अनुभव कर सकती है, जो उसी भाँति किसी समान बन्धनों से संगठित होती हैं। राष्ट्रीयता मूलतः एक मानसिक भावना है जैसा कि जिमर्न (Zimmern) का कथन है, "राष्ट्रीयता भी धर्म के समान आत्मगतपरक (Subjective), मनोवैज्ञानिक, मन की स्थिति एक आध्यात्मिक सम्पत्ति, एक भावना-पद्धति विचार और जीवन-है।" रोज (Rose) के मतानुसार राष्ट्रीयता की परिभाषा है, "हिर्दों की एक ऐसी एकता जो एक बार जमकर फिर कभी न बिगड़े।"

किन्तु एक राष्ट्र में अनेक राष्ट्रीयताएँ हो सकती हैं, जैसे इंगलैण्ड एक राष्ट्र है, पर उसमें चार राष्ट्रीयताएँ हैं—अंग्रेज स्कॉट, वेल्स और उत्तरी आयरिश। हेज (Hayes) कहता है, 'एक राष्ट्रीयता एकता और सार्वभौम स्वाधीन सत्ता उपलब्ध कर लेने पर एक राष्ट्र बन जाती है।" जिस प्रकार यहूदी जाति पैलेस्टाइन में इसराइल राज्य की स्थापना से पूर्व एक राष्ट्रीयता थी, किन्तु अब यह एक राष्ट्र है। हिन्दू और मुस्लिम दो राष्ट्रीयताएँ हैं, किन्तु एक राष्ट्र भारत में निवास करती हैं। राष्ट्र और राष्ट्रीयता के इस अन्तर की ओर स्पष्ट करते हुए हेज कहता है, 'एक राष्ट्रीय राज्य का आधार सदैव राष्ट्रीयता होती है, किन्तु राष्ट्रीयता का अस्तित्व एक राष्ट्रीय राज्य विहीनता हो सकता है। राष्ट्र तत्वतः राजनीतिक होता है, जबकि राष्ट्रीयता प्रधानतः सांस्कृतिक होती है और केवल संयोग से राजनीतिक हो जाती है।" इस प्रकार इलियास अहमद (Ilyas Ahmad) के शब्दों में, राष्ट्रीयता "एक शिक्षा-विषयक धारणा है; यह लोगों को एक राष्ट्र बनने एक राष्ट्र अनुभव करने तथा एक राष्ट्र-निर्माण करने की शिक्षा प्रदान करती है।"

राष्ट्रीयता के आवश्यक तत्त्व

राष्ट्रीयता के वे तत्त्व जो व्यक्तियों को एक सूत्र में आबद्ध करते हैं, अनेक और विभिन्न हैं। ये तत्त्व राष्ट्रीयता के लिए केवल परमावश्यक ही नहीं हैं, अपितु राष्ट्रीयता का अस्तित्व ही इन पर निर्भर करता है। ये तत्त्व हैं (१) भौगोलिक

एकता, (२) भौगोलिक एकता, (३) सामान्य संस्कृति (४) समान भाषा, (५) समान धर्म, (६) समान आर्थिक हित, (७) समान शासन और (८) लोकमत।

(१) वंशीय एकता (Unity of Race)—कुछ लेखक वंशीय एकता को राष्ट्रीयता के संस्थापन और उसे बलवती बनाने में प्रमुख स्थान देते हैं। जिमर्न और बार्कर दोनों विचारकों ने वंशीय एकता को राष्ट्रीयता के निर्माण में आवश्यक तत्त्व समझा है। किन्तु इसके विपरीत अनेक ऐसे विचारक हैं जो इसे इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। मेजिनी के विचार में वंशीय एकता राष्ट्रीयता के निर्माण में कोई महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है। लैवेलिये (Laveleye) का कथन है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों का सांस्कृतिक स्तर उन्नत होता जायेगा त्यों त्यों उनके इस विचार में क्षीणता आती जायेगी कि राष्ट्रीयता के निर्माण में वंशीय एकता एक आवश्यक तत्त्व है। हेज के मतानुसार "एकता यदि इसका किंचित् भी अस्तित्व है, तो आजकल एकमात्र असभ्य जातियों के लोगों में ही है।" पिल्सबरी के विचार में, "साधारणतः राष्ट्रीयता के निर्धारण में वंश का अब कोई इतना महत्त्व नहीं है। किसी भी राष्ट्र में अब कोई विशुद्ध वंश नहीं है। आज मानव सर्वत्र वर्णसंकर हैं।" इस प्रकार वंशीय एकता का राष्ट्रीय भावनाओं की सृष्टि में अब कोई महत्त्व नहीं रहा है। आज कोई भी वंश अपनी पुनीतता का दावा नहीं कर सकता। स्विट्ज़रलैण्ड संयुक्तराज्य अमरीका और कनाडा इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं, जहाँ विभिन्न मिश्रित वंश के लोग रहते हैं। यहाँ विभिन्न मिश्रित वंशीयता राष्ट्रीयता के विकास में बाधक नहीं है। इंग्लैण्ड भी इस वंशीय मिश्रण से बच नहीं सका है। वह भी केल्टों (Celts), डेनों (Danes), और ट्यूटनों (Teutons) का सम्मिश्रण है। कुछ लेखकों की धारणा है कि राष्ट्रीयता ही वंश की जन्मदात्री है, न कि वंश राष्ट्रीयता का जन्मदाता है। किन्तु जैसे-जैसे मानव-समाज सभ्य होता जायगा, वैसे-वैसे ही वंशीय संकीर्णता का विचार ह्रासोन्मुख होता जायगा, जैसे आज नवीन आविष्कारों के कारण राष्ट्रीयता की दीवारें ढह रही हैं और विश्वबन्धुत्व की भावना प्रसारित हो रही है। विश्व नागरिकता का आन्दोलन उत्तरोत्तर बल पकड़ता जा रहा है।

(२) भौगोलिक एकता—निःसन्देह भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता के निर्माण में एक आवश्यक तत्त्व है। भौगोलिक दशा और जलवायु मनुष्य के चरित्र और उसके शारीरिक ढांचे को विशेषतः प्रभावित करते हैं। इनके द्वारा व्यक्तियों के रहन-सहन, उद्योग-धन्धे तथा खान-पान में समानता स्थापित होती है। यह समानता

ही उसमें मातृभाव का संचार करती है। मनुष्य जिस भूभाग में जन्म लेता है उसे अपनी मातृ-भूमि या पितृ भूमि कहकर सम्बोधित करता है। जन्म-भूमि का बन्धन जीवन में बड़ा महत्त्व रखता है। इसकी महत्ता का अनुभव चाहे मातृ-भूमि में रहकर न होता हो किन्तु विदेश जाने पर तो इसकी अनुभूति होती ही है। मेजिनी के ये वाक्य राष्ट्र के महत्त्व का औचित्य सिद्ध करते हैं, "हमारा राष्ट्र हमारी जन्म भूमि है, यह घर हमें ईश्वर ने प्रदान किया है, जिसके अन्तर्गत अनेक बड़े कुटुम्ब हैं, जो हमें प्यार करते हैं और जिन्हें हम प्यार करते हैं।" यह बन्धन राष्ट्रीय मनोभावों का जन्मदाता और राष्ट्रीयता को आधार-भित्ति है। इसके बिना राष्ट्रीयता के भाव जागृत नहीं होते। यहूदी जाति को राष्ट्रीयता की भावना और विश्वास ने दीर्घकाल तक इसलिए जीवित रखा कि एक दिन पैलेस्टाइन देश उनका एक राष्ट्रीय घर हो जायेगा। जिप्सी जाति राष्ट्रीय भाव विहीन है, क्योंकि उसका कोई निश्चित स्थान नहीं है और वह यत्र-तत्र भ्रमण करती रहती है। यही स्थिति टुंड्रा के एस्किमो (Eskimos) की भी है। इस प्रकार प्राकृतिक सीमाएँ राष्ट्रीयता के विकास एवं प्रगति में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। इसके द्वारा सामान्य शारीरिक बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की उत्पत्ति होती है। किन्तु हेज इस विचार से सहमत नहीं है। उसकी दृष्टि में जातियों के मध्य प्राकृतिक सीमाओं का विचार केवल कोरी परिकल्पना है। निःसन्देह एक राष्ट्र के लिए एक निश्चित भूभाग का होना परमावश्यक है, किन्तु संसार की समस्त भूमि का विभाजन राष्ट्रीयता के आधार पर करना भी एक भयंकर भूल है। इस भूल के कारण मानव-समाज पृथक् राष्ट्रीय सीमाओं में बँट जाता है और फिर इन राष्ट्रीय सीमाओं की परिवृद्धि हेतु अत्याचार और संघर्ष का एक नया दौर चलता है। साम्राज्यवादी भावनाएँ युद्धीय विभीषिका में परिणत हो जाती हैं। इस प्रकार मानवता अनेक बार क्रूर-अत्याचारों से उत्पीड़ित और बर्बर आक्रमणों द्वारा पददलित हो चुकी है।

(३) समान संस्कृति—संस्कृति राष्ट्रीयता का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह इसका मूलाधार है। प्रो० हेज ने भी संस्कृति को राष्ट्रीयता का महत्त्वपूर्ण आधार माना है। संस्कृति की एकता में सामान्य रीति रिवाज और आचार, सामान्य परम्पराएँ और वाङ्मय समान पौराणिक कथाएँ, महाकाव्य और कला शामिल हैं। सांस्कृतिक समानता में वैचारिक एवं आदर्शात्मक समानता सन्निहित है। वैचारिक एवं सैद्धान्तिक एकता व्यक्तियों को एकसूत्र में आबद्ध करती है। यह संगठन का एक सबल माध्यम है।

करना, संगठित करना और स्थापित रखना होता है अर्थात् एक ऐसा राज्य जिसका निर्माण न्यूनाधिक विभिन्न व अनेक राष्ट्रीय इकाइयों द्वारा हुआ हो और जो एक इच्छा के अधीन हो।" लेनिन के मत में, "साम्राज्यवाद पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है। कौटस्की (Kautsky) के कथनानुसार, 'साम्राज्यवाद उच्च विकसित औद्योगिक पूंजीवाद की उत्पत्ति है। यह प्रत्येक औद्योगिक पूँजी वाले राष्ट्र को मिलाने या सब बड़े राष्ट्रों को अपने अन्तर्गत लाने की प्रवृत्ति है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम साम्राज्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं, "साम्राज्यवाद एक राष्ट्र का अन्य राष्ट्र पर शोषण की दृष्टि से एकाधिपत्य कर लेने की नीति है। यह एकाधिकार सदा विजय के रूप में ही नहीं होता, किन्तु आर्थिक और अन्य प्रकार का भी हो सकता है।

साम्राज्यवाद का इतिहास

साम्राज्यवाद की एक लम्बी कहानी है। यह कहानी राष्ट्रों के उत्थान-पतन की कहानी है। यह एक राष्ट्र के अभ्युदय को अभिव्यक्त करती है, तो दूसरे राष्ट्र की पतनावस्था की द्योतक है। इसमें किसी की गौरव-गाथा छिपी है तो किसी का करुण-क्रन्दन। यह हर्ष विषाद का सजीव चित्रण है।

भारत का महाभारत कालीन इतिहास बताता है कि यहाँ एक विस्तृत आर्य-साम्राज्य स्थापित था। समस्त भारत पर आर्य-पताका फहराती थी। इस साम्राज्य की उत्तरी सीमा आधुनिक चीन के कुछ प्रदेशों को स्पर्श करती थी तथा पूर्वी सीमा पूर्वी द्वीपों को छूती थी। अमरीका से भी निकटवर्ती सम्बन्ध थे। किन्तु महाभारत के युद्ध ने इस विशाल साम्राज्य को अनेक राज्यों में विभक्त कर दिया और फलतः कुछ काल के लिए यह साम्राज्यवादी भावना क्षीण हो गई। इसके बाद मिस्र मैसोपोटामिया तथा चीन ने अँगड़ाई ली और वहाँ साम्राज्यों की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार साम्राज्यवाद का विकास हुआ। ईसा से लगभग ११४५ वर्ष पूर्व बैबीलोनिया-साम्राज्य की स्थापना हुई। असीरिया साम्राज्य उस समय स्थापित था। मकदूनिया के फिलिप ने ईसा से लगभग ३३० वर्ष पूर्व यूनानी साम्राज्य को स्थापित किया। उसके पुत्र सिकन्दर महान् ने, जो एक घोर साम्राज्यवादी था, इस विशाल साम्राज्य की सीमाओं में परिवर्तन किया। उसके साम्राज्य में यूनान, पश्चिमी एशिया, मैसोपोटामिया सीरिया मिस्र, बेबीलोनिया अफगानिस्तान, तुर्किस्तान फारस और भारतीय पश्चिमोत्तर प्रदेश सम्मिलित थे। किन्तु सिकन्दर का यह विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद स्थायी नहीं रह सका और इसका विभाजन उसके सेनापतियों में हो गया।

ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व इटली में रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। यह साम्राज्य लगभग ६०० वर्ष तक रहा। इसका अन्त हूण तथा पाश्चात्य जंगली जातियों के आक्रमण द्वारा हुआ। पुर्तगालवालों ने अफ्रीका, दक्षिणी एशिया और ब्राजील आदि राज्यों पर अपना एकाधिपत्य जमाने की कोशिश की। स्पेन भी साम्राज्यवादी दौड़ में पीछे नहीं रहा। उसने भी मेक्सिको, पेरू और नीदरलैण्ड आदि देशों को अपने अधीन कर लिया। स्पेन साम्राज्य यद्यपि बहुत विस्तृत था, तथापि यह भी अधिक काल तक टिक नहीं सका।

१७वीं सदी के प्रारम्भ में हालैण्ड-निवासियों ने अफ्रीका, हिन्दुस्तान और दक्षिणी द्वीप-समूह पर अपना आधिपत्य जमाया। इसी समय ब्रिटेन और फ्रांस ने भी भारत, कनाडा और उत्तरी अमरीका के मध्यभाग में अपने साम्राज्यों की स्थापना की। किन्तु फ्रांस-साम्राज्य उसी यूरोपीय सप्तवर्षीय युद्ध के कारण विलुप्त हो गया। १८०४ में नेपोलियन ने इसे पुनर्जीवित किया; किन्तु यह चिर स्थायी नहीं हो सका। १८८० से १९४५ तक ब्रिटिश साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। १८८२ में इंगलैण्ड का मिस्र पर भी आधिपत्य हो गया था। जापान और अमरीका ने भी साम्राज्यवादी नीति को अपनाया। इस प्रकार अफ्रीका में यूरोपीय राष्ट्रों ने, सुदूर पूर्व में जापान ने और प्रशान्त महासागर में अमरीका ने अपने-अपने साम्राज्यों की स्थापना की। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त, प्रथम श्रेणी [illegible] साम्राज्यवादी देश इङ्गलैण्ड फ्रांस और हालैण्ड थे तथा द्वितीय श्रेणी के साम्राज्यवादी देशों में जापान अमरीका, पुर्तगाल और स्पेन आदि की गणना होती थी। १९१७ की रूसी क्रान्ति के पश्चात् रूस के क्षेत्रफल में भी वृद्धि हुई है। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ में अपनी इस जनसंख्या एवं क्षेत्रफल की वृद्धि के कारण, रूस ब्रिटेन के बाद साम्राज्यवादी देश समझा जाने लगा।

साम्राज्यवाद के प्रमुख कारण

(१) साम्राज्यवाद की उत्पत्ति अनेक तत्वों के कारण हुई है। इसकी उत्पत्ति का सर्वप्रथम कारण नैसर्गिक स्वार्थ माना है। प्रारम्भ में साम्राज्यवाद मनुष्य की लुटेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति था। उसमें हम लुटेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। प्राकृतिक नियम भी इस तथ्य [illegible] औचित्य सिद्ध करता है। बड़े जन्तुओं का खाद्य पदार्थ छोटे जन्तु हैं। इतिहास बताता है कि जिस प्रकार प्राणियों ने भोजन, निवास-स्थान तथा अन्य आवश्यक सामग्री के लिए एक

स्थान से दूसरे स्थान में विचरण किया और अन्य जातियों को पराजित कर अपने राज्य की नींव डाली। इस प्रकार साम्राज्यवाद के विकास में अन्य देशों को विजित करने की पिपासा तथा प्रतियोगी संघर्ष ने विपुल भाग लिया है। यह प्रवृत्ति सेसिल रोड्स (Cecil Rhodes) जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का संस्थापक है, उसकी साम्राज्यवादी नीतियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। शूमेन (Schuman) लिखता है, "आधुनिक साम्राज्यवाद शक्ति प्राप्त करने तथा विजय-आकांक्षा की एक नवीन अभिव्यक्ति है।" मुसोलिनी के शब्दों में, "फासिस्टवाद राज्य-शक्ति और साम्राज्य प्राप्ति का एक संकल्प है।"

(२) साम्राज्यवाद की उत्पत्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण आर्थिक है। आधुनिक काल में अधिकांश साम्राज्यवादी देश कच्चे माल के लिए पिछड़े देशों पर निर्भर करते हैं। साम्राज्यवादी देशों के बीच प्रतिद्वन्द्विता का प्रमुख कारण कच्चे माल की यह लड़ाई है। शैस्ट (Schacht) के अनुसार—"संसार की राजनीति में कच्चे माल के लिए संघर्ष महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।"

साम्यवाद इस आर्थिक कारण को साम्राज्यवादी आन्दोलन की एक आधार भित्ति मानता है। इसका इतना महत्त्व है कि लेनिन इसे पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था बताता है। लेनिन के शब्दों में, "साम्राज्यवाद विकास की अवस्था में पूँजीवाद की वह स्थिति है जिसमें एकाधिकार एवं राजस्व पूँजी का आधिपत्य स्थापित हो जाता है, जिसमें पूँजी का निर्यात विशेष महत्त्व प्राप्त कर लेता है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों द्वारा संसार का विभाजन प्रारम्भ हो जाता है और संसार की समस्त भूमि का संसार के समस्त पूँजीवादी देश आपस में बँटवारा कर लेते हैं। उसका कहना है कि "व्यक्तिगत पूँजीवाद का विनाश ही हमें साम्राज्यवादी अभिशाप से बचा सकता है।'

अमरीका और इंग्लैण्ड जैसे उद्योग-प्रधान देश अपने यहाँ उत्पादित माल को अन्य देशों में भेजकर तथा अतिरिक्त पूँजी को अविकसित देशों में लगाकर जीवन-यापन करते हैं। उनका जीवन-स्तर उनकी निर्यात-शक्ति पर निर्भर करता है। इंग्लैण्ड को जर्मनी और अमरीका के औद्योगीकरण के कारण ही अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करना पड़ा। वह मिस्र और सूडान पर अपना एकाधिपत्य इसी कारण रखना चाहता था, क्योंकि कच्चा माल उसे वहाँ से प्रचुर मात्रा में मिलता था। अफ्रीका भी साम्राज्यवादी शक्तियों का कच्चे द्रव्य के कारण ही शिकार हुआ। यहाँ से रुई, रबड़, महुआ, नारियल, चीनी और कोको मिलता

था। किन्तु आज साम्राज्यवादी देशों की भूख लोहा, कोयला और पेट्रोल के लिए है। फारस और मैसोपोटामिया के तैल क्षेत्र संसार की राजनीति का केन्द्रबिन्दु बने हुए हैं।

अतिरिक्त पूंजी (Surplus Capital) भी आज की राजनीति में एक विशिष्ट स्थान रखती है। पिछड़े देशों को हड़पने का यह एक अच्छा साधन है। पूंजीपति देश अविकसित देशों को उन्नतिशील बनाने के लिए ऊंचे ब्याज पर पूंजी उधार देते हैं। किन्तु जब ऋणी देश उस ब्याज को चुका नहीं पाता तो पूंजीपति देश उस पर अपना संरक्षण स्थापित कर लेता है। पार्कर मून लिखता है, 'अतीत में यूरोप के पूंजीपति देशों ने अफ्रीका तथा एशिया के अपने ऋणी देशों को हड़प कर लेने की स्पष्ट प्रवृत्ति को प्रकट किया।' आज अमरीका इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। उसकी डालर कूटनीति इसी भावना की द्योतक है। उसकी पिछड़े देशों को आर्थिक सहायता सैन्य-आधिपत्य से कम नहीं है। ये देश उसके सामरिक उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

(३) अतिरिक्त जनसंख्या भी साम्राज्यवाद के विकास का एक प्रमुख कारण रही है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप और एशिया के देशों की जनसंख्या पर्याप्त रूप में बढ़ गई थी। इसी कारण एक गम्भीर प्रश्न इसके बसाने का उठ गया था। जापान का १९४१ तक यही तर्क रहा कि उसे अपनी अतिरिक्त आबादी को बसाने के लिए उपनिवेश चाहिए। इटली ने भी अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को बसाने का एकमात्र यही विकल्प प्रस्तुत किया। बाद में उसने इसे क्रियात्मक रूप भी प्रदान किया। लेकिन अतिरिक्त जनसंख्या के रूप का यह कोई उचित आधार नहीं है।

(४) आधुनिक समय में कूटनीति साम्राज्यवाद का एक प्रमुख कारण है। इंगलैंड ने स्वेज नहर, मिस्र, ईरान और भारत के प्रति जिन कूटनीतिक चालों को अपनाया वे इस कथन का औचित्य सिद्ध करती हैं। जापान और फ्रांस भी इंगलैंड के पद चिन्हों पर चले। किन्तु अमरीका और रूस की साम्राज्यवादी कार्यवाहियां उपर्युक्त देशों से भिन्न हैं। आरम्भ में रूस के नेता केवल प्रजातन्त्रवादी ही नहीं थे अपितु वह साम्राज्यवाद का घोरतम विरोधी था। किन्तु अधिक दिन तक वह इस नीति का परिपालन नहीं कर सका। सन् १९२९ में यह एक पट्टवादी देश हो गया। तत्पश्चात् उसका यह राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद पूर्ण नेतृत्ववाद में परिणत हो गया। रूस की साम्राज्यवादी नीति इस बात की परिचायक है। अतः

प्रमुख एवं पावन उद्देश्य कार्ल मार्क्स के स्वप्न को मूर्तरूप प्रदान करना है। साम्यवाद का प्रचार एवं प्रसार ही उसकी साम्राज्यवादी नीति की आधार-शिला है। फलतः सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की प्रेरक शक्ति रूस है। जब कभी भी रूस की परराष्ट्र-नीति में परिवर्तन होता है उसका प्रभाव समस्त संसार की कम्युनिस्ट पार्टियों की नीतियों पर पड़ता है। इस प्रकार रूस प्रत्येक देश की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति से अवगत ही नहीं रहता, अपितु उसे प्रभावित भी करता है। इन कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा वह अपनी मनोवांछित कार्यों का संपादन कराता है। इस प्रकार वह अन्य देशों के मामलों में हस्तक्षेप भी करता रहता है। वैसे रूस साम्राज्यवाद का विरोध करता है और इस कथन का भी प्रतिवाद करता है कि वह एक साम्राज्यवादी देश है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। आधुनिक रूस और १९१७ के रूस के मानचित्र में एक बड़ा अन्तर है। आज उसकी सीमाएँ परिवर्धित हैं।

अमरीका की साम्राज्यवादी नीति रूस की नीति के सर्वथा विपरीत है। अमरीका सिद्धान्त-विहीन है। उसका कोई आदर्श नहीं है। वह साम्यवाद से भयभीत है। अतः साम्यवाद के प्रचार एवं प्रसार को रोकना ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। इस लक्ष्य के पूर्ति-हेतु वह अनेक सामरिक महत्त्व के स्थानों के निर्माण, अपने मित्रों की खोज और पिछड़े देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करने में प्रयत्नशील है। सीटो (S. E A T O), नाटो (N A T O), मेडो (M E D O) आदि संगठनों की स्थापना हो चुकी है। अनेक देशों से सैन्य संधियाँ करने में वह सफलीभूत हुआ है। वह जन पिछड़े देशों को जहाँ साम्यवाद सरलता से फैल सकता है, आर्थिक सहायता दे रहा है। भारत को पंचवर्षीय योजनाओं के सफलता-हेतु उसे भी आर्थिक सहायता दे रहा है। इस प्रकार अमरीका आज समस्त जगत् पर छा रहा है।

(६) साम्राज्यवाद का एक विशिष्ट कारण धार्मिक एवं मानवहितवादी कारण भी है। १७वीं शताब्दी में धर्म प्रचार का प्रमुख लक्ष्य साम्राज्यवाद की प्रतिष्ठा ही था। इसी कारण से फ्रांस ने स्याम का संयोजन किया। इसका श्रेय अधिकांशतः 'जेसुइट' धर्म प्रचारकों को ही था। लंदन-धर्मप्रचार-समिति का भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार में काफी योगदान था। बर्नार्डशा के मतानुसार, "जब वह (अंग्रेज) अपनी निर्मित मैन्चेस्टर सामग्री के लिए एक नया बाजार चाहता है तब वह एक धर्म-प्रचारक को देशवासियों को ईसामसीह का धार्मिक संदेश पढ़ाने के लिए भेज देता है। देशवासी धर्म प्रचारक को निष्प्राण कर [illegible]

है। वह शस्त्र लेकर ईसाई धर्म के रक्षार्थ दौड़ता है, इसके लिए लड़ता है इसके लिए विजित करता है और बाजार को स्वर्ग के पारितोषिक के रूप में ग्रहण करता है।[1] इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब कि धर्म प्रचारक व्यापारियों और शासकों के अग्रदूत बन कर अन्य देशों में गये।

(६) साम्राज्यवाद की स्थापना में आध्यात्मिक ध्येय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्नत साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने को सभ्य तथा प्रगतिशील समझते हैं और असभ्य जातियों को सभ्य बनाना तथा उनकी रक्षा करना अपना परम पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं। उनका कहना है कि पिछड़ी जातियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर उन्हें अपनी आदर्श सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक व्यवस्था से लाभान्वित कराना एक धर्म है। सेसिल रोडेस कहता था "मेरा यह दावा है कि संसार में सर्वप्रथम प्रजाति हमारी ही है और संसार के जितने भी अधिक भाग में हमारा निवास हो वह उतना ही मानव-जाति के लिए हितप्रद होगा।" किन्तु इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों के कथन में सत्यांश कितना है, अफ्रीका इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आज भी अफ्रीका रोगग्रस्त अशिक्षित और अविकसित बना हुआ है तथा दमनकारी कानूनों का शिकार है। वास्तविकता तो यह है कि इसमें यह जो मानवता के प्रति एक कर्त्तव्य है वह मानवता के प्रति एक गहरा मजाक है। सेवा में शोषण सन्निहित है। इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है जब कि इस अनुचित भावना का प्रकटीकरण हुआ है। साम्राज्यवाद का कोई भी कारण क्यों न रहा हो, किन्तु अब वह असह्य है। साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध उप-निवेशीय जनता बगावत कर रही है। सचमुच साम्राज्यवादी चिराग अब टिमटिमा रहा है।

आधुनिक साम्राज्यवाद का रूप

प्राचीन-काल में जो साम्राज्यवाद का रूप था, उससे नितान्त भिन्न तथा व्यापक रूप आज के साम्राज्यवाद ने अपनाया है। आधुनिक साम्राज्यवाद का आधार प्रायः व्यापार न होकर कूटनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हैं। किन्तु फिर भी विजय तथा अनुयोजना (annexation) का सर्वथा परित्याग नहीं किया गया है। आज साम्राज्यवाद वाणिज्य उद्योग-कम्पनी रेलवे लाइनों, बन्दरगाह, सामरिक महत्त्व के अड्डों, कच्चे माल, तैयार माल के लिए बाजार तथा अतिरिक्त पूँजी के लिए पिछड़े देशों, आदि के रूप में व्याप्त है।

(१) संरक्षित राज्य (Protectorates)—इस पद्धति के अनुसार अधीनस्थ राज्य के वैदेशिक तथा सुरक्षा सम्बन्धी मामले साम्राज्यीय शक्ति के अन्तर्गत होते थे और अन्य प्रकार के मामलों के साथ वित्तीय एवं आन्तरिक प्रशासन-सम्बन्धी मामले भी साम्राज्यवादी देश द्वारा संचालित होते थे। ब्रिटिश साम्राज्य में संरक्षित राज्य सम्राट् के उपनिवेश के समान था। यद्यपि अन्त र्राष्ट्रीय विधान की दृष्टि से दोनों में विभेद है। संरक्षित राज्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण १९१२ से पूर्व मिस्र था जो इंग्लैण्ड द्वारा संरक्षित था।

(२) अर्द्ध संरक्षित राज्य (Semi-protectorates)—मिस्र को १९२२ में इंग्लैण्ड द्वारा जो स्वतंत्रता मिली वह अपूर्ण थी। उसकी दशा एक अर्द्ध-संरक्षित राज्य जैसी थी क्योंकि इंग्लैण्ड का निम्नलिखित बातों पर एकाधिकार बना रहा —

(१) मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के संचालन की सुरक्षा।
(२) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वैदेशिक आक्रमण या हस्तक्षेप से मिस्र की सुरक्षा।
(३) मिस्र में विदेशी हितों एवं अल्प संख्यकों की रक्षा।
(४) सूडान।

इस प्रकार अर्द्ध-संरक्षित राज्य के उदाहरण क्यूबा (Cuba) तथा हैटी (Haiti) थे। अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षित राज्य का उदाहरण अबीसीनिया (Abyssinia) था। १९०६ की संधि द्वारा इंग्लैंड फ्रांस और इटली ने मिलकर अबीसीनिया को अर्द्ध-संरक्षित राज्य बनाया था। किन्तु यह अर्द्ध संरक्षित राज्य न रहकर पूर्णाधिपत्यमय राज्य हो गया। तीनों साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली थी।

(३) प्रभाव क्षेत्र (Spheres of Influence)—आर० एल० ब्यूयल (R. L. Buell) के कथनानुसार प्रभाव-क्षेत्र से अभिप्राय यह है, जो राज्य प्रभाव क्षेत्र प्रतिष्ठित करता है, "उसे ऋण लेने रेलें निकालने, खानों के खोदने अथवा सार्वजनिक निर्माण-कार्य करने के लिए प्राथमिकता या एकाधिकार दे दिया जाता है।" इस प्रकार की रियायतें प्रमुख-सम्पन्न राष्ट्र अनुन्नत देशों से किसी प्रकार प्राप्त कर बैठे थे और अन्ततोगत्वा वह राष्ट्र उनके साम्राज्य का एक अंग हो जाता था। चीन में इस प्रकार की सुविधाएँ रूस और इंग्लैण्ड आदि देशों को प्राप्त थीं। ये देश अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों में रेलें बना सकते थे, खानों का उद्योग कर सकते थे और व्यापार आदि कर सकते थे। ईरान के तैल-कूपों पर

भी ब्रिटेन का एकाधिकार था। इस प्रकार अफ्रीका, एशिया और प्रशान्त महासागर में भी प्रभाव-क्षेत्र स्थापित किये गये।

(४) पट्टेदारी राज्य (Lease holds)—वाणिज्य या सैनिक कारणों से शक्तिहीन तथा पिछड़े राज्य अपने भूभाग को कुछ निर्धारित वर्षों के लिए पट्टे पर रख देते थे। प्रायः यह पट्टा ९९ वर्षों के लिए होता था। वैसे नाम मात्र के लिए प्रभुत्व-शक्ति उसी देश के हाथों में रहती थी जो कि पट्टा देता था। किन्तु वास्तविक शक्ति का उपभोग पट्टाधारी ही करता था। ड्यूगल का कथन है, "एक पट्टा रखना एक अधिमेल के समान था जब तक कि पट्टा समाप्त नहीं हो जाय।" पट्टे रखने के अनेक उदाहरण हैं—१८९८ में चीन ने रूस को मंचूरिया के बन्दरगाह २५ वर्षों के लिए पट्टे पर दिये। जापान ने चीन से पोर्ट आर्थर और डैरेन (Dairen) पट्टे पर लिये, वेई-हाई वाई (Wei-hai Wai) का पट्टा इंगलैण्ड के तथा पनामा का पट्टा अमरीका के अधिकार में था।

(५) आर्थिक नियंत्रण (Financial Control)—अनेक प्रकार की दशाओं में पूँजीपति देश पिछड़े देशों की सरकार के आर्थिक आय व्यय को अपने राजकीय कर्मचारियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रित करते हैं। इस प्रकार का नियंत्रण या तो अनेक राज्यों या एक ही राज्य द्वारा हो सकता है। चीन सरकार की आमदनी के अनेक साधनों पर इंगलैण्ड आदि देशों का एकाधिकार था। कैरीबियन (Caribbean) लिबेरिया (Liberia) और पर्शिया (Persia) पर अमरीका का आर्थिक नियंत्रण है।

(६) कर-नियंत्रण (Tariff Control)—पश्चिमी देश अपने को सामर्थ्यवान करने के हेतु प्रायः पिछड़े राष्ट्रों को विदेशी माल पर निर्धारित चुंगी की दर से अधिक कर न लगाने के लिए विवश करते हैं। इसका केवल एक मात्र उद्देश्य रहता है कि पश्चिमी देश अनुन्नत देशों के बाजारों पर छा जावें और उनके उद्योग-धंधे पनप न सकें। इस प्रकार का नियंत्रण १९११ तक जापान पर रहा था और चीन, टर्की, मोरक्को, स्याम तथा पर्शिया पर भी ऐसा नियंत्रण स्थापित किया गया।

(७) बहुराजकता (Condominium)—इससे अभिप्राय औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्विता को रोकने के लिए दो या अधिक शक्तियों का किसी खास भू-भाग पर नियंत्रण करना है। इस प्रकार के संयुक्त अधिकार के अनेक उदाहरण हैं—

(१) फ्रांस और इंगलैण्ड का न्यू हैब्रीडीज़ (New Hebrides) पर, (२) इंगलैण्ड और मिस्र का सूडान में नील नदी पर, (३) ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन

का मोरक्को में टैंजियर (Tangier) पर, (४) शंघाई के विभिन्न भागों को ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने आपस में विभक्त कर लिया था।

(८) बहिर्देशीयता (Extra-territoriality)—जब किसी अनुन्नत देश में साम्राज्यवादी देशों के निवासी बड़ी संख्या में आ बसते थे, तो वे देश अपने निवासियों के लिए अलग न्यायालयों की माँग करते थे। उनकी दृष्टि में वे पिछड़े देशों के न्यायालय इतनी समता नहीं रखते कि प्रवासियों का न्याय कर सकें। यह प्रणाली अधिकांशतः मुस्लिम राज्यों में अपनायी गयी थी। ईसाइयों ने चीन, स्याम, जापान, कोरिया आदि देशों में इस अधिकार का उपयोग किया था। जब इन देशों ने न्याय करने की पश्चिमी प्रणाली को अपनाया तभी उन देशों से बहिर्देशीयता का अन्त हुआ। इस प्रकार १८९४ में अमरीका ने जापान में और १९४४ में रूस ने चीन में इस अधिकार का परित्याग किया। टर्की ने भी इस प्रकार के सभी अधिकारों का उन्मूलन कर दिया है।

(९) अनियमित नियंत्रण (Informal Control)—कभी-कभी कुछ विदेशी राष्ट्र एक होकर किसी पिछड़े हुए राज्य की सरकार को मान्यता तब तक प्रदान नहीं करते, जब तक कि उनके कूटनीतिज्ञों द्वारा निर्धारित शर्तें पूरी नहीं हो जातीं। अमरीका ने अपनी नौसेना द्वारा निकारागुआ, सैंटोडोमिंगो तथा कैरे-बियन स्थित द्वीपों में इस प्रकार की शर्तों को बलात् मनवाकर अपनी प्रभुता स्थापित की। इंगलैंड ने भी बलपूर्वक अपने परराष्ट्र सम्बन्धी फारस, मेसोपोटामिया और मिस्र में रखे थे।

(१०) मुक्त द्वार की नीति (Open Door Policy)—इस नीति के अनुसार समस्त विदेशी शक्तियों को भी पिछड़े देशों के साथ व्यापार करने के लिए आमन्त्रित रहती है समान सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। किसी भी अन्य देश के साथ किसी भी प्रकार का विभेद नहीं किया जाता। मुक्त-द्वार से अभिप्राय अव-सर की समानता से है। यह अवसर की समानता दोनों अर्थात् साम्राज्यवादी तथा अन्य विदेशी राष्ट्रों को उपलब्ध होती है। विगत शताब्दी में कितने ही युद्ध चीन के साथ केवल इस कारण हुए थे कि उसने मुक्त द्वार की नीति को लागू नहीं किया था।

(११) अवरुद्ध-द्वार नीति (Closed Door Policy)—इसका प्रयोग निःसन्देह मुक्त द्वार नीति के विपरीत होता है। इसका अर्थ प्राथमिकता (Preference), विभेद (Discrimination) और एकाधिकार

(Monopoly) से है। यह केवल उद्योग एवं वाणिज्य-क्षेत्र से ही सम्बन्धित न होकर जहाजरानी (Shipping), विनियोग (Investment) और उपनिवेश (Settlement) से भी है। इसका उद्देश्य आर्थिक बन्धनों को मातृदेश और उपनिवेश के बीच सुदृढ़ करना है तथा विदेशियों को इस प्रकार के लाभ से वंचित रखना है। अमरीका ने फिलिपाइन्स में इसी नीति को ग्रहण किया था। साधारणतः संरक्षण-नीति तीन रूपों में दृष्टिगोचर होती है—(१) आयात-निर्यात कर, (२) जहाजरानी और (३) रियायतें। कुछ देश आयात-निर्यात कर अनुकूलता की नीति अपनाते हैं, जिससे स्वतंत्र उद्योग मातृदेश तथा उपनिवेश के बीच स्थापित हो सके।

(१२) निर्देशित प्रदेश (The Mandated Territory)—प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अनेक उपनिवेश साम्राज्यवादी राष्ट्रों की अधीनता से विमुक्त हुए थे। इन पिछड़े देशों के सम्बन्ध में वर्साई की सन्धि (Treaty of Versailles) में यह निश्चित किया गया कि इनकी प्रशासन-व्यवस्था सभ्य तथा उन्नत विजेता राष्ट्रों को दे देनी चाहिए। वे विजयी देश ही इन अनुन्नत देशों की सुशासन-व्यवस्था के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी होंगे। जब तक वे शासित देश स्वराज्य के योग्य नहीं हो जाते, तब तक इनका प्रशासन इन सभ्य राष्ट्रों के अन्तर्गत ही रहेगा। इस प्रकार इन निर्देशित प्रदेशों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया (१) प्रथम वर्ग के प्रदेशों को शीघ्र ही स्वशासन के योग्य समझा गया, (२) तृतीय को सर्वाधिक अयोग्य समझा गया, और (३) द्वितीय को इन दोनों के बीच में रखा गया। जिन राष्ट्रों को इन प्रदेशों का शासन-प्रबन्ध सौंपा गया उनके लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वे अपने कार्य की वार्षिक रिपोर्ट लीग ऑफ नेशन्स (Leage of Nations) को दिया करें। इस प्रथा के अनुसार (१) इंगलैण्ड को ईराक, फिलिस्तीन, ट्रान्सजोर्डेनिया और टांगनी आदि का शासन (२) फ्रांस के अन्तर्गत सीरिया और लेबनान आदि (३) जापान को उत्तरीय प्रशान्त महासागर स्थित द्वीप-समूह (४) आस्ट्रेलिया को न्यूगिनी (५) न्यूजीलैण्ड को पश्चिमी सैमोआ का शासन दिया गया। इन निर्देशित प्रदेशों का कुल क्षेत्रफल ११,११,४६४ वर्गमील था और कुल जनसंख्या १,९८, ८९ ९१० था।

साम्राज्यवाद का औचित्य

सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि "साम्राज्यवाद आधुनिक

राजनीति की संकीर्णता को विनष्ट करता है और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं विश्व बन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त करता है।' बर्न्स के इस कथन की आज कोई मान्यता नहीं रही है। अधिकांश व्यक्ति बर्न्स के इस दृष्टिकोण से भिन्न विचार रखते हैं। उनके मत में 'साम्राज्यवाद का मूल तत्व शोषण और प्रभुत्व है।'' 'कूटनीति, बल प्रयोग और सैन्यशक्ति साम्राज्यवाद के आवश्यक उपकरण हैं।'' और 'साम्राज्यवाद का मार्ग उसके पीड़ितों के रक्त से अनुरंजित है। अतः एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—क्या साम्राज्यवाद से उपनिवेशीय जनता लाभान्वित होती है? क्या उसकी दशा में कोई सुधार होता है? यदि हम ब्रिटिश साम्राज्य जिस पर कभी सूर्यास्त नहीं होता था, पर विचार करें तो देखेंगे कि उसकी स्थिति बड़ी विचित्र रही है। उसके पीछे कोई सुनियोजित योजना नहीं रही है। वस्तुतः यह कहीं जीर्ण शीर्ण अवस्था में है तो कहीं अत्याचार की पराकाष्ठा को अपनाये रहा है। अधिकांश क्षेत्रों में तो इसका कोई उद्देश्य ही नहीं रहा और बहुत कम भागों में यह किञ्चित् लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यदि अंग्रेजों ने भारत को राजनीतिक एकता, शासन-व्यवस्था शिक्षा तथा अन्य प्रकार के सुधार प्रदान किये हैं तो शोषण, उत्पीड़न और बर्बर कृत्य भी भारतीयों के साथ किये हैं इसकी तुलना में नगण्यप्राय हैं। गांधीजी ने कहा था, "ब्रिटिश भारत में कानून द्वारा प्रतिष्ठित सरकार असंख्य जनों के इस शोषण के लिए चलती है। चाहे कितने ही वाक्छल का प्रयोग किया जाय, चाहे कितने ही आंकड़ों की बाजीगरी दिखाई जाय, किन्तु अनेक गांवों में जो जनता की ठठरियां हैं वे हमारी आंखों के सामने हैं।" सन् १९४० में भारत की ८० प्रतिशत जनता निरक्षर थी। जनता का स्वास्थ्य गिरा हुआ था। भारत की अतुल धनराशि सिविल नौकरियों सेना और पेन्शन प्राप्ति-कर्ताओं पर व्यय होती थी। दरिद्रता भूख और सामाजिक विद्रोह सभी जगह व्याप्त थे। वार्सेस्टर के डीन ने भारत के सम्बन्ध में कहा था, 'हमारे शासन से वस्तुत भारत को बड़ा लाभ पहुंचा है। परस्पर संघर्षशील समुदाय के मध्य एक लम्बे काल तक हमने शान्ति बनाये रखी। हमने रेल-मार्ग का निर्माण किया। हमने अकाल से लड़ाई की, हमने जनता के स्वास्थ्य में सुधार किया हमने उपज में वृद्धि की, हमने भारत की भौतिक आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त कार्य किया। लेकिन हमने भारतीय जनता के दिलों को विजित नहीं किया। क्यों नहीं किया; क्योंकि हमने उनकी आत्मा को आघात पहुंचाया है।" इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद द्वारा राक्षसी प्रवृत्ति, दासता, अन्याय तथा शासन के मद का अफ्रीका तथा अन्य स्थानों में उन्मूलन हुआ है किन्तु साथ ही हम

उन तथ्यों का विस्मरण नहीं कर सकते जो हालैण्ड वासियों द्वारा डच ईस्ट इण्डीज में, श्वेत जातियों द्वारा अफ्रीका और केनिया में तथा बेल्जियम निवासियों द्वारा कांगो में नाना प्रकार के घृणित हथकण्डों को अपना कर मानवता को पददलित किया गया है। आज भी अफ्रीका की त्रस्त जनता जमाखोरों के हाथ का खिलौना बनी हुई है। उनके विशाल भूभाग की स्वामिनी श्वेत जाति है। वहां कोई खेती सम्बन्धी सुधार नहीं हुआ है और कम्पाउण्ड प्रणाली तो बड़ी ही घृणित पद्धति है। ट्रांसवाल और नेटाल में कोई भी व्यक्ति जो वहां का जन्मजात निवासी है, अन्य किसी कार्य को तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसके पास नौकरी सम्बन्धी आदेश पत्र न हो। यही दशा केनिया की रही है। साम्राज्यवादी शक्तियां जोंक के समान हैं, जो चिपटने पर सरलता से नहीं छूटतीं। उनका एकमात्र उद्देश्य येन-केन प्रकारेण उपनिवेशीय जनता के जीवन-तत्व को निकाल लेना है। जब कभी इन उपनिवेशों की उत्पीड़ित जनता ने स्वायत्त शासन की मांग की तो उसे निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया। उनकी संस्कृति तथा भाषा को विकृत कर दिया गया और उनमें शासकों के प्रति आस्था पैदा करने का भरसक प्रयास किया गया। जहां कहीं कुछ छिट-पुट सुधार किये गये वहां भी कार्य-कारिणी प्रभुता-सम्पन्न रही है और उसका कोई उत्तरदायित्व धारासभा के प्रति नहीं रहा है।

इस प्रकार साम्राज्यवाद मानवता के पतन की एक कहानी है। इसकी उत्पत्ति विभिन्न रूपों में हुई, यह खूब पनपा, किन्तु अब यह अपनी मरणासन्न अवस्था में है। इसने शासितों के धर्म, कला, संस्कृति, आचरण और नैतिक आदर्श सभी को कलुषित किया है। प्रजातिगत विद्वेष भी इसी की देन है। साम्राज्यवाद के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जब किसी उपनिवेश को इसने स्वायत्त शासन के योग्य बनाया हो। यह अनुन्नत देशों के लिए निरंकुश अधिनायककारक एवं घातक सिद्ध हुआ है।

क्या साम्राज्यवाद से मातृदेश की जनता को लाभ होता है? क्या यह उसकी भौतिक दशा को उन्नतिशील बनाता है? वस्तुतः ऐसा नहीं है। भौतिक दृष्टि से यह आम जनता को कोई लाभ नहीं पहुंचाता। शोषित-वर्ग इसके लाभों से वंचित रहता है। पूंजीवादी-वर्ग अथवा जो व्यक्ति सरकार के शीर्षस्थ स्थानों पर प्रतिष्ठित हैं वे ही इससे लाभान्वित होते हैं। जिसके सम्मुख प्रतिदिन रोटी की समस्या है ऐसा वर्ग साम्राज्य-स्थापना की कल्पना कैसे कर सकता है? वस्तुतः साम्राज्यवाद पूंजीवादी वर्ग के मस्तिष्क की उपज है और इसी वर्ग का साम्राज्य

वर्ग द्वारा हित-साधन होता है। इसी वर्ग का जीवन-स्तर उच्चतर होता है, न कि जन-साधारण का। लीबिया (Libiya) इसका ज्वलन्त उदाहरण है जिसे वहाँ की आम जनता की हानि पहुँचाकर हस्तगत किया गया है। हॉब्सन लिखता है "सम्पूर्ण राष्ट्र को कोई भी आर्थिक लाभ नहीं होता है। थोड़ा-बहुत जो कुछ लाभ होता है वह पूँजी लगानेवाले और कुछ थोड़े से विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों को ही होता है।" एल० बर्नेस (L. Bernes) का भी यही विचार है, "विशेषतः उपनिवेश साधारणतया कुछ वर्गों को ही लाभ पहुँचाते हैं, वह धन लगानेवाले और सटोरियों को लाभप्रद होता है किन्तु केवल भार करदाताओं को हानि पहुँचाते हैं।" इस प्रकार उपनिवेश से साम्राज्यवादी राष्ट्र की जनता को हानि ही है और लाभ कोई नहीं है। साम्राज्यवाद के प्रतिपादकों की यह धारणा कि साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेश से कच्चा माल प्रचुर मात्रा में प्राप्त करते हैं यह भी सम्पूर्ण नहीं है और न साम्राज्यवाद अतिरिक्त जनसंख्या का ही एकमात्र विकल्प है। इटली और जापान की अतिरिक्त जनसंख्या उपनिवेशों से हल नहीं हुई। इसके अतिरिक्त एक उपनिवेश का साम्राज्यवादी देश के लोगों के जीवन स्तर पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इसके कारण उनकी आत्मा दूषित हो जाती है और नैतिकता का स्तर निम्न हो जाता है। सामान्यतः आज हम देखते हैं कि अंग्रेजों के जीवन-स्तर और उपनिवेशीय जनता के जीवन-स्तर में एक विशिष्ट अन्तर है। श्वेत जाति अपने को उच्च प्रजाति का समझती है और उपनिवेशीय जनता उसकी दृष्टि में निम्न प्रजाति की है। इसी कारण उपनिवेशीय जनता का आचार-विचार ठीक नहीं है और न वह विशेष सुविधाओं के ही योग्य है। इसी संकीर्ण भावना के कारण संघर्ष पैदा होते हैं। इसी अनुचित भावना के वशीभूत रहने के कारण मैकाले भारत की वस्तुस्थिति को नहीं समझ पाये। वे भारत के गौरवपूर्ण इतिहास दर्शनशास्त्र तथा वाङ्मय और संस्कृति का मूल्यांकन नहीं कर पाये। फलतः भारत के सम्बन्ध में जो उनके निष्कर्ष रहे हैं, वे तथ्यहीन एवं अवास्तविक हैं।

साम्राज्यवाद शोषण का प्रतीक है। यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता स्पर्धा तथा प्रतियोगिता की उत्पत्ति करता है। इसके द्वारा नाना प्रकार के संघर्ष होते हैं। ये संघर्ष बहुधा बाजारों कच्चा माल और पूँजी लगाने के लिए स्थानों की खोज के कारण होते हैं। बर्न्स का कथन है कि "आधुनिक विशेषाधिकार प्राप्त देशों में इंग्लैण्ड का साम्राज्याधिकार शान्ति के साथ फैला नहीं जाता।" इस प्रकार साम्राज्यवाद विश्व-शान्ति की स्थापना में सहायक न होकर बाधक है। आज भी

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बड़ी ही तनावपूर्ण है। प्रक्षेपास्त्रों के परीक्षण हो रहे हैं। रूस भी एक प्रबल शक्ति के रूप में प्रकट हुआ है। आंग्ल-अमरीकी गुट के लिए एक चुनौती बन गया है। निःसन्देह उसने पूँजीवादी राष्ट्रों को वैज्ञानिक क्षेत्र में पछाड़ दिया है, वे किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये हैं और उससे सशंक हैं। साम्यवाद इन पूँजीवादी राष्ट्रों के लिए एक संक्रामक रोग हो गया है, जिसका निदान करने में वे असमर्थ हैं। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि आज का युग समाजवादी है और साम्राज्यवादी ढाँचा ढह रहा है। जैसा कि शूमेन कहता है, 'साम्राज्यों के दिन निश्चित हैं, हालांकि उनका पतन अवश्य धीरे-धीरे होगा।' किन्तु एक विचारणीय प्रश्न यह है, क्या रूस साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत नहीं है? क्या यह नवीन साम्राज्यवाद के रूप में प्रकट नहीं हो रहा है? क्या उसका सन् १९१० का मानचित्र अचानक बना हुआ है? किन्तु वास्तविकता तो यह है कि साम्यवाद जिसका रूप रूस में विकृत हो गया है, साम्राज्यवाद का कोई उचित विकल्प नहीं है। केवल वास्तविक समाजवादी भावना ही आज हमारी रक्षा कर सकती है। यही दर्शन हमें साम्राज्यवाद, पूँजीवाद तथा अन्य असमानताओं से बचा सकता है।

Ganshyam Mukund Singh

गांधीवाद (Gandhism)

आचार्य नरेन्द्रदेव का कथन है 'गांधी इस युग के एक अद्वितीय पुरुष थे। वे क्या थे, यह किसी लक्षण से लक्षित नहीं कराया जा सकता न उन्हें किसी विशिष्ट वर्ग में बैठाया जा सकता है। उनके राजनीतिक तत्वज्ञान में एक प्रकार का अराजकतावाद था, क्योंकि राज्य-संस्था में उनको विश्वास नहीं था पर अन्य किसी बात में पश्चिम के अराजकतावादियों के साथ उनका कोई साम्य नहीं था? वे समाजवादी थे पर वैज्ञानिक समाजवाद के मानदण्ड से आँकने पर उनके विचार समाजवाद की मान्यताओं के साथ न विचार में मिलते थे न आचार में ही। सामान्यतः वे धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष माने जाते थे पर न तो उन्हें धार्मिक संस्थाओं पर विश्वास था और न हिन्दू धर्म के आचारों का ही वे पालन करते थे।

'यदि आज से दो शताब्दी पहले उनका जन्म हुआ होता तो या तो वे कोई बहुत बड़े महात्मा और किसी धर्ममत के संस्थापक हुए होते अथवा कल्पना साम्राज्य में विचरनेवाले कोई समाजवादी होते।

विज्ञान-वेत्ता आइंस्टीन ने गांधीजी के सम्बन्ध में कहा है 'कि आगे आनेवाली पीढ़ियाँ शायद ही विश्वास कर सकेंगी कि उन जैसा हाड़-मांस का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।'

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जन्म २ अक्टूबर सन् १८६९ को पोरबन्दर में हुआ था। उनके पिता करमचन्द गांधी राजकोट के दीवान थे। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा राजकोट में हुई। जब गांधी जी हाईस्कूल के छात्र थे तभी उनका विवाह हो गया था। १९ वर्ष की अवस्था में वे कानून पढ़ने इंग्लैण्ड गये। इंग्लैण्ड प्रस्थान करने से पूर्व गांधी जी ने अपनी माता के सम्मुख मदिरा पर स्त्री और मांस सेवन न करने की तीन प्रतिज्ञाएँ लीं।

सन् १८९१ की गर्मियों में गांधी जी इंग्लैण्ड से भारत लौटे। इन्होंने राजकोट और उसके बाद बम्बई में अपनी वकालत की किन्तु दोनों ही स्थानों में वे 'वकालत में नितान्त असफल सिद्ध हुए, क्योंकि बम्बई की अदालत में वह एक छोटे-से मामले में भी एक शब्द तक नहीं बोल सके थे।" सन् १८९३ में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका

गये और वहाँ २० वर्ष रहे। आरम्भ में उनका एकमात्र लक्ष्य धनोपार्जन ही था, किन्तु दक्षिण अफ्रीका की समस्याओं ने उनकी जीवनधारा ही परिवर्तित कर दी। यहीं से उनका राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ। यहीं पर उन्होंने काले कानूनों के विरुद्ध सत्याग्रह-अस्त्र का प्रयोग किया और भारतीयों को निर्भीक बनने, भलाई से बुराई का मुकाबला करने, अन्याय सहन न करने तथा मानवता की रक्षा करने का अमर सन्देश दिया। फलतः दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी सफलीभूत हुए। १९१४ में जनरल स्मट्स से उनका समझौता हुआ। गांधी जी के सम्बन्ध में जनरल स्मट्स ने कहा है, "एक ऐसे व्यक्ति का विरोध करना मेरे भाग्य में बदा था, जिसके लिए उस समय भी मेरे मन में अत्यधिक आदर था। उस समय उनकी युक्तियाँ मेरे लिए बड़ी परेशानी की थीं। गांधी जी की एक नवीन ही कला थी। उनकी पद्धति जान-बूझ कर कानून तोड़ने और अपने अनुयायियों को एक जन-आन्दोलन के रूप में संगठित करने की थी। लेकिन मेरे लिए जिस पर कि कानून और व्यवस्था के संरक्षण का उत्तरदायित्व था, सदा की भाँति सिर-दर्द हो गया कि कानून के भारी दायित्व को निभाऊँ, उस कानून को, जिसे भारी लोकमत का समर्थन नहीं था। अन्त में जब कानून वापस लेना पड़ा तो उसकी बेचैनी भी मुझे सहन करनी पड़ी।" दक्षिण अफ्रीका के कार्यों ने गांधी जी को पर्याप्त लोकप्रिय बना दिया था। उन्होंने भारतीयों के हृदय को विजित कर लिया था। सन् १९१४ में जब गांधी जी भारत आये तो महात्मा कहलाये। सम्भवतः 'महात्मा' की उपाधि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दी थी। गांधी जी ने अपने भारतीय राजनीतिक क्षेत्र के प्रवेश के सम्बन्ध में कहा है, "मुझे सर फीरोजशाह हिमालय जैसे, लोकमान्य समुद्र के समान और गोखले गंगा के तुल्य प्रतीत हुए—इस गंगा में ही मैं नहा सकता था—हिमालय पर तो चढ़ा नहीं जा सकता था और समुद्र में डूब जाने का भय था। गंगा ही की गोद में मैं खेल-कूद सकता था।" इस प्रकार गांधी जी ने अपना राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले को ही बनाया और उदार एवं उग्र दोनों विचारधाराओं को समन्वित कर भारतीय राजनीति को एक नवीन दिशा प्रदान की। उन्होंने चम्पारन के किसानों को, जो नील की खेती करनेवाले गोरों के बर्बर अत्याचारों से पीड़ित थे, मुक्त कराया। अहमदाबाद मिल के मजदूरों की समस्या को सुलझाया और खेड़ा सत्याग्रह का संचालन कर किसानों को लगान की छूट दिलवाने में आंशिक रूप से सफलता प्राप्त की। १९१४ ई० के प्रथम विश्वयुद्ध में गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार की सहायता प्रदान की। उनकी अभी तक ब्रिटिश सरकार में पूर्ण निष्ठा थी। किन्तु रौलेट कानून खिलाफत आन्दोलन

और जलियाँवाले बाग की घटना ने गांधी जी के मानस-पटल को झकझोर दिया। अब उनका ब्रिटेन की ईमानदारी और न्यायप्रियता में विश्वास नहीं रहा। इसी समय गांधी जी के हाथ में कांग्रेस की बागडोर आ गई थी क्योंकि १९२० में लोकमान्य तिलक का भी निधन हो चुका था। वे ही कांग्रेस के अब एकच्छत्र नेता थे। ४ नवम्बर १९२१ को दिल्ली में कांग्रेस महासमिति ने अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के पक्ष में प्रस्ताव पारित कर दिया। गांधी जी ने इस असहयोग आन्दोलन के लिए बारदोली को चुना किन्तु गोरखपुर में चौरीचौरा में हिंसात्मक उपद्रव हो जाने के कारण असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया। गांधी जी को ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार कर लिया और उन्हें ६ वर्ष की सजा मिली। १५ सितम्बर १९२४ को गांधी जी ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के लिए २१ दिन का उपवास किया। कौंसिल में प्रवेश के सम्बन्ध में नेताओं में मतभेद था। चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू और वी० जे० पटेल कौंसिल में प्रवेश कर अड़ंगा नीति को अपनाना चाहते थे। फलतः स्वराज्य-दल की स्थापना हुई। सन् १९३० में गांधी जी ने सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) डांडी-कूच के साथ प्रारम्भ किया। १९३१ में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी ने कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से भाग लिया किन्तु गांधी जी ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों के गठबन्धन के कारण खाली हाथ लौटे। २८ दिसम्बर को बम्बई में गांधी जी ने कहा, "मैं खाली हाथ लौटा हूँ परन्तु मैंने अपने देश की इज्जत पर बट्टा नहीं लगने दिया।" इस समय भारत का राजनैतिक वातावरण बड़ा ही अशान्त था। गांधी जी ने नवागन्तुक वाइसराय लार्ड विलिंग्टन से मिलने की इच्छा प्रकट की किन्तु वे असफल रहे और उन्हें गिरफ्तार कर यरवदा जेल में भेज दिया गया। गांधी जी ने साम्प्रदायिक पंचाट के विरोध में जिससे हिन्दू जाति विघटित होती थी, २० सितम्बर १९३२ को आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया किन्तु सौभाग्य से पूना-समझौता हो गया, जिससे गांधी जी के प्राण बच गये। ८ अगस्त १९४२ को गांधी जी ने भारतीयों को 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा और 'करो या मरो' का संदेश दिया। गांधीजी के नेतृत्व में १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। किन्तु गांधी जी ने भारत-विभाजन को एक 'आध्यात्मिक दुर्घटना' की संज्ञा प्रदान की। वे इस विभाजन से बहुत उदास थे और उन्होंने १५ अगस्त के राष्ट्रीय समारोह में भाग लेने से इन्कार कर दिया था। वे कलकत्ता में साम्प्रदायिक दंगों को रोकने में व्यस्त थे। १५ अगस्त को उन्होंने उपवास रखा और प्रार्थना की। देश के लिए

उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। साम्प्रदायिकता की विनाशक आग गांधी जी की आहुति लेकर शान्त हुई। ३० जनवरी १९४८ को बिड़ला भवन, नई दिल्ली में नाथूराम गोडसे ने पिस्तौल की गोलियों से इस युग-पुरुष की जीवन-लीला समाप्त कर दी। लुई फिशर लिखता है, "आधुनिक इतिहास में किसी व्यक्ति के लिए इतना गहरा और इतना व्यापक शोक आज तक नहीं मनाया गया।' फ्रांस के समाजवादी लियो ब्लम ने कहा 'मैंने गांधी को कभी नहीं देखा। मैं उसकी भाषा नहीं जानता। मैंने उसके देश में कभी पाँव नहीं रखा, परन्तु फिर भी मुझे ऐसा शोक हो रहा है जैसे मैंने अपना कोई निकटजन खो दिया है। इस असाधारण मनुष्य की मृत्यु से सारा संसार शोक में डूब गया है।'

गांधी जी की प्रेरक शक्तियाँ

गीता ने गांधी जी के जीवन को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया। उनकी चिन्तनधारा को परिष्कृत करने का श्रेय गीता को है। सन् १८८९ में गांधी जी ने सर एडविन आर्नल्ड का गीता का अनुवाद पढ़ा था तभी से गीता उनकी पथ प्रदर्शक बनी रही। जब कभी गांधी जी किंकर्तव्य-विमूढ़ हुए, गीता ने ही उन्हें प्रेरणा प्रदान की। गांधी जी के शब्दों में 'जब शंकाएँ मुझे घेर लेती हैं, जब निराशा मेरी ओर झाँकती है और क्षितिज में प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती तब मैं भगवद्गीता का आश्रय लेता हूँ और अपने मनको सन्तोष देने के लिए एक श्लोक पा लेता हूँ और मैं घोर विपत्तियों के बीच मुस्कराने लगता हूँ। मेरा जीवन बाह्य दुर्घटनाओं से परिपूर्ण है और यदि उन्होंने मुझ पर कोई प्रकट चिह्न नहीं छोड़ा है तो यह गीता की ही शिक्षाओं के कारण है।' गीता ने गांधी जी को कर्मयोगी बना दिया। १९२९ में गांधी जी ने लिखा था, "गीता के शब्दार्थ के अनुसार यह कहा जा सकता है कि फल के परित्याग के साथ-साथ युद्ध भी चल सकता है किन्तु चालीस वर्ष तक गीता की शिक्षाओं को अनवरत रूप से अपने जीवन में उतारने के पश्चात् मैंने यह अनुभव किया है कि अहिंसा को अशेष रूप से अंगीकार किये बिना पूर्ण परित्याग असम्भव है।'

गांधी जी का अहिंसा में विश्वास होने का कारण पैतृक था। यद्यपि उनके पिता वैष्णव थे किन्तु उनके परिवार पर जैन साधु बेचरजी का यथेष्ट प्रभाव था। गांधी जी इन्हीं स्वामीजी की कृपा से कानून पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड जा सके थे। इन्हीं स्वामीजी ने इंग्लैण्ड प्रस्थान करने के पूर्व गांधी जी को मदिरा, स्त्री और

मांस का सेवन न करने की तीन प्रतिज्ञाएँ कराई थीं। गांधी जी के जीवन पर बौद्ध धर्म का भी प्रभाव था।

जॉन रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक ने गांधी जी के जीवन पर विशाल एवं व्यापक प्रभाव डाला। उनकी विचारधारा के निर्माण में इसका पर्याप्त योगदान था। यह पुस्तक 'ट्रांसवाल क्रीटिक' नामक पत्र के सम्पादक हेनरी एस पोलक ने गांधी जी को दी थी। गांधी जी ने रस्किन की कोई रचना अभी तक नहीं पढ़ी थी। उन्होंने रात भर इस पुस्तक को पढ़ा था। १९४५ में उन्होंने कहा था, "इस पुस्तक ने मेरी जीवन पूर्ण ही परिवर्तित कर दी।' उनका कथन था कि, "यह पुस्तक रक्त और आँसुओं से लिखी गई है।" गांधी जी ने इस पुस्तक के अनुसार ही जीवनयापन करने का संकल्प ले लिया। उन्होंने इस पुस्तक से तीन बातें ग्रहण कीं —

(१) वह आर्थिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है जिससे सभी लाभान्वित होते हैं।

(२) वकील के काम का वही मूल्य है जो एक नाई के काम का, क्योंकि प्रत्येक को अपने कार्यानुसार अपने जीविकोपार्जन का अधिकार है।

(३) मजदूर का जीवन ही वास्तविक जीवन है।

गांधी जी ने रस्किन की इस पुस्तक का अनुवाद 'सर्वोदय' नाम से किया है।

सन् १९०८ में गांधी जी ट्रान्सवाल जेल में थे। वहाँ पर उन्होंने थोरो (Thoreau) के 'सविनय-अवज्ञा पर निबन्ध' (Essay on Civil Disobedience) को पढ़ा था। इसी आधार पर बहुधा यह कहा जाता है कि सत्याग्रह की कल्पना गांधी जी ने थोरो से ली थी। किन्तु १० सितम्बर १९३५ को भारत-सेवक समिति के श्री कोदण्ड राव को लिखे गये पत्र में गांधी जी ने इस कथन का खण्डन किया था। उन्होंने लिखा था 'यह कथन कि मैंने सविनय अवज्ञा की अपनी कल्पना थोरो की पुस्तक से प्राप्त की मिथ्या है। सविनय अवज्ञा पर थोरो के निबन्ध मेरे हाथ में पड़ने से पूर्व दक्षिण अफ्रीका में सत्ता के विरुद्ध प्रतिरोध बहुत बढ़ चुका था। किन्तु उस समय वह आन्दोलन 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से प्रसिद्ध था। यह शब्द पूर्ण नहीं था अतः मैंने गुजराती पाठकों के लिए 'सत्याग्रह' शब्द की रचना की। जब मैंने थोरो के महान् निबन्ध का शीर्षक देखा तो मैंने अंग्रेजी पाठकों को अपने संघर्ष की व्याख्या करने के हेतु उसका प्रयोग

किया।" गांधी जी ने इसे एक महान् रचना स्वीकार की और कहा था कि, "इसने मुझ पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ा।"

गांधी जी टालस्टाय से भी प्रभावित हुए थे। टालस्टाय से गांधी जी का परिचय टालस्टाय की रचना 'ईश्वर का साम्राज्य आपके अन्दर है' (The kingdom of God is within you) के द्वारा हुआ। गांधी जी का कथन था कि इस पुस्तक ने, "मेरा संशय और नास्तिकता दूर कर दी और अहिंसा ने मुझे पूर्ण विश्वासी बना दिया।" गांधी जी ने टालस्टाय से व्यक्तिगत सम्पर्क एक लम्बा पत्र लिखकर स्थापित किया था। उन्होंने इस पत्र में टालस्टाय को अविनय-अवज्ञा आन्दोलन से परिचित कराया था। टालस्टाय ने गांधी जी के इस पत्र के सम्बन्ध में अपने मित्र चर्ट कॉफ को लिखा था, 'ट्रान्सवाल-हिन्दू के पत्र ने मेरे हृदय को छुआ है।' टालस्टाय ने गांधी जी को उनके पत्र के उत्तर में लिखा "ट्रान्सवाल के हमारे भाइयों तथा सहकर्मियों की भगवान् मदद करें। मैं बन्धुत्व की भावना से आपका अभिवादन करता हूँ और आप से सम्पर्क होने से मुझे हर्ष है।" गांधी जी ने ४ अप्रैल १९१० को एक पत्र के साथ अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' टालस्टाय को भेजी। इस पत्र में गांधी जी ने अपने को टालस्टाय का 'एक विनम्र अनुगामी' स्वीकार किया। टालस्टाय ने इस पत्र के उत्तर में लिखा था "निष्क्रिय प्रतिरोध केवल भारत के लिए नहीं, अपितु समस्त मानवता के लिए सर्वाधिक महत्व का प्रश्न है।" गांधी जी ने स्पष्ट यह अपना अभिमत प्रकट किया था कि "स्वर्गीय रायचन्द के उपरान्त टालस्टाय तीन आधुनिक मानवों में से एक हैं, जिन्होंने मेरे जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव डाला है, और तीसरे रस्किन थे।"

रायचन्द बम्बई के एक उच्चकोटि के समाज-सुधारक थे। इंग्लैण्ड से लौटने के बाद गांधी जी इनके सम्पर्क में आये थे और इन्होंने गांधी जी को बहुत प्रभावित किया था। रायचन्द ने गांधी जी के हृदय में हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के पढ़ने की अभिरुचि पैदा की।

राजनीतिक दर्शन

गांधीवाद—अधिकांश व्यक्ति गांधी जी के विचारों को 'गांधीवाद' की संज्ञा प्रदान करते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। गांधी जी शास्त्रीय अर्थों में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने किसी राजनीतिक दर्शन का शास्त्रीय पद्धति से न तो क्रमोपात और तर्कसंगत निरूपण ही किया है और न इस प्रकार लिखने अथवा कहने की उनकी अपनी पद्धति ही थी। गांधी जी न तो इस प्रकार के सूत्र-बद्ध मंतव्य

को अपने जीवन में कोई महत्त्व ही प्रदान करते थे और न वे अपने को विधिवत शास्त्री का पुरोधा ही समझते थे। वस्तुतः वे तो उच्चकोटि के सुधारक और कर्मयोगी थे। वे अपने को सत्य का साधक मानते थे। इस प्रकार गांधीवाद कोई 'वाद' नहीं है। पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में गांधीवाद "सिद्धान्तों मतों नियमों, विनियमों और आदेशों का समूह नहीं है अपितु यह एक जीवन-शैली है। यह एक नवीन दिशा की ओर इंगित करती है अथवा मानव-जीवन की समस्याओं के विषय में पुरातन दशा का पुनः स्थापन करती है और आधुनिक समस्याओं के लिए प्राचीन साधनों को प्रस्तुत करती है।" आचार्य कृपलानी जो गांधीवाद के आधिकारिक विद्वान हैं, उनका भी यही मत है "गांधीवाद जैसी कोई चीज अभी अस्तित्व में नहीं आई है। इसके अलावा गांधी जी कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हैं। उन्होंने किसी प्रणाली को जन्म नहीं दिया है। शुरू से ही वे व्यवहारी सुधारक रहे हैं। वे सर्वोपरि कर्मप्रधान पुरुष हैं। उनकी अवस्था पुराने जमाने के पैगम्बरों और सुधारकों जैसी है। गांधी जी ने अपनी सम्मतियों के लिए पूर्णता का दावा कभी नहीं किया। वे अपनी प्रवृत्तियों को सत्य की खोज अथवा सत्य के प्रयोग कहते हैं। अतः गांधीवाद जैसी कोई चीज अभी पैदा नहीं हुई, सिर्फ गांधी जी का बताया हुआ मार्ग और दृष्टिकोण है जो न सख्त है, न नियमित और न अन्तिम। यह ब्योरेवार बातें अन्तिम रूप से अथवा हर समय के लिए तय करने की कोशिश नहीं करता, सिर्फ एक दिशा सूचित करता है।" गांधी जी ने स्वयं इस भ्रान्ति का स्पष्टीकरण किया था, "गांधीवाद जैसी कोई वस्तु मेरे मस्तिष्क में नहीं है। मैं कोई सम्प्रदाय प्रवर्तक नहीं तत्त्वज्ञानी होने का मैंने कभी दावा नहीं किया। मेरा यह प्रयास भी नहीं है।" "मैंने किसी नवीन सत्य की खोज नहीं की है, अपितु सत्य को जैसा मैं जानता हूँ तदनुरूप ही चलने का और अन्य लोगों को बताने की चेष्टा करता हूँ। हाँ, कुछ प्राचीन सत्य सिद्धान्तों पर नवीन प्रकाश डालने का दावा करता हूँ।" 'सत्य और अहिंसा इतने पुराने हैं जितने कि पर्वत। मैंने इन दोनों का इतनी विस्तृत सीमा में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है जितना कि मैं कर सकता था। ऐसा करने में मैंने यदा-कदा भूल भी की है और अपनी भूलों से मैंने शिक्षा ग्रहण की है—और, तो मेरा सम्पूर्ण दर्शन, यदि मैं इसे दर्शन की संज्ञा प्रदान करूँ, इस तथ्य में सन्निहित है जो मैंने कहा है। आप इसे 'गांधीवाद' के नाम से नहीं पुकारिये, इसमें कोई 'वाद' नहीं है।"

किन्तु गांधी जी ने गांधी-इरविन समझौते के उपरान्त कराची की एक सार्वजनिक सभा में यह उद्घोषणा की थी कि, "गांधी मर सकता है, किन्तु गांधीवाद

सदा जीवित रहेगा।" इससे यह निष्कर्ष निकालना कि गांधी जी ने 'गांधीवाद' जैसे किसी शास्त्रीय 'वाद' का औचित्य सिद्ध किया था, तर्कसंगत नहीं होगा। पट्टाभि सीतारमैया ने कहा है, "उन्होंने तत्काल गांधीवाद शब्द की रचना की, जो पूर्ण रूपेण उस सिद्धान्त को तत्वतः अभिव्यक्त करता है जो उनके सत्य और अहिंसा के मत में सन्निहित है। गांधी-इर्विन समझौता वस्तुतः सत्य अहिंसा की विजय थी, जैसा कि लुई फिशर ने कहा है, "भारत और इंग्लैंड के बीच सिद्धांत रूप से जो बराबरी का दर्जा कायम हो गया था वह उस व्यावहारिक रियायत से अधिक महत्वपूर्ण था जिसे वह इस अभियुक्त साम्राज्य से ऐंठ सकते थे।" इस प्रकार गांधी जी के साथ किसी 'वाद' विशेष का प्रश्न नहीं उठता। उनके विचारों एवं कार्यों की कोई सुनिश्चित एवं अन्तिम योजना नहीं थी। सत्य और अहिंसा सम्बन्धी उनके प्रयास भी कोई अन्तिम और अपरिवर्तित नहीं थे। आचार्य कृपलानी के शब्दों में, वे स्पष्टतः अंगीकार करते हैं कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में उनका अलग अलग तरह से प्रयोग किया जा सकता है। उनके इस प्रकार के रवैये के कारण ही बहुधा उनके अनुयायी और अन्य लोग दुविधा में पड़ जाते हैं और यह कह सकना प्रायः कठिन हो जाता है कि वे किन्हीं विशेष परिस्थितियों में क्या करेंगे? चूंकि उनका व्यक्तित्व प्रगतिशील एवं विकासमान है, इसीलिए उनके विचारों और कार्यों का आचार-प्रचार अन्तिम तौर पर निश्चित नहीं हो सकता।"

धर्म और राजनीति

गांधी जी ने धर्म और राजनीति में कोई विभेद नहीं किया। उन्होंने राजनीति को आध्यात्मिक रूप देते हुए धर्म में लौकिकता का समावेश किया। उनके राजनीति और धर्म के समन्वय का अर्थ यही है कि प्रत्येक दशा में सत्य को ही ग्रहण करना चाहिए। गांधी जी की दृष्टि में ईश्वर और सत्य दो पर्यायवाची शब्द हैं। 'संसार सत्य की सुदृढ़ नींव पर ठहरा हुआ है। असत्य का अभिप्राय असत् अर्थात् 'न रहना' है और सत्य का अर्थ सत्-माने जिसका अस्तित्व है। जब असत्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है तो उसकी विजय का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। और सत्य का अर्थ ही है वह जिसका अस्तित्व है, इसीलिए वह नष्ट नहीं हो सकता।" अतः गांधी जी सत्य का जीवन के विविध क्षेत्रों में समावेश मानते थे। राजनीति भी इससे अछूती नहीं है। असत्य चाहे जितना ही पुराना हो उसे कितनी ही बहुमान्यता प्राप्त हो और उसका क्षेत्र कितना ही विशद एवं व्यापक हो गया हो, उसके प्रतिकार में कोई झिझक, लज्जा या भय नहीं

होना चाहिए। जिस समय जिस बात के सम्बन्ध में सत्य की प्रतीति हो, उसके लिए सर्वस्व आहुति देनी चाहिए।

गांधी जी का कथन था कि यदि राजनीति में मलिनता है और वह दूषित है तो इसका एक कारण यह भी है कि इसमें ईश्वर से भयभीत होनेवाले सदाचारी, निःस्वार्थ, सच्चे एवं धर्मप्रधान व्यक्ति राजनीति से अलग रहते हैं। राजनीति को विशुद्ध बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें धार्मिक व्यक्तियों का बाहुल्य हो और वे राजनीतिक समस्याओं में अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करें। गांधी जी ने पोलक से कहा था, "जिन धार्मिक व्यक्तियों के सम्पर्क में मैं आया हूँ उनमें से अधिकांशतः छद्मवेश में राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु मैं जिसने राजनीतिज्ञ का छद्मवेश धारण कर रखा है, हृदय से धार्मिक व्यक्ति हूँ।" अतः गांधी जी राजनीतिक विशुद्धता के लिए बाह्य धार्मिक आडम्बर नहीं चाहते थे, अपितु हृदय की पावनता पर बल देते थे। वे राजनीति को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित करना चाहते थे। उन्होंने कहा था, 'यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो इसका केवल यही कारण है कि राजनीति हम सभी को सर्प के घेरे के समान घेरे हुए है और जिससे चाहे कोई कितना ही प्रयास करे बाहर नहीं निकल सकता। मैं उस सर्प से संग्राम करना चाहता हूँ, मैं राजनीति में धर्म का सम्मिलन करने की कोशिश कर रहा हूँ। "मैं जरा भी संकोच के बिना तथा नितान्त विनम्रता से कह सकता हूँ कि जो व्यक्ति यह कहते हैं कि राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, वे नहीं जानते कि धर्म का क्या अर्थ है?" मेरी राजनीति और मेरे सम्पूर्ण कार्यों का स्रोत मेरा धर्म है। मैं तो इतना भी कहूँगा कि धार्मिक व्यक्ति के प्रत्येक कार्य का स्रोत उसका धर्म ही होता है, क्योंकि धर्म का अभिप्राय ईश्वर से सम्बद्ध रहने का है अर्थात् हमारे प्रत्येक श्वास पर भगवान् का नियंत्रण है।' "मुझे विश्व के नश्वर वैभव की चाह नहीं है, मैं तो स्वर्ग के साम्राज्य अर्थात् आध्यात्मिक विमुक्ति के लिए प्रयास कर रहा हूँ। इसलिए मेरी राष्ट्रभक्ति भी अनन्त शान्ति और स्वातंत्र्य के देश की ओर मेरी यात्रा का एक पड़ाव मात्र है। इससे स्पष्ट है कि मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति की कोई सत्ता नहीं है। राजनीति धर्म का साधन मात्र है। धर्मरहित राजनीति मृत्यु का फंदा है, क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।' गांधी जी का प्रत्येक कार्य चाहे उसका सम्बन्ध जीवन के किसी भी क्षेत्र से हो, धार्मिकता से ओत-प्रोत था। प्रत्येक शब्द जो उनके मुखारविन्द से प्रस्फुटित हुआ उसके पीछे धार्मिक चैतन्य एवं धार्मिक जज्बा रहा था। गांधी जी की समस्त राजनीतिक विचारधारा की आधारशिला उनके धार्मिक एवं नैतिक

विश्वास थे। किन्तु उनका धर्म संकुचित और साम्प्रदायिक नहीं था। वह निरप-क्षीन था। यद्यपि उनकी निष्ठा हिन्दूधर्म में थी, लेकिन उनके हिन्दू धर्म का दृष्टि बिन्दु व्यापक एवं उदार था। उनका मत था कि 'मेरा हिन्दू धर्म सर्वव्यापक है। उसमें न तो किसी के प्रति विद्वेष की भावना है और न असमंजस, सभी धर्म एक-दूसरे से मिले-जुले हैं। प्रत्येक धर्म में अनेक विशिष्टताएँ हैं किन्तु एक धर्म अन्य धर्म से बेहतर नहीं है। जो एक धर्म में है वह अन्य धर्म में नहीं है। अतः एक धर्म अन्य धर्म का पूरक है।' गांधी जी की दृष्टि में विश्व के सभी धर्म एक ही सत्य तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग थे। इस प्रकार उनका धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर विराट एवं व्यापक था। उनकी यह धार्मिकता सभी क्षेत्रों में व्याप्त थी। उनका समस्त जीवन धार्मिक भावना से ओत प्रोत था। फिर राजनीतिक क्षेत्र, जिसमें उन्होंने सत्य और अहिंसा के व्यापक प्रयोग किये, किस प्रकार अछूता रह सकता था। फलतः उन्होंने धर्म को लौकिकता और राजनीति को आध्यात्मिकता का रूप प्रदान किया।

अहिंसा

सत्य और अहिंसा गांधी जी की समस्त चिन्तन-धारा की आधारशिला है। ये उनके जीवन-दर्शन में एक सिक्के के दो पहलू हैं जिनका परस्पर सम्बन्ध है और जो एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। गांधीवाद सत्य की साधना का विज्ञान और अहिंसा-सत्य के साक्षात्कार का साधन है। किन्तु गांधी जी ने अहिंसा की अपेक्षा सत्य पर अधिक बल दिया था। वे सत्य के लिए अहिंसा का परित्याग कर सकते थे; किन्तु अहिंसा के लिए सत्य का नहीं। उनका कथन था कि अहिंसा रूपी हीरे की प्राप्ति सत्य की खोज में हुई। उनकी दृष्टि में अहिंसा सभी धर्मों का जीवन-तत्त्व है। अहिंसा का अर्थ अधर्म का आत्मबल से विरोध करना है। यह 'कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है अपितु यह प्रवाह के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावना-प्रधान प्रवृत्ति है।' जब कोई व्यक्ति अहिंसा का वरण करता है तो उससे यह आशा की जाती है कि वह अपने विरोधी द्वारा दी गई समस्त यंत्रणाओं को सहर्ष सहन करेगा और मनसा, वाचा, कर्मणा भी उसका अहित नहीं चाहेगा। उसका हित-चिन्तन ही परम कर्तव्य होगा। अहिंसा का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कोई जीव-जन्तु ही नहीं अपितु हिंसक पशु भी इसकी परिसीमा में आ जाते हैं। गांधी जी के मत में, अहिंसा का सिद्धान्त केवल ऋषियों और सन्तों तक ही परिमित नहीं है, वरन् जनसाधारण के लिए

भी यह आवश्यक है। जिस प्रकार हिंसा पशुओं का जीवन-सिद्धान्त है, उसी प्रकार-अहिंसा हम मानवों का है। गांधी जी ने अहिंसा के तीन प्रकार बताये—(१) अहिंसा का वह उच्चतम रूप जिसे एक शक्तिशाली या बहादुर अपनाता है। अहिंसा में उसकी निष्ठा किसी कष्टकारक आवश्यकता के कारण नहीं होती अपितु उसका आधार नैतिक विचार होते हैं। वीर पुरुष अहिंसा में पूर्ण आस्था रखने के कारण जान-बूझकर हिंसा से बचता है और पूर्ण विश्वास के साथ अहिंसा का प्रयोग करता है। ऐसी अहिंसा केवल राजनीतिक न होकर जीवन के समस्त क्षेत्रों से सम्बन्धित होती है। विश्व की कोई भी शक्ति ऐसी अहिंसा का मुकाबला नहीं कर सकती। गांधी जी इसी अहिंसा को वास्तविक एवं सच्ची अहिंसा मानते थे। (२) दूसरे प्रकार की अहिंसा वह है जिसे नीति के रूप में ग्रहण किया जाता है। ऐसी अहिंसा निर्बलों या असहायों की होती है। जिसमें नैतिक निष्ठा की अपेक्षा दौर्बल्य का समावेश होता है जो हिंसा के प्रयोग को अस्वीकार करता है। यदि सचाई के साथ ऐसी अहिंसा का नीति के रूप में प्रयोग किया जावे तो आंशिक रूप से लक्ष्य की पूर्ति में यह सहायक सिद्ध हो सकती है। किन्तु फिर भी यह प्रभावकारी नहीं होती, जितनी कि शक्ति-सम्पन्न की अहिंसा होती है। इसमें परिस्थितिवशात् हिंसा होने की सम्भावना रहती है। (३) तीसरे प्रकार की अहिंसा भीरु की निष्क्रिय अहिंसा होती है। ऐसा व्यक्ति भीरुता के कारण हिंसा करने का साहस नहीं कर सकता। जिस प्रकार अग्नि और जल एक साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार भीरुता और अहिंसा का भी साथ नहीं हो सकता। भय या आतंक के कारण किसी के सम्मुख नतमस्तक हो जाना अहिंसा नहीं है। यह तो उच्च कोटि की कायरता है। ऐसी अहिंसा से हिंसा कहीं श्रेष्ठतर है। गांधी जी के मत में एक हिंसक के अहिंसक हो जाने की सम्भावना हो सकती है किन्तु एक नपुंसक के नहीं। जो व्यक्ति बर्बर अत्याचारों का सामना अहिंसा के द्वारा नहीं कर सकता उसे हिंसा अपनाकर उनका मुकाबिला करना चाहिए। गांधी जी के शब्दों में, "जब मेरे सम्मुख केवल दो ही विकल्प रह जावेंगे कायरता और हिंसा तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूँगा। इसके बजाय कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे, मैं यह पसन्द करूँगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियार उठाये।"

गांधी जी ने साध्य एवं साधन में कोई भेद नहीं किया। वे साधनों की पवित्रता पर विशेष बल देते थे। उनकी भारतीय राजनीति को यह बहुत बड़ी देन थी। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य के लिए श्रेष्ठ साधन भी होने परमावश्यक हैं।

यदि दूषित साधनों का प्रयोग किया जायगा तो हमारा साध्य भी दूषित हो जायगा। किन्तु तिलक जैसे उग्रवादी नेता साध्य के समक्ष साधन को नगण्य समझते थे। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ आदर्शों की उपलब्धि में हीन साधनों को अपनाने में कोई दोष नहीं था। गांधी जी ने भारतीय एवं पाश्चात्य राजनीतिज्ञों के इस दृष्टिकोण का अनौचित्य सिद्ध किया। वे साध्य एवं साधन में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते थे। उनके मतानुसार, साधन बीज है और साध्य वृक्ष। इसीलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। मैं शैतान की उपासना करके ईश्वर भजन का फल नहीं प्राप्त कर सकता।" अतः गांधी जी ने भारत की स्वतंत्रता के लिए हिंसा, छल-कपट आदि हीन साधनों को अमान्य ठहराया। वे कहते थे कि यदि भारत हिंसक साधनों के द्वारा अपनी स्वतंत्रता प्राप्त भी कर लेता है तो ऐसा स्वराज्य हिंसा विहीन नहीं होगा। ऐसा स्वराज्य भारत तथा विश्व के लिए एक गम्भीर खतरा होगा। इसी कारण गांधी जी अहिंसात्मक उपायों के अवलम्बन पर जोर देते थे। एक बार गांधी जी ने आचार्य नरेन्द्रदेव से कहा था कि यदि समाजवादी हिंसा का परित्याग कर दें तो मैं उनकी पार्टी का सदस्य बन सकता हूँ। इस प्रकार गांधी जी के लिए पवित्र साधनों की बड़ी महत्ता थी। वे साध्य के समान ही पावन एवं श्रेष्ठ थे। उनके लिए साधन साध्य थे और साध्य साधन।

सत्याग्रह एवं साधन

गांधी जी केवल आदर्शवादी नहीं थे, अपितु कर्मयोगी भी थे। उन्होंने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनका परीक्षण भी किया। सत्य और अहिंसा का प्रयोग गांधी जी ने भारत के स्वातंत्र्य-आन्दोलनों में किया था। इन सिद्धान्तों का इतना विशद एवं व्यापक प्रयोग गांधीजी से पूर्व किसी भी विचारक ने नहीं किया था। थोरो, रस्किन और टाल्सटाय आदि ने केवल व्यक्ति को ही अपने अहिंसात्मक सिद्धान्तों का आधार माना था, किन्तु गांधी जी ने व्यक्ति के साथ-साथ जातियों को भी अपना आधार बनाया। उन्होंने अपने परीक्षण केवल व्यक्ति तक ही परिमित न करके उन्हें सामूहिक रूप प्रदान किया। सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्ति ही नहीं अपना सकता, प्रत्युत उससे निर्मित जातियाँ, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र भी अपना सकता है। सत्य और अहिंसा को जीवन के आधारभूत सिद्धान्त मानकर उनका राजनीतिक क्षेत्र में इतना बड़ा प्रयोग गांधी जी की बहुत बड़ी मौलिकता थी। उन्होंने अहिंसा को व्यक्तिगत की अपेक्षा सार्वजनिक बनाया और यह सिद्ध किया कि अहिंसा राष्ट्रीय क्रान्तियाँ करने में भी समर्थ है।

सत्याग्रह

गांधी जी का 'सत्याग्रह' शब्द प्रेम विश्वास और त्याग का द्योतक था। यह एक सक्रिय दर्शन था। इसमें क्रोध, घृणा और असत्य के लिए कोई स्थान नहीं था। यह एक ऐसी कला थी जिस में शारीरिक बल का आत्मबल से विरोध करना होता था। यह सत्याग्रहियों में अनुशासन और आत्म-विश्वास की उच्चतर भावना को जागृत करती थी और उनमें यह भावना बनी रहती थी कि स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने से व्यक्तित्व निखरता है। सत्याग्रही "अपने विरोधी के सम्मुख अपना आध्यात्मिक व्यक्तित्व स्थापित करता है और उसके हृदय में इस भावना को जागृत करता है कि वह बिना अपने व्यक्तित्व को हानि पहुँचाये उसे हानि नहीं पहुँचा सकता। इस प्रकार सत्याग्रह के कार्य का अन्तिम विश्लेषण 'आत्मानुभूति और संयोग' की कला प्राप्त कर जाने बढ़ता है। सत्याग्रह या आत्म-शक्ति या प्रेम-शक्ति जैसी कि गांधी जी ने इसे संज्ञा प्रदान की है उस सिक्के के समान है जिसके एक ओर हम प्रेम और दूसरी ओर सत्य पढ़ते हैं।"[1] सत्याग्रही अपने विरोधी की कमजोरियों से लाभ उठाने की कभी कोशिश नहीं करता। वह शत्रु की आपत्ति के समय सहायता करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता है। गांधी जी सत्याग्रहियों से कहा करते थे, 'वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी बनें, ब्रिटिश जाति के नहीं।" इस प्रकार गांधी जी के सत्याग्रह-दर्शन में एक सत्याग्रही के लिए पाप से घृणा करना था, न कि पापी से। सत्याग्रह में भीरुता एवं दुर्बलता के लिए कोई स्थान नहीं था। उनका कहना था कि यदि हम अपनी स्त्रियों तथा धार्मिक स्थानों की रक्षा अहिंसा द्वारा नहीं कर सकते तो हमें लड़कर उनकी रक्षा करनी चाहिए। उनकी दृष्टि में हिंसा कायरता से श्रेष्ठतर थी।

गांधी जी के सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में पर्याप्त भिन्नता थी। सत्याग्रह एक नैतिक शक्ति थी जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध उपयुक्ति का एक राजनीतिक अस्त्र। सत्याग्रह शक्तिसम्पन्न का अस्त्र था और निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बल का। सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध की अपेक्षा आन्तरिक शक्ति पर बल देता था और उसे विकसित करता था। यह अन्याय और निरंकुशता के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली विरोध प्रस्तुत कर सकता था। सत्याग्रही दुष्कृत्य से घृणा करता था किन्तु दुष्कृत्य करनेवाले से प्रेम करता था जब कि निष्क्रिय प्रतिरोधी में प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं था। सत्याग्रही का लक्ष्य दुर्गुण को सद्गुण से घृणा को प्रेम से असत्य को सत्य से और हिंसा को अहिंसा से विजित करना था।

गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह का प्रयोग असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, हिजरत, उपवास और हड़ताल के रूप में हो सकता था। असहयोग का अर्थ एक अन्यायपूर्ण प्रणाली से सहयोग न करना था। इसके सम्मुख एक निरंकुश तथा अन्यायकारी शासक अधिक दिन नहीं टिक सकता। सविनय अवज्ञा आन्दोलन सर्वाधिक भयंकर था और असहयोग की अन्तिम सीढ़ी थी। इसके द्वारा अनैतिक नियमों को अहिंसात्मक पद्धति से तोड़ना था। गांधी जी का मत था कि ऐसे आन्दोलन उच्च सिद्धान्तों पर आधारित होने चाहिए न कि लालच, घृणा और शत्रुता पर। हिजरत से उनका अभिप्राय स्थायी निवास स्थान से हटकर अन्यत्र कहीं बस जाने से था। गांधी जी ने उन व्यक्तियों को, जो आतंकपूर्ण स्थानों में रह रहे थे, अन्यत्र कहीं चले जाने की सलाह दी। उन्होंने १९२८ में बारदोली, १९३९ में लिम्बड़ी, जूनागढ़ और विठ्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को ऐसा ही परामर्श दिया। १९३५ में कैथा के हरिजनों को भी, जो सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों से उत्पीड़ित थे, गांधी जी ने ऐसा ही कहा था। उन्होंने उपवास को अग्नि-बाण की संज्ञा प्रदान की और इसे एक वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। गांधी जी ने श्रमिकों के हड़ताल रूपी अस्त्र का समर्थन किया। किन्तु हड़ताल अहिंसात्मक होनी चाहिए और उसका लक्ष्य उद्योगों पर एकाधिकार करना नहीं होना चाहिए।

गांधी जी ने विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के सम्बन्ध में दो युक्तियों की ओर संकेत किया था। उनका कथन था कि जिस व्यक्ति और समाज ने अहिंसा को ग्रहण कर लिया है वह कभी भी बाह्य आक्रमण की चिन्ता नहीं करता। उसमें आत्म विश्वास होता है कि कोई भी शक्ति उसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकती। विदेशी आक्रमण होने पर उसके लिए दो उपाय हैं—प्रथम आधिपत्य दे देना किन्तु आक्रमक के साथ असहयोग करना। उदाहरणार्थ यदि भारत पर नाजी हमला हो तो ऐसी दशा में आक्रमणकारी को प्रान्तीय प्रवेश कर लेने देंगे, किन्तु उनसे कह दिया जायेगा कि जनता किसी भी प्रकार का उनके साथ सहयोग नहीं करेगी। द्वितीय, जनता जिसे अहिंसात्मक प्रशिक्षण मिला है, अहिंसात्मक प्रतिरोध करेगी। वह निःशस्त्र अपने आपको आक्रमणकारी की तोपों के लिए भोज्य पदार्थ के रूप में प्रस्तुत करेगी। दोनों स्थितियों में एक भाव है कि आक्रमणकारी जब इस अनन्त पंक्तिबद्ध जन-समूह के रक्त को देखेगा, जो आत्मसमर्पण की अपेक्षा अपनी आहुति देना श्रेयस्कर समझता है, तो वह तथा उसके सैनिकों का हृदय भी द्रवित हो जायेगा।

६ साम्पत्तिक विचार एवं संरक्षण सिद्धान्त

गांधी जी का स्वतंत्रता से अभिप्राय तीन प्रकार की स्वतंत्रता से था—राजनीतिक, आर्थिक एवं नैतिक स्वतंत्रता। वे केवल राजनीतिक स्वतंत्रता को ही जन-कल्याण के लिए पर्याप्त नहीं समझते थे। राजनीतिक स्वातंत्र्य के साथ-साथ आर्थिक स्वातंत्र्य भी परमावश्यक है। वे एक ओर कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों में पूँजी का केन्द्रीयकरण और दूसरी ओर असंख्य लोगों के बेरोजगार होने को एक महान् सामाजिक अपराध मानते थे। अतः उनके मत में 'जिन चन्द पूँजीपतियों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिकांश भाग इकट्ठा हो गया है, उन्हें नीचे उतरना चाहिए, और जो करोड़ों भूखे-नंगे हैं, उनकी स्थिति उन्नतर होनी चाहिए। जब तक धनी और निर्धन के मध्य यह चौड़ी खाई रहेगी, तब तक अहिंसक राज्य-पद्धति नितान्त असम्भव है। यदि सम्पत्ति का और सम्पत्ति से होनेवाली सत्ता का सहर्ष परित्याग नहीं किया जायेगा और सार्वजनिक कल्याण हेतु उसका विभाजन नहीं होगा तो हिंसक क्रान्ति और रक्तपात अवश्यम्भावी है।' वे कहते थे कि सम्पत्ति का उपभोग उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार हवा और पानी का होता है। इस पर किसी वर्ग-विशेष का एकाधिपत्य नहीं होना चाहिए। किन्तु साम्पत्तिक परित्याग गांधी जी अहिंसात्मक साधनों द्वारा करना चाहते थे। उनका कहना था कि यदि पूँजीपति अपनी सम्पत्ति का अभी परित्याग नहीं कर सकता है तो उसे अपने साम्पत्तिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिए। उसे अपने को सम्पत्ति का स्वामी न समझ कर उसका संरक्षक (Trustee) समझना चाहिए और समाजिक दृष्टिबिन्दु से उसका उपभोग करना चाहिए। यदि पूँजीपति और जमीन्दार अपने को श्रमिक एवं कृषक का संरक्षक समझ लें तो फिर वर्ग-संघर्ष के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा। वर्ग संघर्ष का स्थान वर्ग-समन्वय और वर्ग-एकता ले लेगी, जो वर्ग-विहीन जनतन्त्र के लिए प्रथम पग होगा। ऐसे समाज में किसी-न-किसी रूप में सभी शारीरिक श्रम करेंगे और कोई शोषक नहीं होगा। पूँजीपति और जमींदार अपने विवेक और पूँजी का उपयोग समाज हित के लिए करेंगे और उन्हें भी अपने योगदान के अनुरूप ही समुचित पारिश्रमिक मिलेगा। यदि वे संरक्षक की हैसियत से काम करना पसन्द नहीं करेंगे, तो उनके विरुद्ध असहयोग की नीति को अपनाना होगा।

गांधी जी ने जिस संरक्षण सिद्धान्त (Theory of trusteeship) का प्रतिपादन किया है, वह उनकी कोई मौलिक देन नहीं है। उनसे पहले भी विलियम गोडविन (William Godwin) ने अपनी 'पोलिटिकल जस्टिस'

नामक पुस्तक में इसका उल्लेख किया था। उसने लिखा था "समस्त धार्मिक-सदाचारों का एक ही आधार है और वह है धन के सम्बन्ध में किया गया न्याय। अतः सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने सम्पत्ति-सम्पन्न शिष्यों से कहा है कि उन्हें यह समझना चाहिए कि जो धन उनके पास है उसके वे संरक्षक हैं, उसमें व्यय के एक-एक पैसे का दायित्व उन पर है। उनका काम केवल व्यवस्था करना है, किसी भी दशा में वे उसके स्वामी या प्रभु नहीं हैं।" संक्षेप में गांधी जी का संरक्षण-सिद्धान्त इस प्रकार है—(१) संरक्षण आधुनिक पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को साम्य-व्यवस्था में परिवर्तित करने का साधन प्रदान करता है। यह पूँजीवाद को कोई आश्रय नहीं देता, किन्तु यह वर्तमान पूँजीवादी वर्ग को अपने को सुधारने का एक सुअवसर प्रदान करता है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानव प्रकृति से सद्गुणी है।

(२) यह सम्पत्ति के किसी भी निजी स्वामित्व के स्वत्व को अंगीकार नहीं करता, अतिरिक्त इसके कि जहाँ तक समाज इसे अपने निजी कल्याण के लिए आदेश देता है। (३) यह स्वामित्व के विधिवत् संचालन का निषेध नहीं करता। (४) इस प्रकार राज्य द्वारा संचालित संरक्षण में एक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को स्वार्थी परितोष के लिए या समाज-हित की उपेक्षा कर के प्रयोग करने अथवा रखने में स्वच्छन्द नहीं होगा (५) क्योंकि व्यक्तियों के न्यूनतम वेतन को निर्धारित करने का प्रस्ताव किया जा रहा है। अतः लोगों की अधिकतम आमदनी की भी, जो समाज में किसी व्यक्ति को दी जाती है, एक परिसीमा निश्चित कर देनी चाहिए। न्यूनतम और अधिकतम आमदनी का विभेद उचित और न्याय्य होना चाहिए और समय-समय पर परिवर्तित होते रहना चाहिए, जिससे इसकी प्रवृत्ति इस विभेद के उन्मूलन की ओर हो जाय। (६) गांधी जी की आर्थिक व्यवस्था में उत्पत्ति की मात्रा को समाज की आवश्यकताएँ निश्चित करेंगी न कि व्यक्तिगत आकांक्षाएँ और प्रलोभन।

गांधी जी कहते थे कि यदि पूँजीपति संरक्षक का कार्य करने में असफल सिद्ध होंगे तो उनके उद्योगों का राजकीयकरण कर दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में इन उद्योगों में काम लाभ की दृष्टि से न होकर मानवता के हित की दृष्टि से होगा। सरकार के साथ-साथ श्रमिकों को भी इन उद्योगों की व्यवस्था में सम्मिलित किया जाएगा। किन्तु गांधी जी आर्थिक केन्द्रीयकरण को जनतंत्र के लिए अभिशाप समझते थे। केन्द्रित उद्योग और अहिंसा साथ-साथ नहीं चल सकते। उनके

मतानुसार 'जनतंत्र सत्ताधारी शासकों द्वारा विकसित नहीं हो सकता। लोकतंत्र की भावना बाहर से नहीं थोपी जा सकती वह तो भीतर से आती है।' वे उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण के पक्षपाती थे। बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना से जनता स्वतन्त्र और स्वावलम्बी नहीं बन सकती। इसके अतिरिक्त मशीनें श्रम की इतनी बचत कर डालती हैं कि असंख्य लोगों को भूखों मरना पड़ता है और शरीर ढकने के लिए कपड़ा भी उपलब्ध नहीं होता। इस यंत्रीकरण के कारण आज पूँजी कुछ व्यक्तियों के हाथों में एकत्र हो गई है और वे शोषण कर रहे हैं। ये मशीनें 'साँप के बिल हैं जिनके अन्दर एक नहीं, सैकड़ों साँप रहते हैं। एक के बाद दूसरा निकलता ही आता है।" अतएव वे भारत के औद्योगीकरण के विरोधी थे और इसके स्थान पर वे कुटीर उद्योग-धन्धों को महत्त्व देते थे। गांधी जी राज्यीय हिंसा से व्यक्तिगत हिंसा को बेहतर समझते थे, क्योंकि "यदि राज्य पूँजीवाद का हिंसा से उन्मूलन करता है तो वह स्वयं हिंसा के चक्कर में फँस जायेगा । और किसी समय में भी अहिंसा को विकसित नहीं कर सकेगा। राज्य एक केन्द्रित और संगठित अवस्था में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के आत्मा होती है, किन्तु राज्य एक आत्मा विहीन यंत्र है। इसलिए मैं संरक्षण के सिद्धान्त को पसन्द करता हूँ।"

राज्य और उसका कार्य क्षेत्र

गांधीजी ने भावी अहिंसात्मक राज्य की रूप-रेखा का कोई स्पष्ट चित्रण नहीं किया क्योंकि वे भविष्य की अपेक्षा वर्तमान समस्याओं पर अधिक विचार करते थे। वे भविष्य के सम्बन्ध में किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन करना भी अवैज्ञानिक समझते थे। वे कहते थे जब भारत का निर्माण अहिंसात्मक पद्धति से हो जायेगा तो इसका रूप निःसन्देह आधुनिक सामाजिक दृष्टि से सर्वथा भिन्न होगा। किन्तु उसके रूप का पूर्ण चित्रण करना अभी सम्भव नहीं है।

गांधी जी एक दार्शनिक अराजकतावादी थे। उन्होंने राज्य का नैतिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अनौचित्य सिद्ध किया, और राज्य को दबाव डालने की प्रवृत्ति को नैतिक दृष्टि से घातक बतलाया। उनके मत में वही कार्य नैतिक हो सकता है जो स्वेच्छा से किया गया हो। यदि हम कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर किसी कार्य को करते हैं तो वह नैतिक कृत्य है। राज्य का चाहे जनवादी रूप ही क्यों न हो, वह हिंसा पर आधारित है। ऐसी हिंसा शोषण की जननी है। राज्य सामूहिक एवं संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। वह आत्मा

विहीन संघ है। इसका जन्म हिंसा से हुआ है, और इससे पृथक् होना कदापि सम्भव नहीं है। गांधी जी के विचार से आदर्श सामाजिक व्यवस्था राज्य-विहीन जनतंत्र है। "ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक है। वह अपना शासन इस प्रकार करता है कि अपने पड़ोसी के मार्ग में कभी अवरोधक नहीं होता। अतः आदर्श राज्य में कोई भी राजनीतिक शक्ति नहीं होगी, क्योंकि वह कोई राज्य ही नहीं है।' ऐसी आदर्श समाज-व्यवस्था में ग्राम संघ तथा ग्राम-समाज दोनों का संगठन ऐच्छिक आधार पर होगा और राज्य-सत्ता विकेन्द्रित होगी। गांधी जी ने यह स्वीकार किया था कि एक वर्ग एवं राज्य-विहीन समाज की प्राप्ति कभी भी सम्भव नहीं होगी क्योंकि एक सरकार पूर्णत अहिंसात्मक होने में सफलीभूत नहीं हो सकती। इसका प्रमुख कारण उसका सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करना है। फिर भी, मैं एक अहिंसात्मक समाज की परिकल्पना करता हूँ और उसके लिए प्रयत्नशील हूँ।

गांधी जी हीगेल की भांति राज्य को एक साध्य नहीं मानते थे, अपितु उनकी दृष्टि में वह अधिकतम कल्याण का एक साधन मात्र था। वे बहुलवादियों और अराजकतावादियों की भांति निरंकुश प्रभुत्व-सिद्धान्त (Absolute sovereignty) का खण्डन करते थे। किन्तु उनका विश्वास व्यक्ति के प्रभुत्व सिद्धान्त में था जो विशुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित है। गांधी जी ने व्यक्तियों को राज्य के नियमों का विरोध करने-का भी अधिकार प्रदान किया था, किन्तु वह विरोध अहिंसात्मक साधनों द्वारा ही होना चाहिए। उन्होंने राज्य के नियमों का परिपालन करने को उसी सीमा तक कहा, जहाँ तक कि वे उचित एवं न्यायसंगत हों। इस प्रकार गांधी जी ने अहिंसात्मक साधनों द्वारा राज्य के नियमों के विरुद्ध व्यक्तियों को अधिकार दिया। वे राज्य के कार्य-क्षेत्र को भी परिमित करने के पक्ष में थे। उनके स्वराज्य का अर्थ, 'शासन के नियंत्रण से स्वतंत्र होने के लिए अनवरत प्रयत्न" करना था। वे कहते थे कि राज्य के अधिकांश कार्य ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पादित होने चाहिए। किन्तु गांधी जी कुछ विषयों में राजनीतिक सत्ता को आवश्यक भी समझते थे और कुछ में बिल्कुल नहीं। वे थोरो के इस कथन से सहमत थे "वह सरकार सर्वोत्तम है जो न्यूनतम शासन करती है।" किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि राजनीतिक सत्ता विकेन्द्रित हो और निम्नतम इकाई पूर्ण रूपेण स्वायत्तशासी हो। इसी कारण गांधी जी ग्रामों की आत्मनिर्भरता और उनके स्वावलम्बी होने पर विशेष बल देते थे।

गांधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना

कभी-कभी यह समझा जाता है कि गांधी और मार्क्स के विचारों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं था। दोनों के सम्मुख एक ही समस्या थी— दोनों के दिल में मानव-वंश के करोड़ों नंगे-भूखे दलित-शोषित, साधनहीन ज्ञानहीन, मवेशी और जंगल के जानवरों की तरह हंकाने या मारे जानेवाले बेजबान लोगों के प्रति गहरी सहानुभूति और चिन्ता थी।"[1] दोनों ही अराजकतावादी थे और व्यक्तिगत सम्पत्ति के विषय में दोनों के विचारों में साम्य था। दोनों व्यक्तिगत श्रम को ही महत्व देते थे, किन्तु यदि दोनों में कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर था तो वह साधन का था। यदि हिंसा को मार्क्सवाद से निकाल दें तो फिर दोनों में कोई विभिन्नता नहीं रह जाती। मशरूवाला के शब्दों में 'अक्सर यह कहा जाता है कि साम्यवाद से हिंसा को हटा दिया जाय, तो गांधीवाद और साम्यवाद एक ही चीज है; या गांधी जी अहिंसक साम्यवादी थे; या गांधी जी और साम्यवादियों के बीच साध्य का कोई फर्क नहीं, केवल साधन का ही फर्क है। साधन यानी शुद्ध सत्य और अहिंसा पर ही गांधीजी का जोर था। अगर साम्यवाद इस शर्त को मंजूर कर ले तो गांधीवाद और साम्यवाद एक ही चीज हो जाते हैं। किन्तु यह तुलना निकम्मी-सी बन जाती है। यह तुलना उतनी ही बेकार है जितना यह कहना कि लाल के मानी नीलेपन और पीलेपन से रहित—हरा रंग या कीड़े के मानी बगैर जहर का साँप। "गांधी जी और मार्क्स लाल और हरे रंग की तरह भिन्न हैं। हाँ, एक ऐसा आँख का रोग होता है जिसकी वजह से रोगी लाल और हरे का फर्क नहीं देख सकता, और दोनों को एक ही काले से रंग का पदार्थ समझता है। परन्तु लाल और हरे में जितनी समानता है, उससे ज्यादा समानता गांधी और मार्क्स में नहीं है।" विनोबा के मतानुसार, "दोनों विचार-धाराएँ बेमेल हैं, उनका अन्तर मूलभूत है। और दोनों एक-दूसरे की कट्टर विरोधी हैं।' के सन्तानम् ने मार्क्सवाद और गांधीवाद की तुलना इस प्रकार की है, पहला बहिर्मुखी है और दूसरा अन्तर्मुखी। एक भौतिकवादी है और दूसरा आदर्शवादी। गांधीवाद मूलतः धार्मिक है। दोनों की सभी विभिन्नताओं को एक शब्द में कहा जाय तो समाजवाद को 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' और गांधीवाद को क्रियाशील आदर्शवाद' कहा जा सकता है।

(१) गांधीवाद और मार्क्सवाद के मध्य आधारभूत विभेद दोनों के जीवन और जगत को देखने की दृष्टि में है। इसी विभेद के कारण ही साध्य या साधन,

१ किशोरीलाल मशरूवाला

राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक आदि में भी अन्तर दिखाई देता है। इस विभेद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि यह जड़ चेतन से परिपूर्ण जगत् वस्तुतः है क्या वस्तु ? इसके मूल में एक तत्त्व है या दो, अथवा अनेक चेतन से जड़ की उत्पत्ति हुई अथवा जड़ से चेतन की। गांधी जी और मार्क्स दोनों ही इस जगत् के मूल में एक ही तत्त्व मानते थे, किन्तु वह कौन-सा तत्त्व है- चेतन या जड़ यही एक विवादास्पद प्रश्न है। गांधी जी उस मूल तत्त्व को चेतन मानते थे। यह जड़ सृष्टि भी चैतन्य का परिणाम है और उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसे किसी भी संज्ञा से पुकारिये चाहे सत्य, परमात्मा, ब्रह्म, कुछ भी कहो, यही एक मूलभूत चैतन्य वस्तु है इसी के अनुसार सम्पूर्ण जगत् का संचालन होता है। इसमें आस्था रखे बिना जीवन का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता। जिनका इसमें विश्वास नहीं है वे समुद्र से अलग जा पड़ने वाली उस बूँद की भाँति हैं जो विनष्ट हो कर रहती है।

किन्तु मार्क्सवाद की आधारशिला द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्स की दृष्टि में जो जगत् के मूल में तत्त्व है वह जड़ है, न कि चेतन। जड़ में ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है और उसी के आधार पर उसका अस्तित्व रहता है। चैतन्य के नष्ट होने पर जड़ प्रकृति शेष रह जाती है तथा परिवर्तित होती दृष्टिगोचर होती है। 'मार्क्सवादी दर्शन जड़ और चेतन की पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता—द्वैतवाद नहीं मानता वह बतलाता है कि आदिम अवस्था से जब जड़ पदार्थ का जो रूपान्तर हुआ है उसके क्रम से ही अवस्था विशेष में चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् चेतना विकासमान पदार्थ का एक गुण है। दूसरे शब्दों में हम मार्क्सवादी दर्शन को पदार्थवादी अद्वैतवाद कह सकते हैं।'[1] इस प्रकार गांधीवाद अन्ततः अध्यात्मवादी है जब कि मार्क्सवाद अन्ततः भौतिकवादी।

(४) गांधीवाद और मार्क्सवाद में जो एक बहुत बड़ा अन्तर है वह वर्ग-संघर्ष-सम्बन्धी धारणा का है। "मार्क्स की विचारधारा के अनुसार वर्ग विग्रह और मजदूरों की तानाशाही के जरिये वर्गों का अन्त कर देने का सिद्धान्त तथा जमीन खान वगैरह जैसी कुदरत की उत्पादन-सामग्रियों पर अधिकार, राष्ट्रीय पूँजीवाद उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और जनता के जीवन और कामों पर सम्पूर्ण अंकुश यह सब आवश्यक होता है। दूसरी ओर गांधी जी के सिद्धान्त हैं। स्वधर्म (वर्गों को कर्तव्य रूप मान कर उनका अनुशीलन) सत्याग्रह, पंच, विकेन्द्रीय

---

१ आचार्य नरेन्द्रदेव

करण, ट्रस्टीशिप और सामाजिक जीवन में भरसक व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा लोकशाही की स्थापना।" गांधीवाद वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा वर्ग-सामंजस्य या वर्ग सहयोग में विश्वास करता है। वह स्थायी रूप से समाज को दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभक्त नहीं मानता। इसके अतिरिक्त गांधी जी अपने रामराज्य में भिखारी और राजा दोनों को रखना चाहते थे। उनके शब्दों में "मैं जिस रामराज्य का स्वप्न देखता हूँ उसमें राजाओं और भिखारियों—दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे।" वे पूँजीपति और श्रमिक-वर्ग में वर्ग-सामंजस्य की बात करते थे। वे कहा करते थे, "पूँजीपतियों और श्रमिकों को एक-दूसरे का पूरक बन जाना चाहिए। उन्हें एक ऐसे विशाल परिवार के समान होना चाहिए जिसमें वे एकता और सामंजस्य के साथ रह सकें।" वे शोषण की प्रक्रिया का उन्मूलन करना चाहते थे और एक ऐसे युग की परिकल्पना करते थे जब पूँजीपति निर्धन का शोषण स्वेच्छा से बन्द कर देगा और शोषण द्वारा धनी बनने को घृणास्पद कृत्य समझेगा। इसी प्रकार गरीब की पूँजीपति के प्रति घृणा भी स्नेह में परिणत हो जायेगी। इस प्रकार गांधीजी दोनों वर्गों में ऐक्य सहयोग और प्रेम चाहते थे न कि वर्ग संघर्ष। वे पूँजीपति की अपेक्षा पूँजीवाद का उन्मूलन चाहते थे।

वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद का एक प्रमुख अंग है। मार्क्स ने कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो में लिखा है, "मानव जाति का इतिहास श्रेणी-संघर्ष का इतिहास है।" आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में "अबतक समाज में जो प्रगति हुई है, प्रगति की एक मंजिल से उठ कर जब-जब मानव-समाज एक दूसरी ऊँची मंजिल पर पहुँचा है, तब-तब यह कार्य वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही सम्पादित हुआ है। वर्ग-संघर्ष ही सामाजिक प्रगति का आधार रहा है।" अरस्तू ने भी कहा था "संघर्ष सभी सद्गुणों की मां है।" मार्क्स के अनुसार, आदि काल से अबतक के मानव-समाज में प्रधानतः दो ही वर्ग मिलते हैं —एक तो उन व्यक्तियों का, जो समाज में स्वामी के रूप में विराजमान हैं, और जिनका एकाधिकार उत्पादन के सभी साधनों पर है। दूसरा वर्ग उन लोगों का है, जिनका प्रमुख कार्य इस सत्ताधीन स्वामी वर्ग के आदेशों का परिपालन करना होता है। यह वर्ग वास्तव में रहकर प्रथम वर्ग के शोषण का शिकार बना रहता है। इन दोनों वर्गों के हित परस्पर-विरोधी हैं अतः दोनों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता स्वाभाविक है। मानव-समाज के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि प्राचीन काल में एक वर्ग मालिकों का था तो दूसरा गुलामों का। मध्य काल में एक वर्ग सामन्तों का था तो अन्य कृषक-दास (Serf) का और आज इस पूँजीवादी समाज में एक वर्ग पूँजीपतियों का है, तो दूसरा श्रमिकों का।

प्रधानतः इन दो वर्गों के अतिरिक्त समाज में अन्य वर्ग भी होते हैं, किन्तु अन्ततो गत्वा उनके स्वार्थ इन्हीं दोनों वर्गों से प्रभावित होते हैं। मार्क्स वर्ग संघर्ष को वर्ग के साथ उत्पन्न और वर्ग के साथ ही नष्ट होने वाला मानता था। यह वर्ग-संघर्ष अब इस अवस्था को पहुँच गया है कि श्रमिक-वर्ग पूँजीपति वर्ग के अत्याचारों से तब तक विमुक्ति नहीं पा सकता जब तक कि वह पूरे समाज को वर्ग-भेद, शोषण, उत्पीड़न से छुटकारा न दिला दे।

(४) गांधीवाद और मार्क्स में एक महत्वपूर्ण विभेद साधनों का है। गांधी जी साधन की श्रेष्ठता एवं पवित्रता पर विशेष बल देते थे। उनके साधन ही साध्य हो जाते थे और साध्य साधन। गांधी जी के लिए साधन ही सब कुछ थे। वे कहा करते थे, "पाप से घृणा करो, न कि पापी से।" अपने विरोधी का भी मन, वचन और कर्म से हित-चिन्तन करना चाहिए। गांधी जी की हृदय-परिवर्तन में अटूट निष्ठा थी। वे मानते थे कि बिना क्रान्ति के शान्ति स्थापित नहीं हो सकती किन्तु यह क्रांति अहिंसात्मक होगी। छल-कपट और झूठ को उनके दर्शन में कोई स्थान नहीं था। इसके विपरीत मार्क्सवाद साधनों की पवित्रता पर कोई बल नहीं देता। अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए किन्हीं भी साधनों को अपनाया जा सकता है। मार्क्स ने पूंजीवादी समाज को उखाड़ फेंकने के लिए हिंसक साधनों के अपनाये जाने पर जोर दिया था, किन्तु उसने वैध साधनों की उपेक्षा भी नहीं की। कब और कहाँ किन साधनों को अपनाना चाहिए, यह देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर करता है। मार्क्स ने सन् १८७२ में एम्स्टर्डम में स्पष्ट रूप से घोषित किया था कि सर्वहारा की स्वतंत्रता के लिए सभी जगह एक-से साधनों को नहीं अपनाया जायेगा। यह सब कुछ विभिन्न देशों की संस्थाओं, रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं पर निर्भर करता है। मार्क्स ने अपना विश्वास प्रकट किया था कि इंग्लैण्ड, अमरीका और हालैण्ड में श्रमिक-वर्ग अपनी लक्ष्य-पूर्ति में शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा सफलीभूत होंगे। एंगिल्स ने भी वैध उपायों का औचित्य सिद्ध किया था—'हम 'क्रांतिकारी' और 'राज्य के उलटनेवाले' गैर-कानूनी उपायों की अपेक्षा कानूनी उपायों का आश्रय लेकर कहीं अधिक सफलता प्राप्त करते हैं।" मार्क्स ने आतंकवाद का विरोध किया था। वह उसे श्रमिक-वर्ग के लिए हानिकारक समझता था। उसने कहा था कि श्रमिकों को षड्यंत्र रचने की क्या आवश्यकता है उनको तो खुली बगावत है। जब प्रकाशरूप से काम नहीं चल सकता तभी अन्य उपायों को अपनाना पड़ता है। डा० सम्पूर्णानन्द के वचनानुसार, "साम्यवादी कोई हिंस्र हत्यारे नहीं होते। मारने में उन्हें मजा नहीं आता।

साम्यवादी जीवन के मूल्य को समझता है। यदि बिना रक्तपात उद्देश्य की सिद्धि हो जाय तो उसे हर्ष होगा।" अब तो भारतीय साम्यवादी-दल ने भी अपनी आस्था जनतंत्रीय एवं वैध उपायों में प्रकट की है। निःसन्देह गांधीवाद की यह बहुत बड़ी विजय है। किन्तु इसका परिपालन वे कर सकेंगे, संदिग्ध है क्योंकि उनका विगत इतिहास ऐसी सैद्धान्तिक कलाबाजियों से परिपूर्ण है।

(४) गांधीवाद विकेन्द्रीयकरण पर बल देता है जबकि मार्क्सवाद में केन्द्रीयकरण सर्वहारा के अधिनायकत्व तक परमावश्यक है। गांधी जी राजनीतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीयकरण के पक्षपाती थे। वे केन्द्रीयकरण और जनतंत्र को एक दूसरे का विरोधी मानते थे। केन्द्रीयकरण में हिंसा और निरंकुशता समाविष्ट है। इसी कारण गांधी जी मशीनों के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने मशीनों को 'साँप के बिल' की संज्ञा प्रदान की थी। वे चाहते थे कि कम-से-कम ऐसी मशीनों को जो मनुष्य का स्थान ले लेती हैं और जिसके द्वारा प्रतियोगिता होती है, हटा देना चाहिए। सीनेवाली मशीन जैसी छोटी मशीनों का जहाँ मनुष्य की भी आवश्यकता पड़ती है, रखने में कोई हानि नहीं समझते थे। गांधी जी ने रूस के औद्योगीकरण को भी ठीक नहीं समझा। उन्होंने कहा था "जब मैं रूस पर दृष्टिपात करता हूँ, जहाँ औद्योगीकरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है, तब मुझे वहाँ का जीवन प्रभावित नहीं कर पाता।" किन्तु मार्क्स ने सर्वहारा की तानाशाही का प्रतिपादन किया था। फलतः ऐसी स्थिति में आर्थिक एवं प्रशासकीय केन्द्रीयकरण का होना स्वाभाविक है। आज रूस इस केन्द्रीयकरण का ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी और सरकार के सर्वोच्च पद पर एक ही व्यक्ति की अधिकार सत्ता केन्द्रीयकरण के चरम रूप की अभिव्यक्ति है। यह अधिनायकशाही की द्योतक है।

(५) गांधी जी विकेन्द्रित जनतंत्र में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि सच्चे लोकतंत्र का निर्माण वयस्क मताधिकार के आधार पर ही होता है और यह केवल छोटे पंचतंत्र में ही सम्भव है; क्योंकि शासक और शासित के बीच निकट सम्पर्क वहीं स्थापित हो सकता है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी बिना लोकतंत्रीय परम्पराओं के नहीं हो सकता। वे रामराज्य की स्थापना के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य और लोकतंत्र दोनों को आवश्यक समझते थे। किन्तु गांधी जी ने भी पूँजीवादी लोकतंत्र से असहमति प्रकट की थी। वे उसे सच्चा लोकतंत्र नहीं समझते थे। उन्होंने कहा था कि इंग्लैण्ड "सच्चा लोकतन्त्र देश नहीं है।" उनकी धारणा में, सच्चा जनतंत्र वही था जो हिंसारहित हो। मार्क्स भी जनवादी था।

उसके वर्ग-विहीन-समाज की कल्पना परिष्कृत एवं विशुद्ध जनतंत्र की परिचायक है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, "कम्युनिज्म की जो चरम अवस्था है, वह मार्क्स के अनुसार परम-विकास-सम्पन्न है। उनका सांस्कृतिक स्तर इतना ऊँचा हो गया है कि जन-साधारण स्वतः बिना किसी बाहरी नियंत्रण के या राजदण्ड के भय के बिना ही सहयोग की भावना से प्रेरित हो समाज का संचालन करते हैं। जनतंत्र का यह चरम विकास है। जनतंत्र को अलग रख कर समाजवाद की कल्पना हो ही नहीं सकती। किन्तु मार्क्सवादी आधुनिक पूँजीवादी जनतंत्र के कटु आलोचक हैं। ट्राटस्की ने कहा था कि, "जनतंत्र एक निकृष्ट और निरर्थक स्वांग है। हम सर्वहारा-वर्ग के नाम में इसका प्रतिकार करते हैं। लोकतंत्रीय पद्धति के द्वारा सत्ता हस्तगत करने की कामना सिद्धान्ततः व्यर्थ है।" लेनिन कहता था कि सर्वहारा का जनतंत्र तो गरीब का जनतंत्र है, न कि पूँजीपति का। ऐसे जनतंत्र में पूँजीपति के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसा जनतंत्र पूँजीवादी जनतंत्र से सौगुना अधिक जनतंत्र है। मार्क्सवादी लोकतंत्रीय केन्द्रवाद (Democratic Centralism) में विश्वास करते हैं। वे राजनीतिक स्वातंत्र्य को इतना महत्त्व नहीं देते जितना कि आर्थिक स्वातंत्र्य को देते हैं। संक्रान्तिकाल में साम्यवादी राजनीतिक स्वातंत्र्य की उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर समझते हैं, क्योंकि बिना इसकी उपेक्षा के पूँजीवादी तत्त्वों का विनाश सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार गांधीवाद अधिक जनतंत्रवादी है, अपेक्षाकृत मार्क्सवाद के, क्योंकि उसमें हिंसा और तानाशाही के लिए स्थान है। किन्तु एक दृष्टि से मार्क्सवाद भी गांधीवाद की अपेक्षा अधिक जनवादी है। गांधी जी के रामराज्य में अमीर और गरीब दोनों रहेंगे जबकि मार्क्सवाद में अमीरी और गरीबी का कोई प्रश्न ही नहीं है। मार्क्सवाद गांधीवाद की तुलना में समानता पर अधिक बल देता है। मार्क्सवाद पूँजीपति और पूँजीवाद दोनों को समूल नष्ट करना चाहता है, जब कि गांधीवाद केवल पूँजीवाद का ही उन्मूलन चाहता है। गांधीवाद में पूँजीपति सुरक्षित रहते हैं।

— • —

: १५ :

सर्वोदय

गांधी जी की जीवन धारा को परिवर्तित करने में सर्वाधिक प्रभाव रस्किन की पुस्तक 'Unto this last' का रहा है, जैसा कि गांधी ने कहा था, "मेरा विश्वास है कि मेरे हृदय के गहनतम प्रदेश में जो भावनाएँ छिपी पड़ी थीं उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थरत्न में देखा और इसलिए उन्होंने मुझे अभिभूत कर जीवन परिवर्तित करने के लिए विवश कर दिया।" उनकी दृष्टि में, "यह पुस्तक रक्त और आँसुओं से लिखी गयी है।" गांधी जी ने 'Unto this last' का अनुवाद 'सर्वोदय' नाम से किया। विनोबा गांधी जी के 'सर्वोदय' को मूर्तरूप प्रदान करने में रत हैं। सर्वोदय का अभिप्राय सभी के उदय, सभी के उत्कर्ष और सभी के विकास से है। सर्वोदय सिद्धान्त मार्क्सवाद और उसकी विभिन्न शाखाओं—समष्टिवाद साम्यवाद और श्रेणी-समाजवाद से सर्वथा विपरीत है; क्योंकि इनके द्वारा एकमात्र सर्वहारा का ही हित-चिन्तन होता है और पूँजीपति-वर्ग उपेक्षित एवं तिरस्कृत रहता है। सभी का हित-चिन्तन करने वाला यदि कोई दर्शन है तो वह सर्वोदय है—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

जैनाचार्य समन्तभद्र के शब्दों में "सर्वापदामन्तकरं निरन्तरं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।" किन्तु यह कुछ युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता कि सभी का उत्कर्ष कैसे हो सकता है। कुछ व्यक्तियों का अथवा अधिकांश व्यक्तियों का उदय तो सम्भव है किन्तु सभी का अभ्युदय हमारी बौद्धिक परिधि में नहीं आता। क्या इस दर्शन की आधार-भूमि वैज्ञानिक है? क्या यह व्यवहार्य और साध्य है? विनोबा का कथन है, 'सर्वोदय कुछ का या बहुतों का या अधिकतम का उत्थान नहीं चाहता। हम अधिकतम के अधिक सुख से संतुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की या सबकी ऊँचे और नीचे की, सबल और निर्बल की, बुद्धिमान् तथा बुद्धिहीन की भलाई से संतुष्ट हो सकते हैं। केवल तभी हम संतुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द इस

उत्कृष्ट एवं सर्वव्यापक भावना को अभिव्यक्त करता है।' इस प्रकार सर्वोदय का आदर्श अद्वैत है और उसकी नीति है समन्वय। "सर्वोदय की दृष्टि में जीवन एक विद्या भी है, एक कला भी। जीवमात्र के लिए प्राणिमात्र के लिए समादर, प्रत्येक के प्रति सहानुभूति ही सर्वोदय का मार्ग है। Milk of human Sympathy, जीवमात्र के लिए सहानुभूति का मधु अमृत जब जीवन में प्रवाहित होता है, तो सर्वोदय की लता में सुरभिपूर्ण सुमन खिल उठते हैं।"[1]

सर्वोदय, चाहे वह निर्धन और शोषितवर्ग हो अथवा पूंजीपति, सभी का उत्कर्ष चाहता है। विनोबा जी का कथन है कि आज सभी का अधःपतन हो गया है, अतः सभी के उत्थान की आवश्यकता है। पूंजीपति का नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत पहले ह्रास हो चुका है; क्योंकि उनकी सम्पत्ति का आधार शोषण, हिंसा और छल कपट है। उनका आध्यात्मिक दृष्टि से उत्थान अतिरिक्त धनराशि के परिहार से हो सकता है और असहाय व्यक्ति जिनके जीवन में कभी मधुमास आया ही नहीं है और जो सदैव पतझारता के ही शिकार रहे हैं उन्हें भौतिक रूप से स्वावलंबित किया जा सकता है। इस प्रकार सर्वोदय धन-सम्पन्न व्यक्तियों को आध्यात्मिक और दीन-दुखियों को भौतिक दृष्टि से समुन्नत करना चाहता है। सर्वोदय की तुलना न तो हम उपयोगितावादियों के अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख (The greatest good of the greatest number) से ही कर सकते हैं और न शेष की सामान्य हित की भावना से ही और न हक्सले के "जियो और जीने दो" (Live and let live) के सिद्धान्त से ही, प्रस्तुत सर्वोदय की आधार-पीठिका है—"जिलाने के लिए जियो" (Live to let live)। जो अक्षम हैं उन्हें सक्षम बनाया जाय (fitting the unfit to survive)। गुरुदेव के शब्दों में,

'दूर के करिले निकट बन्धु।
पर के करिले भाई॥" (गीतांजलि)

गांधी जी के मत में, 'अहिंसा का एक उपासक अधिकतम के सुख के लिए प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की उपलब्धि के प्रयास में मर मिटने के लिए भी तत्पर रहेगा। अतः वह अन्य व्यक्तियों को जीवित रखने के लिए स्वयं मर जायगा और स्वयं मर कर शेष के साथ वह अपनी सेवा करेगा।"

१ कृष्णदत्त भट्ट।

इस प्रकार सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह आदर्शों की पवित्रता इसका मूलाधार है। जीवन का विकास और जीवन का अधिकाधिक विस्तार इसका प्रेरणस्रोत है। सर्वोदय समाज-निरपेक्ष शाश्वत एवं व्यापक मूल्यों की प्रतिष्ठा तथा बाधक मूल्यों का परिहार करना चाहता है। इसका आदर्श वर्गविहीन, शोषणविहीन एवं जाति-विहीन समाज की रचना करना है। सर्वोदय-समाज में वैषम्य प्रतिस्पर्धा और वर्गीय संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं होगा। समानता, सहयोग एवं सद्भाव ही जीवन का मूलमंत्र होगा। सर्वोदय-समाज में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को अत्यल्प और अपनी वासनाओं को नियन्त्रित रखेगा। उसका आदर्श विनोबा के शब्दों में 'अन्यों की आवश्यकताओं का ध्यान रखो और अपनी ऐसी कोई आवश्यकता प्रस्तुत नहीं करो जिसके कारण अन्यों का अनहित हो।" सर्वोदय में संघर्षात्मक और अस्पर्शात्मक समस्याओं का प्रश्न ही नहीं उठता है। जो भी निर्णय होंगे, बहुमत की अपेक्षा सर्वसम्मत से होंगे। सर्वोदय की मान्यता है, "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।" "जो तोकूं काँटा बुवे ताहि बोव तू फूल।" "पत्थर का जवाब पत्थर से देने में, अत्याचार का प्रतिकार अत्याचार से करने में, खून के बदले खून बहाने में कौन-सी क्रांति है? क्रांति है दुश्मन को गले लगाने में, क्रांति है अत्याचारी को क्षमा करने में, क्रांति है गिरे हुए को ऊपर उठाने में। और इस क्रान्ति का साधन है—हृदय-परिवर्तन, जीवन-शुद्धि साधन शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार।"

भूदान

विनोबा गांधी जी के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं, वे अपने भूदान-आन्दोलन के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय हो गये हैं। वे भूदान के द्वारा भूमि-समस्या के समाधान का प्रयास कर रहे हैं। भूदान-विषयक विचार उनके मस्तिष्क में कैसे आये? क्या उनकी चिन्तनधारा की पृष्ठभूमि वैज्ञानिक है या यह भगवत्प्रेरणा का प्रतिफल है? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करना होगा। जब तेलंगाना में भारतीय साम्यवादियों ने भूमिपतियों के विरुद्ध हिंसात्मक विद्रोह किया और भूमिपति कार्यवाहियों ने उग्ररूप धारण किया तो विनोबा मूक दर्शक बने नहीं रह सके। सन् १९५१ में विनोबा शिवरामपल्ली के सर्वोदय-सम्मेलन से लौटते समय जब पोचमपल्ली में थे तो एकत्र जनसमूह में से कुछ भूमिहीन हरिजनों ने उनसे याचना की कि हमें कुछ भूभाग जोतने-बोने के लिए मिल जाय तो हमारी जीविका की समस्या हल हो

माँग। विनोबा ने उनसे कहा तुम्हें कितनी जमीन चाहिए। अस्सी एकड़, उत्तर मिला। विनोबा विचार मग्न हो गये कुछ क्षण के लिए और जन-समूह से प्रश्न किया, 'भाइयो, क्या आप में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने भाइयों को भूमि दें जिससे कि वे भूखों न मर जायें। वे केवल ८० एकड़ भूमि चाहते हैं।" एकत्र जनसमूह में कुछ काल के लिए निस्तब्धता व्याप्त हो गयी। किन्तु अचानक एक सहृदय भूमिपति के औदार्य से, जिसने कहा—"मैं एक सौ एकड़ भूमि दान करता हूँ,' जनभीड़ अनुप्राणित हो उठी। विनोबा को भूमि-समस्या के समाधान का सूत्र मिल गया। १८ अप्रैल १९५१ को इस भूमिपति रामचन्द्र रेड्डी ने एक दस्तावेज लिखकर भूदान को जन्म दे दिया। विनोबा जहाँ कहीं गये यही कहते हैं, "यदि तुम्हारे पाँच पुत्र हैं जिनके बीच तुम भूमि बाँट रहे हो तो मुझे भी अपना छठा पुत्र समझो और जो मेरा भाग है उसे मुझे दे दो। विनोबा भावे का लक्ष्य ५ करोड़ एकड़ भूमि का है जिसके लिए उन्होंने देश के विभिन्न अंचलों का परिभ्रमण किया है। यद्यपि वे अभी अपनी लक्ष्यपूर्ति में सफलीभूत नहीं हो सके किंतु जिस सांस्कृतिक आन्दोलन का उन्होंने सूत्रपात किया है, मानव इतिहास में सर्वथा एक नवीन प्रयोग और वह अद्वितीय है। विनोबा भूदान के द्वारा आर्थिक क्रान्ति का बीजारोपण कर रहे हैं। इस क्रांति की गति धीमी हो सकती है, किंतु इस नवीन अस्त्र का प्रयोग कर उन्होंने भारत में हिंसात्मक क्रांति की सम्भावनाओं को कम कर दिया है। भूदान ने न केवल भारतीयों को अपितु विदेशियों को भी समुचित रूपेण आकृष्ट किया है। हजारों की संख्या में सर्वोदयी कार्यकर्ता इस आन्दोलन के साफल्यहेतु प्रयत्नशील हैं। इनकी पदयात्राओं ने एक ऐसा नैतिक वातावरण पैदा किया है जिसने व्यक्तियों को इस दिशा में सोचने के लिए विवश किया है। पदयात्रा का यह क्रम अबाधगति से चल रहा है। इसके द्वारा वर्ग विभेद के स्थान पर वर्ग-समन्वय की प्रतिष्ठा हुई है। निस्संदेह जितनी व्यापक संचेतना की अभिव्यक्ति इस आन्दोलन के द्वारा हुई है किसी अन्य आन्दोलन अथवा दल या संघ से नहीं हुई है।

भूदान-आन्दोलन केवल भूमि वितरण का ही एक कार्यक्रम नहीं है, अपितु इसका मुख्य लक्ष्य व्यक्तियों की विचारधारा और उनके परिवेश में एक सांस्कृतिक परिवर्तन लाना है। उसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी है। "यह एक नवीन सामाजिक दर्शन है। यह एक नवीन मानवता तथा एक अभिनव सभ्यता का सूत्रपात है।" यह एक नैतिक आन्दोलन है जिसके द्वारा व्यक्तियों में यह भाव भरना है कि 'सबै भूमि गोपाल की।' इसके प्रति ममत्व और अधिकार-लिप्सा क्या ?

यदि इसका लक्ष्य एकमात्र भूमि-वितरण ही होता तो यह कार्य बड़ी सरलता से सरकार द्वारा जमींदारी कानून जैसे कानूनों द्वारा सम्पन्न हो सकता था। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या त्याग की भावना कानून द्वारा संचरित की जा सकती है। विनोबा के शब्दों में, 'निस्संदेह, कानून के द्वारा अतिरिक्त भूमि को छीना जा सकता है, किन्तु क्या उससे मोह तथा अभिमान के बन्धन कट जायेंगे? क्या हम कानून के द्वारा मनुष्य को अहंकार का परित्याग करने, ऐश्वर्य की भावना को त्यागने तथा त्याग का जीवन-यापन करने और प्रलोभन के परित्याग के लिए बाध्य कर सकते हैं? क्या यह कानून द्वारा सम्भव है? निश्चित रूप से ये ऐसे कार्य हैं जिन्हें मनुष्य स्वेच्छा से ही कर सकता है।' 'यदि तुम्हारा हृदय परिवर्तित हो जाता है और तुम अपनी भूमि को स्वतः ही उन अपने से कम भाग्यवान् व्यक्तियों में विभक्त करने लगो, एक कंजूस की भाँति नहीं प्रत्युत औदार्य और प्रेम के साथ, जिस भाँति एक पिता अपने पुत्र को देता है; यदि तुम उनकी सेवा करने लगो और उनके सुख-दुःख में भागीदार बन जाओ तो हमारे आधुनिक समस्त रोगों की समाप्ति हो जायगी।" इस प्रकार से भूदान अवलतः हृदय-परिवर्तन की एक पद्धति है। इसके द्वारा हृदय की एकता प्रतिष्ठित होती है। सहयोग अथवा एकता बलात् नहीं लायी जा सकती। यह तो हृदय की वस्तु है। शक्ति दास बना सकती है, मित्र और सहयोगी नहीं। वह मनुष्य के अन्तस्तल में सद् वृत्तियों को जाग्रत नहीं कर सकती 'वह उनके तन को छीन सकती है," किन्तु उन्हें प्रन्यासी के रूप में काम करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती।' भूदान-आन्दोलन केवल बड़े भूपतियों के मानस को ही परिवर्तित नहीं करता वरन् निर्धन और छोटे भूस्वामियों में भी स्नेहांकुर पैदा करता है।

भूदान-आन्दोलन उस अधिकार भावना पर प्रबल प्रहार करता है जिसके अधीन बड़ा अथवा छोटा भूपति होता है। यही कारण है, विनोबा ने न केवल बड़े भूस्वामियों को ही जमीन देने के लिए कहा बल्कि उन भूमिहीनों से भी याचना की जिनके पास १ और २ एकड़ भूमि थी। अतः हृदय-शुद्धि बड़े और छोटे सभी के लिए है। हृदय परिवर्तन की पद्धति सर्वव्यापी है। गरीब भी उस अधिकार-सत्ता का परित्याग करे उसके वशीभूत अमीर है। इस प्रकार भूदान एक ऐसा वातावरण पैदा करता है जिसमें परस्पर स्नेह, सहयोग और समर्पण हो। अतः 'इसका आधार और स्वरूप सांस्कृतिक है। यह समस्या सांस्कृतिक समस्या है। इसमें नैतिकता का समावेश है।" भूमि पर सभी का स्वामित्व उसी

प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार ईश्वर-प्रदत्त जल, वायु और प्रकाश पर है। भूदान का मूल सिद्धांत यह है कि जो जोतता है धरती उसी की हो। किन्तु वह भी अधिक जमीन का उपभोग नहीं करे। जितनी उसे आवश्यक है उतनी ही रखे और शेष समाज को अर्पित कर दे। इस प्रकार भूदान व्यक्तिगत सम्पत्ति पर प्रहार करता है किन्तु उसका उन्मूलन नहीं और नैतिक मूल्यों को व्यक्ति में समाविष्ट करता है।

सम्पत्ति-दान

भूदान से ही सम्पत्ति-दान का जन्म हुआ। भूमिहीनों को जमीन तो मिली किन्तु उसको जोतें कैसे, बीज कहाँ से आए और खाद तथा सिंचाई के साधनों की व्यवस्था कैसे हो? बिना धन के इन समस्याओं की परिपूर्ति नहीं हो सकती थी। अतः विनोबा ने पूँजीपतियों से धन की याचना की क्योंकि धन पर एकाधिकार तो समाज का है। पूँजीपति तो केवल न्यासी (Trustee) हैं। गांधी जी का संरक्षण सिद्धान्त (Theory of Trusteeship) विनोबा द्वारा कार्यान्वित हुआ। सम्पत्ति-दान में संग्रह का निराकरण, जीविका का शुद्धीकरण और अनुत्पादक व्यवसायों का निराकरण सन्निहित है। सम्पत्ति दान कोई भिक्षा-वृत्ति का प्रतीक नहीं है, यह तो उस दृढ़ आस्था का प्रकटीकरण है कि जो कुछ भी धन है वह तो समाज अथवा ईश्वर का है, जिसका सदुपयोग धनविहीनों के सहायतार्थ होना चाहिए।

ग्रामदान

ग्रामदान भूदान का विकसित स्वरूप है। यह भूदान की उच्चतमावस्था का द्योतक है। ग्रामदान के द्वारा समस्त ग्रामीण भूमि भूदान में दे दी जाती है। भूमिपति अपनी समस्त भूमि का परित्याग कर देता है। वह समस्त समर्पित भूमि समाज के एकाधिकार में आ जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश हो जाता है और ग्रामवासियों में परस्पर नवीन सम्बन्ध स्थापित होते हैं। ग्रामदान का गाँव एक बड़े परिवार में परिवर्तित हो जाता है। गाँव के सभी व्यक्ति एक-दूसरे के सुख-दुःख के सहयोगी हो जाते हैं। विभिन्न पेशेवाले अपना कार्य करेंगे और उन्हें जो गाँव की वार्षिक उपज होगी उसमें से हिस्सा मिलेगा। सभी एक सामान्य जीवन-यापन करते हुए एकत्व की भावना से ओत-प्रोत होंगे। विनोबा का मत है कि व्यक्तिगत स्वामित्व जब सामाजिक स्वामित्व में परिवर्तित हो जाता है तब उसकी सुरक्षा

और अधिक बढ़ जाती है। संपूर्ण समाज का संरक्षण हो जाता है। विनोबा का कथन है, 'प्रत्येक व्यक्ति अपना सर्वस्व समाज को अर्पित कर देगा और समाज उसकी सुरक्षा करेगा। लोग समझते हैं कि ग्रामदान एक महान् त्याग है। ग्रामदान त्याग नहीं वरन् सजीवन के लिए अपनी संपत्ति का सदुपयोग है।' ग्राम-समाज बच्चों की शिक्षा तथा विवाह के व्यय की भी व्यवस्था करेगा। गाँव व्यवस्था के लिए एक ग्रामसभा होगी जिसके उतने ही सदस्य होंगे जितने कि उस गाँव में परिवार होंगे। प्रत्येक परिवार से एक प्रतिनिधि होगा। इसकी बैठक मास में एक बार हुआ करेगी। ग्राम-सभा १०-१२ सदस्यों वाली एक समिति का निर्माण करेगी जो गाँव के प्रतिदिन के कार्यों का सम्पादन करेगी। समिति के निर्णय ग्रामसभा द्वारा स्वीकृत होने आवश्यक होंगे। इसकी बैठकें भी शीघ्राति शीघ्र हुआ करेंगी। यहाँ कोई चुनाव का प्रश्न नहीं होगा, क्योंकि सभी परिवारों का ग्राम-सभा में प्रतिनिधित्व होगा। अतः यहाँ राजनीतिक दलों का अभाव होगा और वर्ग-विभेद, जाति-विभेद तथा शोषण के लिए कोई स्थान नहीं होगा। राजनीति लोक-नीति में परिणत हो जाएगी। विनोबा का कहना है, "भूदान और ग्रामदान का लक्ष्य कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना नहीं है। यह तथ्य तो केवल प्रासंगिक होगा। इसका प्रमुख लक्ष्य मानव-हृदय में सम्पूर्ण समाज के प्रति स्नेह की उत्पत्ति करना है।" "ग्रामदान वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के मध्य द्वैत भाव को समाप्त कर देगा।" इस प्रकार ग्रामदान व्यक्तियों को एक अभिनव दृष्टि या एक नवीन जन्म प्रदान करने का प्रयास कर रहा है।"

राज्य और राजनीति

सर्वोदय समाज में एक केन्द्रित राज्य के लिए कोई स्थान नहीं होगा। राज्य अपने आधुनिक स्वरूप को खो देगा। सर्वोदयी समाज विकेन्द्रित होगा। छोटे छोटे स्वशासित गाँव होंगे जो आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से अधिकाधिक विकेन्द्रित होंगे। राजनीति इन्हें दूषित नहीं कर पाएगी, क्योंकि राजनीति की परिणति लोकनीति में हो जाएगी। यहाँ सत्ता का, जो राजनीति की आधार-पीठिका है, अस्तित्व ही नहीं होगा। राजनीति में सम्प्रदायवाद भाषावाद और जातिवाद का बाहुल्य है, किन्तु लोक-नीति में इन दूषित तत्वों के लिए कोई स्थान नहीं है। न विकेन्द्रित राजनीति ही लोक-नीति है। 'राजनीति को, सत्तावाद को बिखेर देने से सत्तावाद विकेन्द्रित हो जाता है। लेकिन विकेन्द्रित सत्तावाद का मतलब लोकनीति नहीं।

उससे लोकनीति का प्रादुर्भाव नहीं होता। वह केवल विकेन्द्रित सत्तावाद है।" चुनाव-प्रणाली के द्वारा सत्ता की स्पर्धा का विकेन्द्रीकरण होता है, सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं होता। 'लोकशाही की बुनियादें कब बदलेंगी? जब हमारी आर्थिक इकाई, राजनीतिक इकाई और प्रातिनिधिक इकाई इन तीनों में कम से कम अंतर रहेगा। और दूसरी बात यह होगी कि समाज सारा-का-सारा उत्पादकों का होगा। उसमें मालिक कोई नहीं रहेगा। इसके लिए आर्थिक क्षेत्र में हमारा पहला कदम होगा—अनुत्पादक की मालकियत का विसर्जन, दूसरा कदम होगा उत्पादक की मालकियत की स्थापना और तीसरा कदम होगा—स्वामित्व का निराकरण। ऐसा जो उत्पादकों का समाज बनेगा वह सारा-का-सारा उत्पादकों का होगा उस समाज में स्वयंपूर्णता की दृष्टि से विकेन्द्रीयकरण होगा और उस विकेन्द्रित समाज में प्रतिनिधित्व और प्रशासन, दोनों समव्याप्त होंगे। प्रशासन का उद्देश्य वस्तु नियंत्रण होगा, व्यक्ति-नियंत्रण नहीं। यह प्रशासन से अनुशासन की ओर जाने का कदम है। प्रशासन कम होता चला जायगा अनुशासन बढ़ता चला जायगा।" "लोक-नीति का आधार है कानून को लोक-सम्मति के रूप में विकसित करना। कानून के पीछे लोक-सम्मति का अधिष्ठान आवश्यक है।" लोक-नीति में सर्वसम्मति या एकमत आवश्यक है। लोकसत्ता का अधिष्ठान दण्ड शक्ति नहीं, लोक-सम्मति है। जहाँ अल्प मात्रा में भी दण्ड-शक्ति के आधार पर राज्य-संस्था निर्भर हो, वह जन-शक्ति का अंतिम अधिष्ठान अस्वाभाविक ही हो सकता है।" इस प्रकार सर्वोदय 'लोक-नीति' का पक्षपाती है। राजनीति में जहां शासन मुख्य है, वहां लोकनीति में अनुशासन। राजनीति में जहां सत्ता मुख्य है, वहां लोकनीति में स्वतंत्रता। राजनीति में जहाँ नियंत्रण मुख्य है, वहाँ लोक-नीति में संयम। राजनीति में जहाँ सत्ता की स्पर्धा अधिकारों की स्पर्धा मुख्य है वहाँ लोकनीति में कर्तव्यों का आचरण। सर्वोदय का क्रम यही है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतंत्रता की ओर, नियमन से संयम की ओर और अधिकारों की स्पर्धा की ओर से कर्तव्यों के आचरण की ओर बढ़ो।"[1] कांट ने भी अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों के आचरण पर अधिक बल दिया है।

सर्वोदय का मूल्यांकन

मशरूवाला के कथनानुसार, 'इस प्रकार भूदान नये समाजरूपी मन्दिर के लिए एक आध्यात्मिक तीर्थ-यात्रा बन जाता है।" "जब विनोबा ने इस यात्रा को आरम्भ

१ दादा धर्माधिकारी सर्वोदय-दर्शन।

किया तो अधिकांश व्यक्तियों को यह एक मसीहा का एकमात्र आशीर्वाद लगा। पिछले पाँच वर्षों में इस आन्दोलन की शक्ति एवं ओज ने इसकी व्यावहारिक सम्भावनाओं को सिद्ध कर दिया है। जिस भाँति जमीन का बहुत बड़ा भाग भूदान में उपलब्ध हुआ है और भूमिहीनों में उसका विभाजन हुआ है, जिस भाँति ग्रामीण मानव-समाज इससे विमुग्ध हो उठा है और जिस भाँति इसके द्वारा व्यक्तियों में सहयोग, स्नेह, संवेदना और बन्धुत्व के भाव संचरित हुए हैं, उससे इसके विषय में समस्त शंकाओं का निवारण हो गया है।' चाहे हमें इस ध्येय तक पहुँचने में एक वर्ष लगे या अधिक या मानवजाति को इसके लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा रत रहना पड़े, किन्तु उसने मानव की जीवन-समस्याओं के समाधान करने की कुंजी दे दी है और इस चमत्कारपूर्ण युग में एक आशा-द्वार खोल दिया है।'[1] मसानी की इस आशावादिता और दृढ़ निष्ठा के बावजूद, सर्वोदय दर्शन की पर्याप्तमात्रा कटु आलोचना हुई है। चाहे समाजवादी, साम्यवादी या कांग्रेसी प्रजातन्त्र के इसके प्रशंसक रहे हों, तथापि वे इसकी व्यावहारिकता पर शंकाकुल रहे हैं। जब विनोबा ने भूदान के सम्बन्ध में अपनी ऐतिहासिक पद यात्रा प्रारम्भ की तो देश के विभिन्न क्षेत्रों में एक हलचल-सी मच गयी। बुद्धिवादी से लेकर साधारण कार्यकर्ता तक इसके औचित्य अनौचित्य के सम्बन्ध में विचारमग्न हो गया। यद्यपि इस देश में साधु-सन्तों का कभी अभाव नहीं रहा। दानशीलता, स्नेह और दया का प्रचलन प्रत्येक काल में होता रहा है। असहाय और दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति-प्रदर्शनार्थ धन-सम्पन्न व्यक्तियों को सदैव आहूत किया जाता रहा है। हिन्दू-धर्म और इसकी विभिन्न शाखाओं के धार्मिक ग्रन्थ इन उपदेशों से परिपूर्ण हैं। दान की परम्परा इस देश का अपना वैशिष्ट्य है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह व्याप्त है। विनोबा ने आर्थिक वैषम्य से कराहते हुए वर्ग को देखा, समय की गति को पहचाना और परम्परागत दान-वृत्ति का आश्रय ले उसको नूतन पुट दे, एक नया युग दे दिया। विनोबा ने वर्ग-समन्वय को प्रचारित कर मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष पर करारी चोट की। अतः विनोबा के इस आन्दोलन से विशेषतः मार्क्सवादी सचेत हो गये। समाजवादियों में भी वर्ग-संघर्ष की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को लेकर गम्भीर चिन्तन हुआ। स्वर्गीय आचार्य नरेन्द्रदेव और डा० राममनोहर लोहिया वर्ग-संघर्ष के प्रबल समर्थकों में बने रहे, किन्तु जयप्रकाशनारायण वर्ग-संघर्ष को अस्वीकार करते हुए वर्ग-स्नेह पर बल देते हैं। वे अब पूर्णतः सर्वोदयी हैं। मार्क्सवादी

1 Masani The Five Gifts.

यही कहते रहे हैं, यदि भूदान के द्वारा बिना किसी वर्ग-संघर्ष या हिंसा के आर्थिक साम्य की प्रतिष्ठा होती है, तो यह सर्वसुन्दर है, किन्तु इसकी व्यावहारिकता में उसकी संदिग्धता सदैव बनी रही है।

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या हृदय-परिवर्तन सम्भव है उस वर्ग का जो पीढ़ियों में शोषक रहा है? दान और अधिकार दो भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि सारी भूमि गोपाल की या समाज की तो यहाँ दान का प्रश्न कहाँ उठता है? यह तो समाज का अधिकार हो गया। फिर दान में अहम् और हीन भावना का समावेश है। दान व्यक्ति के स्वाभिमान को चोट पहुँचाता है, उसके पुरुषार्थ को धिक्कारता है, उसकी अकर्मण्यता का औचित्य सिद्ध करता है और एक दूषित प्रवृत्ति को जन्म देता है। विनोबा जी कहते हैं कि भूदान केवल आर्थिक समस्या का हल नहीं है, प्रत्युत मूलभूत प्रश्न है नैतिक वातावरण पैदा करने का। उनका विश्वास है कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा और शिष्ट है, अतः हृदय-परिवर्तन किया जा सकेगा। भूदान के औचित्य को सिद्ध करने के लिए यह भी तथ्य प्रस्तुत किया जाता है कि विनोबा को पर्याप्त भूमि और सम्पत्ति मिली है। उनके दर्शन की सफलता इससे प्रकट होती है। जहाँ तक स्वभाव का प्रश्न है, मनुष्य में सद् और असद् दोनों प्रवृत्तियों का समावेश है। वह असद् प्रवृत्तियों का शीघ्र ही शिकार होता है। फिर, ऐसा व्यक्ति जो प्रचुर धनराशि का उपभोग करता है यदि उसमें कुछ आंशिक सहायता कर देता है तो हम उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी दानप्रवृत्ति तो उसे परम्परागत मिली है। प्रत्येक व्यापारी के यहाँ दानखाता खुला रहता है। उसका यह विश्वास कि जो पूँजी अनर्थ से संचित की गयी है, उसमें से कुछ दान भी आवश्यक है ताकि वह पाप का भागी नहीं बने। यह धर्म-भय है। इसके अतिरिक्त, विनोबा के भूदान में सत्तारूढ़ दल और सरकारी तंत्र की अप्रत्यक्षतः सहायता रही है। जिस प्रकार एक पूँजीपति हजारों, लाखों की धनराशि से कांग्रेस की सहायता करता है, वही भावना भूदान-समर्पण में रही है। यही नहीं, जो भूमि भूदान में मिली है या तो वह बंजर है या विवादग्रस्त या पुरातिविहीन। विवशता भी इस समर्पण में एक कारण रही है। भय ने भी इसमें मुख्य काम किया है—अहिंसा और प्रेम से भूदान करो तो अनुराग, अन्यथा कानून और हिंसा से जमीन का बँटवारा होकर ही रहेगा। जमींदारियाँ गईं, बड़े-बड़े राजे और रजवाड़े गये और अब विनाश भूखण्ड के स्वामियों, मिल-मालिकों और पूँजीपतियों की बारी है। हाँ, कुछ ऐसे भी उदाहरण मिल सकते हैं जिन्होंने स्वेच्छा से भूमि का दान किया है। किन्तु क्या

इन थोड़े से तथ्यों को एकत्र कर मानव-समाज में प्रतिष्ठित इस आर्थिक वैषम्य को दूर किया जा सकता है ? ग्यारह वर्ष में जो भूदान, सम्पत्ति-दान और ग्राम दान की स्थिति रही है उससे इसके व्यावहारिक पक्ष की संदिग्धता की परिपुष्टि हो जाती है। जैसे-जैसे आर्थिक वैषम्य बढ़ा है वैसे-वैसे वर्ग विभेद और सुदृढ़ हुआ है। अतः सर्वोदय दर्शन आदर्शात्मक है, व्यावहारिक नहीं। भूदान असम्भव है, जबकि ग्रामदान सम्भव हो सकता है, क्योंकि उसमें भूमिपति दुःख भोगता नहीं। यह तो रूसो के सार्वभौम समाज के समान है। किन्तु ग्राम अराजनीतिक एवं राज्यविहीन होंगे, यह भी बुद्धिगम्य नहीं है। लेनिन ने भी मार्क्स द्वारा प्रतिपादित राज्यविहीन समाज को प्रतिष्ठा की परिकल्पना का विषय कह कर अपने को काल्पनिक (Utopian) कहे जाने से बचा लिया है। सत्ता एवं स्वार्थ से विहीन प्रशासन आदर्शों के द्योतक हो सकते हैं, किन्तु व्यवहार में यह असम्भव-सा है। सत्ता और स्वार्थ की मात्रा घट सकती है। यह परिमाणात्मक अन्तर तो सदैव रहा है किन्तु विशुद्ध अव्यावहारिक और कल्पनातीत है। प्लेटो का दार्शनिक राजा जैसे चिन्तन एवं अनुशीलन का विषय रह गया है, वैसे ही विनोबा की भी राज्य एवं दलविहीन समाज की कल्पना बौद्धिक चर्चा का विषय रह जाएगी।

: १६ :

प्रभुसत्ता (Sovereignty) और अद्वैतवाद (Monism)

वस्तुतः प्रभुसत्ता राज्यशास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारणा है और जितना विवादास्पद एवं भ्रमात्मक शब्द यह रहा है अन्य कोई शब्द राज्यशास्त्र में नहीं रहा है। अमरीकी विचारक विलोबी (Willoughby) के शब्दों में, "राज्य-विज्ञान में अन्य कोई ऐसा शब्द नहीं है जिस पर विचारकों में इतना अधिक विचार-वैभिन्न्य रहा हो। जिस प्रकार अर्थशास्त्र में 'अर्थ' शब्द है, उसी प्रकार राज्य-विज्ञान में प्रभुसत्ता शब्द है।"[1] लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने भी इस शब्द को सर्वाधिक विवादग्रस्त स्वीकार किया है। सम्भवतः इस विवादग्रस्तता के कारण ही दुखी होकर लास्की ने कहा था कि यदि प्रभुसत्ता के विचार का परित्याग कर दिया जाय तो राज्यशास्त्र को एक स्थायी लाभ होगा। प्रभुसत्ता शब्द प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है और इन प्रयोगों के मध्य अन्तर स्थापित करना कोई सरल कार्य नहीं है। 'सावरेन्टी' (Sovereignty) शब्द की रचना लैटिन भाषा के शब्द का 'सुपरेनस' (Superanus) से हुई है, जिसका अर्थ होता है परमेष्ठी या सर्वोपरि। इस प्रकार प्रभुसत्ता का अर्थ राज्य की सर्वोपरि सत्ता से है। यह सत्ता आन्तरिक एवं बाह्य दृष्टि से सर्वोच्च है।

प्रभुसत्ता राज्य का एक आवश्यक तत्त्व है। यही तत्त्व ऐसा है जो राज्य तथा अन्य मानव-समुदायों में आधारभूत अन्तर प्रकट करता है। किसी व्यक्ति परिषद् या लोक-समुदाय (निर्वाचक मण्डल) को प्रत्येक पूर्ण स्वतंत्र राज्य में सामूहिक इच्छा को वैधानिक रूप में अभिव्यक्त करने और उसका परिपालन कराने की सर्वोच्च सत्ता उपलब्ध होती है। वह आदेश देने और उसके पालन कराने की शक्ति से सम्पन्न होता है। किन्तु ऐसे अन्य समुदाय भी हो सकते हैं जिनका निजी संगठन हो और जो अपनी सामूहिक इच्छा को नियमों के रूप में व्यक्त करते हों। पर ऐसे मानव-संघ सम्प्रभुताधारी नहीं होते। प्रत्येक राज्य में एक ऐसी सत्ता अवश्य अवस्थित होती है जो राज्य में निवास करने वाले

व्यक्तियों को अपनी आज्ञा के परिपालन के लिए विवश कर सके। प्रभुत्वधारी राज्य को छोड़कर अन्य कोई भी समुदाय पुलिस, जेल और न्यायालय जैसी संस्थाएँ नहीं रखता। राज्येच्छा ही सर्वोपरि है, और उसके निर्णय ही अन्तिम निर्णय होते हैं जो सर्वमान्य होते हैं।

लुई १४ वाँ कहता था, "राज्य क्या है? मैं ही तो राज्य हूँ।" उसके इस कथन का अभिप्राय यह था कि जब राज्यों का शासन मध्यकाल में एकतन्त्र था तो राज्य प्रभुसत्ता का प्रकटीकरण राजा द्वारा होता था। वह अपनी प्रत्येक इच्छा को कानून अथवा राजाज्ञा के रूप में प्रचलित कर सकता था और सभी उसके परिपालन के लिए बाध्य थे। प्राचीन काल में प्रभुसत्ता श्रेष्ठतन्त्र (Aristocracy) में थी किन्तु आज यह सन्निहित है जन-हाथों में।

राज्य के दो पहलू

प्रभुसत्ता के दो पहलू होते हैं आन्तरिक और बाह्य। राज्य-प्रभुसत्ता राज्य के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों क्षेत्रों में अपरिमित एवं अबाध होती है। आन्तरिक क्षेत्र में उसकी सत्ता सभी के लिए शिरोधार्य है और उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अधिकारों एवं अनुबन्धों का स्रोत राज्य ही है। यही कारण है, व्यक्तिगत अधिकारों और अनुबन्धों की राज्य के विरुद्ध किंचित्मात्र भी सत्ता नहीं है। नियम की 'श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता' विधान के परिपालन में कोई अवरोध उपस्थित नहीं करती। प्रत्येक नागरिक राज्येच्छा के परिपालन के लिए बाध्य है। राज्य अनन्त एवं अपार शक्ति से सम्पन्न है, किन्तु वह इस समस्त शक्ति सम्पन्नता का प्रयोग नहीं करता। वह अपनी अधिकांश शक्ति दूसरों को भी दे देता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य द्वारा प्रदत्त शक्ति मानव के निजी अधिकारों को प्रतिस्थापित करती है। जिस प्रकार शक्ति प्रदान की जाती है, उसी प्रकार उसे लौटाना भी पड़ता है। राज्य सर्वोपरि है। वह शासकों से बलवत्तर है। शासक केवल वही कार्य कर सकते हैं जिसे राज्य चाहता है। राज्य द्वारा प्रदत्त वैयक्तिक अधिकारों में जब किसी प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत होती है तो शासकगण राज्य ही को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार आन्तरिक विषयों में राज्य की शक्ति अपरिमित एवं अमर्यादित है। राज्य में स्थापित कोई मानव-संघ और व्यक्ति राज्य-अधिकार से न तो विमुक्त ही रहता है और न उसकी आज्ञा की अवहेलना ही कर सकता है। किसी भी प्रकार का इस पर कोई वैधानिक नियंत्रण नहीं है। राज्य में कोई अन्य

सत्ता इससे उच्चतर नहीं है। राज्य प्रभुसत्ता-सम्पन्न होते हैं, जब कि मानव-संघ प्रभुसत्ता-विहीन होते हैं।

बाह्य प्रभुसत्ता का अर्थ 'स्वाधीनता' शब्द से भली भाँति प्रकट हो जाता है। इसका तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक राज्य के, बिना किसी अन्य राज्य के हस्तक्षेप के, अपनी नीति के निर्धारण एवं कार्यान्वयन में पूर्ण स्वतंत्रता से है। प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों से अनिर्बंधित है। उस पर केवल एक मात्र स्वेच्छा से है। निस्सन्देह अधिकांश विषयों में राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय विधानों एवं संधियों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। किन्तु इससे उनकी प्रभुसत्ता किंचितमात्र भी प्रभावित नहीं होती क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों एवं विधानों की स्वीकृति प्रदान करने अथवा न करने में राज्य पूर्णतः स्वतंत्र हैं। यदि कोई राज्य अपने अधीन किसी उपनिवेश को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करता है, तो न तो उस राज्य की प्रभुसत्ता में किसी प्रकार का अभाव हो जाता है और न वह विभक्त ही होती है। यदि कहीं प्रभुसत्ता विभाजित है तो वहाँ एक राज्य न होकर अनेक राज्य हैं। विधानतः राज्य प्रभुसत्ता पूर्णतः अपरिमित एवं अभेद्य होती है। राज्य-प्रभुसत्ता का अन्त राज्य के अवसान को इंगित करता है।

प्रभुसत्ता की परिभाषा

विभिन्न विचारकों की दृष्टि में प्रभुसत्ता की परिभाषा इस प्रकार है—(१) "नागरिकों तथा प्रजा पर कानून से अमर्यादित राज्य की सर्वोपरि सत्ता का नाम प्रभुसत्ता है। (बोदाँ)"[1]

(२) "जिसकी इच्छा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता और जिसके कृत्य किसी अन्य के अधीन नहीं होते, उसी सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का नाम प्रभुसत्ता है।" (ग्रोशियस)

1 "It is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by laws." (Bodin)

बोदाँ सर्वप्रथम राजनीतिक विचारक था जिसने प्रभुसत्ता शब्द का प्रयोग किया।

2 "Sovereignty is the supreme political power vested in him whose acts are not subject to anyother and whose will can not be overridden." (Grotius)

(३) "राज्य के सभी व्यक्तियों और मानव-समुदायों पर जो मौलिक निरंकुश और असीम शक्ति है, उसीको प्रभुसत्ता कहते हैं।" (बर्गेस)[1]

(४) "राज्य की परमेष्ठ शक्ति ही प्रभुसत्ता है।" (विलोबी)[2]

(५) ड्यूगी[3]— 'प्रभुसत्ता राज्य की आदेश देने वाली शक्ति को कहते हैं, यह राज्य के रूप में संगठित राष्ट्रेच्छा है, उसे राज्य प्रदेश में अवस्थित समस्त मानवों को निर्बाध रूप से आदेश देने का अधिकार है।"

(६) सर फ्रेडरिक पोलक[4]—'प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी है न किसी के द्वारा दी गयी, न किसी ऐसे नियमों के अधीन जिन्हें यह बदल न सके और न पृथ्वी पर किसी अन्य शक्ति के समक्ष उत्तरदायी है।"

(७) ब्लैकस्टोन—"प्रभुसत्ता वह सर्वोच्च दुर्निवार, निरपेक्ष और अनियंत्रित सत्ता है जिसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति निवास करती है।"[5]

(८) जैलिनेक—' प्रभुसत्ता राज्य का वह वैशिष्ट्य है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी से बाधित नहीं है और न अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति द्वारा वह मर्यादित है।"[6]

---

1 "Sovereignty is the original, absolute, unlimited power over the individual subjects and over all associations of subjects" (Burgess)

2 "Sovereignty is the will of the state." (Willoughby)

3 "Sovereignty is the commanding power of the state, it is the will of the nation organised in the state, it is the right to give unconditional orders to all individuals in the territory of the state." (Duguit)

4 "Sovereignty is that power which is neither temporary nor delegated, nor subject to particular rules which it can not alter" (Sir F Pollock)

5 "Sovereignty is the supreme, irresistible, absolute uncontrolled authority in which the jura summi imperii reside" (Black stone).

6 "Sovereignty is that characteristic of the state in virtue of which it can not be legally bound except by its own will or limited by any other power than itself." (Jellinek)

(४) आस्टिन—"यदि एक सुनिश्चित उच्चतर मानव जिसे उसी प्रकार के किसी अन्य अधिकारी के आज्ञा-पालन का अभ्यास न हो और जिसकी आज्ञा का समाज के अधिकांश व्यक्ति स्वभावतः पालन करते हों, तो वह अधिकारी उस समाज का राजप्रभु है, और वह समाज (उस राजप्रभु सहित) एक राजनीतिक और स्वतंत्र समाज है। प्रभु के आदेश कानून होते हैं।"[1]

प्रभुसत्ता सिद्धान्त का विकास

प्रभुसत्ता-सिद्धान्त अरस्तू की ही भाँति पुरातन है। यद्यपि उसने अपनी रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है लेकिन उसने राज्य की सर्वोपरि शक्ति का अवश्य उल्लेख किया है। अरस्तू ने इसी सर्वोच्च शक्ति के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया है। गार्नर लिखता है, "यद्यपि प्रभुसत्ता शब्द आधुनिक है, किन्तु इसका जो भाव है वह हमें अरस्तू के साहित्य में भी मिलता है। अरस्तू ने इसके लिए राज्य की 'सर्वोच्च सत्ता' शब्द का प्रयोग किया है। रोम के कानून-विशेषज्ञों को भी इसका ज्ञान था क्योंकि उन्होंने भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए Summa Potests और Plenitude Potestatis आदि शब्दों का प्रयोग किया था। किन्तु "मध्ययुग के अधिकांश में राज्य समाज की प्रधान संस्था नहीं थी। वास्तव में प्राचीन यूनानी तथा रोमन व्यवस्था के अनुसार उस समय राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं था। किसी भी प्रदेश में व्यक्तियों पर संगठित नियंत्रण रोमन चर्च, पवित्र रोमन सम्राट्, राजा, सामन्त अधिपति ग्राम नगर तथा गिल्ड आदि विविध अधिकारियों में विभक्त था। ये विविध सत्ताएँ व्यक्ति पर अपने अधिकार का विस्तार करने के लिए प्रायः परस्पर प्रतिस्पर्धा करती थीं।"[1] फ्रांसीसी कानून-विशारद बोदाँ (Bodin) ही वह

---

1 "If a determinate human superior, not in a habit of obedience to a like superior receive habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is sover eign in that society and that society (including the super ior) is a society political and independent. the commaned of the sovereign is law" (Austin)

२ राज्य-विज्ञान में अद्वैतवादी दर्शन (Monism) से तात्पर्य है कि किसी राज्य में एकमात्र एक सर्वोच्च सत्तासम्पन्न व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह रहता है।

प्रथम विचारक था जिसने १६वीं सदी में अपनी पुस्तक 'Six Books on the Republic' में प्रभुसत्ता की प्रकृति तथा लक्षणों पर विस्तृत रूप से विचार किया। उसका मुख्य उद्देश्य फ्रांसीसी राज्य-शक्ति को सबल बनाना और उसके औचित्य को सिद्ध करना था। उसकी दृष्टि में प्रभु का मुख्य कार्य कानून की रचना है। प्रभु अपने द्वारा निर्मित कानूनों से ऊपर है। उसके इस कथन ने प्रभुसत्ता को निरपेक्ष बना दिया है। बोदाँ ने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रभुसत्ता सभी आदेशों से उच्चतर है, असीम और अविभाज्य है। इस प्रकार प्रभुसत्ता का वैशिष्ट्य है निरपेक्षता, असीमता, अविभाज्यता, व्यापकता और स्थायित्व। प्रभुसत्ता के इन्हीं के कारण बोदाँ को 'अद्वैतवाद' (Monism) का प्रथम विचारक कहा जाता है। बोदाँ ने प्रभु-शक्ति को 'कानून से असमर्थित' (unrestrained by laws) कहा है। उसकी परिभाषा का यह अंश विवादास्पद बन गया है। कुछों की धारणा है कि इसका अभिप्राय है कि प्रभु की शक्ति पर किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है, क्योंकि उसने राजा की शक्ति पर दो प्रतिबन्ध लगाए हैं—(१) नैसर्गिक तथा दैवी नियम (२) और 'राज्य के नियम'। प्रथम के अनुसार राजा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अपहरण या विधिवत् समझौतों का उल्लंघन नहीं कर सकता और दूसरे के अनुसार राजा न तो इन कानूनों की अवहेलना ही कर सकता है और न इनमें किसी प्रकार का संशोधन ही कर सकता है क्योंकि ये उसी प्रभुसत्ता से सम्बन्धित हैं, जिसको वह धारण किए है।

इस प्रकार बोदाँ ने गृह-पुरुषों की मर्यादा और नागरिकों की राज्य के प्रति कर्तव्य-परायणता तथा आदेशों के परिपालन पर विशेष बल दिया और यूरोप की बौद्धिक आकुलता को दूर करने का भगीरथ प्रयत्न किया।

हॉब्स (Hobbes) सर्वप्रथम आधुनिक दार्शनिक था जिसने प्रभुसत्तात्मक राज्य को पूर्णतः निरपेक्ष (absolute) बताया। लास्की का विचार है कि हॉब्स अद्वैतवादी दर्शन (monism) का सम्राट् था। बोदाँ ने जैसा कि ऊपर कहा है, प्रभुसत्तावादी को प्राकृतिक नियमों एवं राज्य के नियमों से प्रतिबन्धित किया था किन्तु हॉब्स ने अपने राजा पर किसी प्रकार के बन्धन नहीं लगाए और इस प्रकार उसे पूर्णतः निरंकुश बताया। उसकी शक्ति अपरिमित रही। इस प्रकार हॉब्स एक प्रतिष्ठित अद्वैतवादी था। उसका दृढ़ मत था कि जिन नियमों की पृष्ठभूमि में राज्य की तलवार न हो, वे नियम शब्दमात्र हैं। इस

दृष्टि से धार्मिक, नैतिक और नैसर्गिक नियम केवल शाब्दिक हैं। उनकी उप-योगिता उसी सीमा तक है जहाँ तक कि राजनीतिक प्रभु उन्हें मान्यता प्रदान करे। उसके मत में मानव-संघ प्राकृतिक मानव की प्रवृत्तियों में कीड़ों के सदृश हैं। इसलिए ये मानव-संघ राज्य के अन्तर्गत हैं।

लॉक (Locke) हॉब्स के विपरीत सीमित प्रभुसत्ता का प्रतिपादक था। उसका उद्देश्य राज्य विरुद्ध जन-अधिकारों का पिष्टपेषण करना था। उसने प्राकृतिक नियम, सभ्य समाज और व्यक्तिगत सम्पत्ति को सर्वोच्च बताया। लॉक ने जनता को, यदि राजा द्वारा उसके अधिकारों का दमन होता है तो शासक को अपदस्थ कर अन्य मनोनीत शासक की नियुक्ति का अधिकार दिया। माण्टेस्क्यू (Montesquieu) ने भी लॉक के मार्ग का अनुसरण किया। वह निरंकुश शासन का कटु आलोचक था और उसका अटूट विश्वास था कि स्वतंत्रता केवल विभाजन की व्यवस्था में ही सम्भव हो सकती है। इस प्रकार माण्टेस्क्यू का शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त अद्वैतवाद-विरोधी था।

हॉब्स की अद्वैतवादी विचारधारा को परिपुष्ट रूसो (Rousseau) ने किया। हॉब्स की भाँति रूसो का भी यही मत था कि राज्य की प्रभुसत्ता पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध, चाहे वह वैधानिक हो या प्राकृतिक, नहीं लगाया जा सकता। किन्तु रूसो और हाब्स की प्रभुसत्ता-सम्बन्धी मान्यताओं में भिन्नता यह है कि हाब्स प्रभुसत्ता को सन्निहित एक 'दीर्घकाय (Leviathan) में मानता है, जब कि रूसो राजनीतिक समाज (body politics) अथवा सामान्य इच्छा (General will) में। रूसो का कथन है कि वास्तविक नैतिक एवं नागरिक स्वतंत्रता केवल सामान्य इच्छा के अनुसार जीवन-यापन में ही सम्भव है। ग्रीन के अनुसार सामान्य इच्छा का अर्थ है सामान्य हित की सामान्य चेतना (Common Consciousness of the Common end)। रूसो की प्रभुसत्ता निरपेक्ष, व्यापक, अदेय, अविभाज्य और स्थायी है।

उपयोगितावादी विचारक बेन्थम (Bentham) ने हॉब्स की अद्वैतवादी विचारधारा का पुनरुत्थान किया। यह पुनरुत्थान उसने अपने व्यक्तिवादी एवं उपयोगितावादी विचारों की पुष्टि के लिए किया था। उसने प्रभुसत्ता को निरंकुश तो स्वीकार किया किन्तु उसे उपयोगिता से परिसीमित कर दिया। जिस प्रकार लॉक ने प्रभुसत्ता को प्राकृतिक एवं राजकीय कानूनों से प्रतिबन्धित किया था उसी प्रकार बेन्थम ने प्रभुसत्ताधारी को उपयोगिता से प्रतिबन्धित कर दिया। प्रभुसत्तात्मक राज्य का यह पुनीत कर्तव्य है कि उसके नियमों का आधार

'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित' हो। वीवक का विचार है कि बेन्थम ने हॉब्स के 'दीर्घकाम' पर 'अधिकतम हित' की कलश लगायी और उसे उपयोगितावादी वादी को चौंकने योग्य बनाया था।

जॉन आस्टिन (John Austin) ने दोनों, हॉब्स और बेन्थम को अद्वैतवादी विचारसरणी को वैधानिक कलेवर प्रदान किया। उसकी प्रभुसत्ता की परिभाषा अद्वैतवाद की प्रामाणिक परिभाषा है। आस्टिन ने प्रभुसत्ता पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं किया। आस्टिन की वैधानिक प्रभुसत्ता की परिभाषा Province of Jurisprudence determined नामक पुस्तक में मिलती है। उसका यह ग्रन्थ मेलबोर्न (Lord Melbourne) को समर्पित गौरव मना और उसका विचार है कि उसके अधिक गौरव रचना-अनुशीलन का सौभाग्य उसे कभी उपलब्ध नहीं हुआ। आस्टिन की परिभाषा पर विचार हम इसी अध्याय में करेंगे।

प्रभुसत्ता के इस परम्परागत सिद्धान्त पर अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों तथा बहुलतावादियों ने प्रबल आक्रमण किया है। अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों का कथन है कि जब तक राष्ट्रीय प्रभुसत्ता (National sovereignty) का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता तब तक एक शक्ति-सम्पन्न विश्व-व्यवस्था (World order) सम्भव नहीं है। बहुलवादी राज्य को अन्य मानव संघों के समकक्ष ही स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में इसकी स्थिति इन मानवीय समुदायों से उच्चतर नहीं है। अतः प्रभुसत्ता का प्रभाग आंशिक रूप में इन संघों को भी मिलना चाहिए।

प्रभुसत्ता की विशेषताएँ

१—निरपेक्षता (Absoluteness) —प्रभुसत्ता असीमित एवं निरपेक्ष मानी जाती है और भूतल पर कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो उसे मर्यादित कर सके। वह किसी के अधीन भी नहीं है। यह अंगीकार करना कि राजप्रभु किसी आन्तरिक अथवा बाह्य सत्ता द्वारा नियमित है, स्वयं प्रभुसत्ता का ही निषेध (Negation) करना है।

प्रभुसत्ता की असीमता आदि काल से ही एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। अधिकांश लेखकों के मत में प्रभुसत्ता असीम नहीं होती। उसके शक्ति-प्रयोग की भी परिसीमाएं होती हैं। ब्लंटश्ली (Bluntschli) के शब्दों में, "बाह्य क्षेत्र में प्रभुसत्ता दूसरे राज्यों के अधिकारों द्वारा और आन्तरिक क्षेत्र में अपनी

प्रकृति तथा नागरिकों के अधिकारों द्वारा नियंत्रित होती है।" इसका अभिप्राय यह है कि वैसे तो वैधानिक दृष्टि से राज्य की प्रभुसत्ता पर कोई अवरोध नहीं है, पर व्यवहारतः उसके लिए अपनी प्रजा की इच्छाओं की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। वह लोक भावनाओं के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकती। जो प्रतिबन्ध डायसी (Dicy) ने राज्य की प्रभुसत्ता पर लगाये हैं, वे दो प्रकार के हैं—(१) इस बात की अधिक सम्भावना बनी रहती है कि यदि प्रभुसत्ता का प्रयोग स्वेच्छा के विरुद्ध किया गया तो प्रजा प्रभु के विरुद्ध विद्रोह कर सकती है। (२ राज्य की प्रभुसत्ता का प्रयोग कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में रहता है जो शासन-सूत्र का संचालन करते हैं। ये शासक नैतिक मान्यताओं (ethical consideration) के प्रति नितान्त उपेक्षणीय दृष्टिकोण नहीं अपना सकते। उनका लोकाचार के प्रति सद्भाव बना रहता है।

अधिकांश राजनीतिक चिन्तकों का यह मत है कि राज्य की प्रभुसत्ता दैवी कानून (divine laws) के सिद्धान्तों द्वारा भी मर्यादित की जाती है। राज्य द्वारा सदैव तर्क एवं नैतिकतापूर्ण कार्यों का ही सम्पादन हो इसके लिए वह सचेष्ट रहता है। किन्तु इन समस्त प्रतिबन्धों की निर्भरता उसकी इच्छा पर है। ये सभी प्रतिबन्ध स्वयं ने लागू किए हैं। वैधानिक दृष्टि से पृथ्वी पर कोई भी ऐसी सत्ता अवस्थित नहीं है जो उसे इन प्रतिबन्धों को अंगीकार करने के लिए बाध्य कर सके। किन्तु इन सब प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे वैधानिक नहीं हैं। वे उसी सीमा तक राज्य के लिए प्रतिबन्ध स्वरूप हैं जिस सीमा तक वह उन्हें मानता है क्योंकि उनका आरोपण उसी के द्वारा हुआ है। अतः राज्य जब चाहे उन्हें हटा सकता है। "एक अपरिवर्तनीय विधान वैधानिक असम्भाव्यता है।" पृथक राज्य के अतिरिक्त इस बात का निर्णय कौन करे कि राज्य ने इन नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण किया है अथवा नहीं। गार्नर कहता है कि वैधानिक दृष्टि से ये मर्यादाएँ वस्तुतः प्रभुसत्ता की मर्यादाएँ नहीं हैं। "प्रकृति के नियम सदाचार के सिद्धान्त ईश्वरीय नियम मानवता तथा बौद्धिक आदेश, जनमत-भय और प्रभुत्व पर अन्य तथाकथित प्रतिबन्धों का कोई भी वैधानिक प्रभाव नहीं है। यह प्रभाव केवल उसी समय और उसी सीमा तक है जहाँ तक राज्य उन्हें अंगीकार कर लेता है और उन्हें क्रियान्वित करता है।" अतः वैधानिक प्रभुसत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। आस्टिन के इस कथन में सच्चाई है कि "कानून द्वारा सीमित सर्वोपरि सत्ता विरोधोक्ति है।"

अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी राज्य प्रभुसत्ता को प्रतिबन्धित नहीं करता, क्योंकि प्रभुसत्ताधारी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संधियों एवं समझौतों का उसी सीमा तक परिपालन करते हैं जहाँ तक उनके स्वार्थों की परिपूर्ति होती है। चीन और रूस ने कोरिया के सम्बन्ध में भारतीय प्रस्ताव को, जो बहुमत द्वारा पारित हुआ था अस्वीकार करके इस तथ्य की पुष्टि कर दी है। बहुलवादी विचारक राज्य प्रभुसत्ता को असीमित नहीं मानते। वे मानवीय संघों को राज्य के समकक्ष और उतना ही उपयोगी मानते हैं, जितना कि राज्य। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था प्रभुसत्तात्मक राज्य के प्रभाव में समीचीनत चल सके, संदिग्ध है।

२—सर्वव्यापित्व अथवा सार्वभौमता (Comprehensiveness or universality)—गार्नर लिखता है, "प्रभुसत्ता की सर्वव्यापकता से तात्पर्य राज्य-सीमाओं के अन्तर्गत प्रभुत्व की व्यापकता से है। उसका अधिकार राज्य के भीतर केवल उन वस्तुओं को छोड़कर जिन पर राज्य ने अपने अधिकार का प्रयोग स्वेच्छा से छोड़ दिया है, समस्त व्यक्तियों, संस्थाओं और वस्तुओं पर होता है।'[1] राज्य के जिन स्थानों पर विदेशी राजदूत रहते हैं, उन्हें राज्य के कानून के अधीन नहीं समझा जा सकता। गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के कथनानुसार "एक देश में एक दूतावास उसी देश से सम्बन्धित है, जिसका कि वह प्रतिनिधित्व करता है, दूतावास के सदस्य स्वयं अपने देश के कानून के अधीन हैं। यह फिर भी केवल एक अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टता (international courtesy) का विषय है और कोई वास्तविक अपवाद नहीं है। कोई राज्य अपनी प्रभुसत्ता के प्रभाव से ऐसे प्रदत्त विशेषाधिकार को मना कर सकता है।" इस प्रकार विदेशी दूतावास, विदेशी राजा या राष्ट्रपति आदि अथवा निवास [illegible] किसी राज्य में आए हुए हों या कोई कोई विदेशी सेना किसी राज्य में से होकर जा रही [illegible] तो ऐसी अवस्था-विशेष में वे सभी उस राज्य के अधिकार अथवा नियन्त्रण से विमुक्त होते हैं। राज्यों ने स्वेच्छा से इन्हें अपनी सर्वव्यापी प्रभुसत्ता के क्षेत्र से बाहर रखना अंगीकार कर लिया है।

३ स्थायित्व (Permanence)—गार्नर का कथन है "स्थायित्व का अर्थ है कि जब तक राज्य स्थित है तब तक प्रभुसत्ता प्रतिष्ठित रहती है। प्रभुसत्ताधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालीन पदच्युति तथा राज्य के पुनर्गठन के कारण

प्रभुसत्ता विनष्ट नहीं होती, वह तुरन्त नवीन प्रभुसत्ताधारी के हाथों में पहुँच जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी भौतिक पदार्थ में बाह्य परिवर्तन होने पर गुरुत्वाकर्षण केन्द्र एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान को चला जाता है।" इस प्रकार प्रभुसत्ता राज्य के सदृश ही स्थायी होती है। राज्य और उसकी प्रभुसत्ता में आत्मा और शरीर जैसा सम्बन्ध स्थापित है। जब तक राज्य स्थित है तब तक उसकी प्रभुसत्ता भी स्थित है। राज्य की समाप्ति ही प्रभुसत्ता के अन्त को इंगित करती है। किन्तु एक शासक के शरीरान्त से प्रभुसत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। "यह सरकार में एकमात्र एक व्यक्ति परिवर्तन है न कि राज्य की अविच्छिन्नता में एक व्यवधान।"[1] इस कथन का स्पष्टीकरण इस उदाहरण से होता है—"राजा स्वर्गवासी हुए, राजा चिरायु हों।"[2]

४ अदेयता (Inalienability)—अदेयता का अर्थ है कि राज्य अपनी मूलभूत विशिष्टताओं में से किसी एक का भी स्वयं को नष्ट किए बिना पृथक् नहीं कर सकता। लीबर (Leiber) के शब्दों में, जैसे एक वृक्ष अपने उगने और फलने के अधिकार को नहीं छोड़ सकता अथवा एक मनुष्य अपने जीवन या व्यक्तित्व का विनाश किए बिना अपने से पृथक् नहीं कर सकता, वैसे ही कोई राज्य अपनी प्रभुसत्ता को विनष्ट किए बिना अपने से विलग नहीं कर सकता।

रूसो का भी ऐसा ही विचार है। उसकी दृष्टि में सत्ता का हस्तान्तरण हो सकता है, पर इच्छा का नहीं। प्रभुसत्ता का विच्छेदन अथवा हस्तान्तरण सम्भव नहीं, क्योंकि यह राज्य के व्यक्तित्व का सार है और उसके हस्तान्तरण के साथ उस व्यक्तित्व का भी विनाश हो जायगा। प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोपरि सत्ता है। यह उसका जीवन-तत्व है और उसकी विलगता राज्य से उसकी आत्महत्या के सदृश है।

५ एकता या अविभाज्यता (Unity or Indivisibility)—प्रभुसत्ता की अविभाज्यता से तात्पर्य है कि इसे विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि एक राज्य में दो अधिकारी प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं तो हम उस राज्य को एक राज्य नहीं कह सकते। वस्तुतः वहाँ दो राज्य स्थित हैं। राज्य में केवल एक ही

[1] "It is only a personal change in the government, not a break in the continuity of the state."

[2] "The king dead, long live the king."

सर्वोच्च इच्छा ही सकती है। कौल्हून (Calhoun) के शब्दों में 'प्रभुसत्ता सम्पूर्ण वस्तु है उसे विभक्त करना उसे विनष्ट कर देना है। यह राज्य में सर्वोपरि सत्ता है। अर्द्ध प्रभुसत्ता की बात करना ठीक वैसा ही है जैसा कि अर्द्ध वर्ग अथवा त्रिभुज की बात करना।'[1] गैटल के मत में "विभक्त प्रभुसत्ता विरोधोक्ति है।"

किन्तु कुछ अमेरिकन विद्वान् राज्य की अविभाज्यता से सहमत नहीं हैं। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) का कथन है, 'प्रभुसत्ता का विभाजन दो समान अधिकारियों के मध्य'[2] सम्भव है। लावेल (Lowell) के विचार में 'एक ही राज्य के अन्दर दो प्रभुसत्ताधारी शासक एक ही प्रजा को आदेश दे सकते हैं, किन्तु विभिन्न मामलों में।' मैडीसन (Madison) ने भी अपनी सहमति प्रभुसत्ता के विभाजन में प्रकट की है। सम्भवतः इन अमरीकी विचारकों की धारणा का आधार संयुक्त राज्य अमरीका की शासन-प्रणाली है। अमरीका संघीय शासन प्रणाली का ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ संघीय शासन संघीय विषयों में प्रभुसत्ता को प्रयुक्त करता है और राज्यों के शासनतन्त्रों के मामलों में इसका प्रयोग करते हैं। संविधान ने शक्तियों को केन्द्र और इकाइयों के बीच विभक्त कर दिया है। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। अमरीका में प्रभुसत्ता न तो केन्द्र में और न राज्यों में सन्निहित है अपितु संविधान में संशोधन करनेवाली समिति में इसका निवास है। विपर्यय रूसो (Rousseau) के इस कथन में अत्यधिक बल है कि इच्छा का कदापि विभाजन नहीं होता केवल शासन-शक्ति विभक्त की जा सकती है। कैल्हाउन (Calhoun) विलोबी (Willoughby) और जार्ज टिकनर कर्टिस (George Ticknor curtis) प्रभृति भी इसी मत के हैं कि राज्य की प्रभुसत्ता तो अविभाज्य है, किन्तु शासनशक्ति का विभाजन हो सकता है। बहुलवादी विचारक प्रभुसत्ता को राज्य और मानवीय संघों के बीच विभक्त करते हैं, किन्तु यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समुदाय राज्य के

---

1 "Sovereignty is an entire thing to divide it is to destroy it. It is the supreme power in a state and we might just as will speak of half a square or half a triangle as of half a sovereignty" (Calhoun)

2 Sovereignty can be "divided between two co-ordinate authorities." (Bryce)

अन्तर्गत ही होते हैं, चाहे उनका क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो। वे राज्य के समकक्ष नहीं हो सकते। बहुलवाद को व्यवहृत करने का अर्थ होगा राज्य के अन्त को आमन्त्रित करना।

प्रभुसत्ता का अधिवास
(Location of Sovereignty)

यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि प्रभुसत्ता का निवास स्थान कहाँ है, अर्थात् कौन व्यक्ति या समूह राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करता है। सोलहवीं शताब्दी में जब प्रभुता के सिद्धान्त का उदय हुआ तो यह राजा में सन्निहित समझी जाती थी क्योंकि उस संघर्ष का नेतृत्व जिसके द्वारा प्रभुसत्ता उदित हुई राजा ने ही किया था। किन्तु आज के जनवादी युग में इसका निवास राजा में नहीं समझा जाता है। वस्तुतः जनतंत्र की जन्मदात्री फ्रांसीसी क्रान्ति थी। १७वीं और १८वीं शताब्दी में राजाओं की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता के विरुद्ध जन-आन्दोलन फूट पड़े। सामाजिक अनुबन्धवादी विचारक (Social Contractualists) लॉक और रूसो जनता की प्रभुसत्ता के विकास में बड़े सहायक सिद्ध हुए, किन्तु 'जनता' शब्द अनेकार्थी है। क्या 'जनता' शब्द का अर्थ उन समस्त व्यक्तियों से है जो उस राज्य में निवास करते हैं या निर्वाचक मण्डल (Electorate) से है। यदि प्रथम को स्वीकार करते हैं तो जनता एक असंगठित समुदाय है। यह असंगठित समुदाय केवल राजनीतिक प्रभुसत्ता (Political Sovereignty) की ही रचना करता है, जिसे न्यायालय मान्यता प्रदान नहीं करते क्योंकि जन-इच्छा या लोकमत कानून नहीं होता। गैटेल का यह विचार तर्कसंगत ही है कि जनता एक अनिश्चित जन-समूह के रूप में प्रभुसत्ता को प्रयुक्त नहीं कर सकती। यदि हम प्रभुसत्ता का अधिवास निर्वाचकों में मानें तो भी अनेक कठिन प्रश्न उपस्थित होते हैं—प्रथम निर्वाचक अल्पसंख्यक ही होते हैं और द्वितीय निर्वाचन द्वारा सरकार परिवर्तित होती रहती है और निर्वाचक कानून-निर्माण शक्ति से वंचित रहते हैं और निर्वाचन [illegible] निर्धारित अवधि के उपरान्त ही होते हैं। अतः निर्वाचक-मण्डल की प्रभुसत्ता अधिकांशतः सुप्त ही रहती है।

इसके अतिरिक्त कुछ विचारक प्रभुसत्ता को व्यवस्थित सर्वोच्च कानून-निर्मात्री विधान मण्डल में मानते हैं—जैसे इंग्लैण्ड में संसद् प्रभुसत्तात्मक है। किन्तु यहाँ भी हम संसद् को पूर्ण प्रभुसत्तात्मक नहीं कह सकते क्योंकि यह अभिसमयों

(Conventions) और जनमत (Public opinion) की उपेक्षा नहीं कर सकती। और जिन देशों का संविधान लिखित एवं अपरिवर्तनीय है वहाँ यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है, क्योंकि वहाँ संवैधानिक कानून और साधारण कानून में अन्तर पड़ता है—जैसे संयुक्त राज्य अमरीका यहाँ शासन-सत्ता केन्द्र और राज्यों में विभक्त है और संविधान में संशोधन के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया की आवश्यकता पड़ती है। अतः अमरीकी कांग्रेस और भारतीय संसद् को हम प्रभुसत्तात्मक विधान-मण्डल नहीं कह सकते।

उन्नीसवीं सदी के कुछ न्यायवादियों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि संघात्मक राज्यों में प्रभुसत्ता का आवास संविधान-निर्मात्री या उसमें संशोधन करने वाली संस्था में सन्निहित है। इस विचार के स्वीकार करने में भी दो बड़ी कठिनाइयाँ हैं—(१)संविधान संशोधनकारी संस्था सदा कार्य नहीं करती और इसे केवल अल्पकाल के लिए ही, जबकि संविधान में संशोधन करना होता है, आहूत किया जाता है। जब कि प्रभुसत्ता सदैव कार्य-सम्पादन में रत रहती है। (२) गैटेल के अनुसार, यह संस्था अपरिमित अधिकारों से सम्पन्न नहीं होती। यह कानून नहीं बना सकती, केवल संशोधन कर सकती है। अतः यह प्रभुसत्तात्मक नहीं हो सकती।''

आधुनिक काल में, विशेषतः, वैन्स इस मत के हैं कि प्रभुसत्ता प्रतिष्ठित होती है समस्त विधि निर्मात्री संस्थाओं के योग में। व इन संस्थाओं में प्रभुसत्ता का निवास मानते हैं—(१) व्यवस्थापिका-राष्ट्रीय राज्यीय और स्थानीय, (२) न्यायालय, जहाँ तक कि कानून की व्याख्या और निर्वचन (interpretation) में कानूनों का निर्माण करते हैं, (३) कार्यपालिका और प्रशासनिक अधिकारी जो अध्यादेश और अध्यारोपणादि के द्वारा कानून का निर्माण करते हैं, (४) निर्वाचक मण्डल जब कि वह जनमत-संग्रह (Referendum or Plebiscite) के अधिकारों का उपयोग कर रहा है और (५) सम्मेलन (Convention) जब वे विधायक- कानून निर्मात्री सभा के रूप में कार्य करते हैं। किन्तु डिलकास्ट ने इस सिद्धान्त के प्रति असहमति प्रकट की है। उनका विचार है कि इस सिद्धान्त की निर्भरता राज्य और सरकार के भ्रमात्मक अर्थों पर है। राज्य-प्रभुसत्ता का तात्पर्य, इस सिद्धान्त के समर्थकों की दृष्टि में राज्येच्छा के प्रकटीकरण से है। इस प्रकटीकरण में समस्त कानून-निर्माण करने वाले अंग सम्मिलित हैं। राज्य में प्रभुसत्ता सन्निहित है, इसी कारण से वे इस इच्छा को अभिव्यक्त करते हैं।

ये अंग एकमात्र उस विशिष्ट तत्व को प्रकट करते हैं, किन्तु उनका योग प्रभुसत्ता नहीं है। इन अंगों और सरकार द्वारा राज्य-प्रभुसत्ता का स्वरूप एकमात्र प्रकटी करण ही है। इसलिए "ये राज्य प्रभुसत्ता के विभाग होने की अपेक्षा उसकी आत्मिक एकता के आकार रूप हैं।" इस विवादमय स्थिति में, प्रभुसत्ता के अधिवास की समस्या का केवल एक ही हल है और वह यह है कि हम प्रभुसत्ता को अधिष्ठित समस्त राज्य में स्वीकार करें।

प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप
(Various aspects of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के विभिन्न स्वरूप जिनका वर्णन राजनीतिक विचारकों ने किया है, निम्नलिखित हैं—(१) नाम मात्र की प्रभुसत्ता (Nominal or Titular Sovereignty)—व्यवहार में प्रभुसत्ता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। जिन राज्यों में वैध शासन (Constitutional Government) अधिष्ठित है उनके नाम मात्र के अधिपति को प्रभु कहते हैं। ब्रिटेन का सम्राट् इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। शासन का सम्पूर्ण कार्य उसी के नाम से चलता है। राज्य के समस्त आदेश उसी के नाम से प्रसारित किए जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति अथवा समुदाय ने राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह किया हो या किसी अन्य प्रकार से राज्य का अहित किया हो तो ऐसी स्थिति में उन पर चलाए गए अभियोगों में वादी का स्थान राजा को ग्रहण करना पड़ता है। वस्तुस्थिति यह है कि राजा किसी भी प्रकार की शक्ति से सम्पन्न नहीं होता। वह तो एक खिलौना मात्र है। उसकी असमर्थता इसी से प्रमाणित होती है कि यदि उससे अपने ही मृत्यु दण्ड-पत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा जाय तो वह अस्वीकार नहीं कर सकता। मध्य कालीन ब्रिटिश सम्राट् वस्तुतः प्रभु था, इसी कारण उसे प्रभु की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। उस समय उसकी इच्छा ही ब्रिटिश कानून थी। यद्यपि आधुनिक स्थिति भिन्न है तथापि प्राचीन परम्पराएँ उसे आज भी प्रभु बनाए हुए हैं। किन्तु वास्तविक प्रभुसत्ता का उपभोग सम्राट् न करके ब्रिटिश संसद् करती है। वह तो नाम मात्र का प्रभु है और इसे हम नाम मात्र की प्रभुसत्ता भी कह सकते हैं। जिस प्रकार एक पताका का उद्देश्य एक विशिष्ट भाव, एक पुनीत विचार और आदर्शों को अभिव्यक्त करता है, ठीक वैसे ही ब्रिटिश प्रभुसत्ता राजा द्वारा प्रकट होती है।

(२) वैधानिक प्रभुसत्ता (Legal Sov reignty)—बहुधा वैधानिक एवं राजनीतिक प्रभुसत्ता में विभेद किया जाता है। राज्य में कानून निर्माता को सर्वोच्च

संस्था होती है, उसी जगह जिसके आदेशों पर आचरण होता है, वैधानिक दृष्टि से जिस पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता और न्यायपालिका भी जिसके आदेशों का परिपालन करती है वही प्रभुसत्ता वैधानिक है। यदि वैधानिक प्रभुसत्ता द्वारा निर्मित कानून आलोचनीय एवं अनैतिक है तो भी न्यायालय उसके कार्यान्वयन के लिए बाध्य है। ऐसी प्रभुसत्ता इंग्लैण्ड में राजा सहित संसद (King in Parliament) है। डायसी का कथन है, 'संसद् वैधानिक दृष्टि से इतनी सत्ता सम्पन्न है कि वह एक शिशु को पूर्ण वयस्क कर सकती है, वह मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति को राजद्रोह का अपराधी बना सकती है वह अवैध बच्चे को वैध बना सकती है और यदि उचित समझे तो वह एक व्यक्ति को अपने ही अभियोग में न्यायाधीश नियुक्त कर सकती है।'[1] १९११ में ब्रिटिश संसद ने अपना कार्यकाल ५ से ७ वर्ष कर लिया। यह कार्य ऐसा था जिसे कोई प्रभुसत्ताधारी ही कर सकता था। संसद् साधारण विधि और संवैधानिक विधि के संशोधन के लिए एक ही प्रक्रिया को अपनाती है। ब्रिटिश संसद् के विरुद्ध अवैधता के तर्क को कोई भी न्यायालय नहीं सुनेगा, चाहे वह संविधान के परिरक्षण नियम के विरुद्ध ही क्यों नहीं हो। (गार्नर)

(२) राजनीतिक प्रभुसत्ता (Political Sovereignty) राजनीतिक प्रभुसत्ता को परिभाषित करना दुष्कर कार्य है। जहाँ जनवादी प्रणाली प्रतिष्ठित है, एक ओर वहाँ वैधानिक प्रभुसत्ता (Legal Sovereignty) है, जो सर्वोपरि कानून-निर्मात्री एवं कार्यान्वयनकारी सत्ता है और दूसरी ओर अविवादित है उसके पीछे वहाँ की जनता की सम्मति अथवा इच्छा जो सभी प्रकार की अधिकार-शक्ति का सर्वोपरि एवं अन्तिम स्रोत है। इस सत्ता के निर्णय के विरुद्ध अपील का प्रश्न ही नहीं उठता। डायसी के मतानुसार, "जिस प्रभु को वकील-वर्ग स्वीकार करता है उसके पीछे एक अन्य प्रभु भी निवास करता है जिसके सम्मुख वैधानिक प्रभुसत्ता को नतमस्तक होना पड़ता है।" "वही सत्ता राजनीतिक प्रभुसत्ता है जिसकी इच्छा का परिपालन अन्तिम रूप में नागरिक करते हैं।"

---

1 The parliament according to Dicey is, "so competent legally Speaking .. that it can adjudge an infant of full age it may attain a man of treason after death, it may legitimise an illegitimate child, or, if it sees fit, make a man a judge in his own case" (Dicey)

गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने इसे परिभाषित किया है, "राज्य की वह सम्पूर्ण प्रभावपूर्ण सत्ता जो कानून के पीछे विद्यमान रहती है।" जनवादी राष्ट्रों में जहाँ प्रत्यक्ष जनतंत्र स्थापित है वहाँ वैधानिक प्रभुसत्ता ही राजनीतिक प्रभुसत्ता होती है, किन्तु अप्रत्यक्ष जनतंत्र में इन दोनों के मध्य एक विभेद रहता है। ऐसी शासन-प्रणाली में, विभिन्न राजनीतिक विचारक प्रभुसत्ता को संगठित समाज (Collective Community), सामान्य इच्छा (General will) आम जनता (mass of the people), जनमत (Public opinion) और शारीरिक शक्ति (Physical power) के साथ एकत्रित कर सकते हैं। गार्नर की दृष्टि में, राजनीतिक प्रभु-सत्ता निर्वाचक मण्डल है, संसद् नहीं, क्योंकि निर्वाचक यदि आज्ञाकारिता पर बल दे तो संसद् को अन्ततोगत्वा लोकमत की आज्ञा को वैधानिक कलेवर देना ही पड़ेगा। गिलक्राइस्ट का विचार है कि "आधुनिक विस्तृत राष्ट्रीय राज्यों में वैधानिक एवं राजनीतिक प्रभुसत्ता का अन्तर सरकार-परिवर्तन या व्यवस्थापिका के पुनर्गठन के समय प्रत्यक्षत: दृष्टिगोचर होता है।

किन्तु कुछ राजनीतिक लेखकों की धारणा है कि वैधानिक और राजनीतिक प्रभुसत्ता में विभेद नहीं हो सकता, क्योंकि प्रभुसत्ता अविभाज्य और पूर्ण होती है। रीचि के मत में, "वैधानिक प्रभु के पीछे किसी एक राजनीतिक प्रभुसत्ता के अन्वेषण का प्रयास प्रभुसत्ता के समस्त विचार को विनष्ट कर देता है।" किन्तु यह भ्रान्ति निराधार है, क्योंकि वैधानिक और राजनीतिक प्रभुसत्ता के मध्य जो विभेद है उसकी आधारभूमि विभक्त प्रभुसत्ता का सिद्धान्त नहीं है। प्रभुसत्ता तो एक ही है, किन्तु ये उसके विभिन्न स्वरूप हैं। बहुधा ऐसा होता है कि वैधानिक प्रभु की इच्छा राजनीतिक प्रभु की इच्छा के अनुरूप नहीं होती। अत: ऐसी स्थिति में राजनीतिक प्रभु के इच्छानुसार कानूनी प्रभु का पुनर्गठन होना चाहिए। जनवाद की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक प्रभु की इच्छा को वैधानिक प्रभु अभिव्यक्त करता रहे।

1 "The will of the legal Sovereign is or should be the, authorised embodiment or manifestation of the will of the Political Sovereign if the popular will is accurately expressed by the Legal Sovereign, the power of the people is effective otherwise it is not" (Mckechnie)

(४) लोक प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty)—लोक प्रभुसत्ता सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम प्रभुसत्ता जनता में सन्निहित होती है। प्राचीन काल में जन प्रभुसत्ता को कुछ अनिश्चित एवं अस्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया था। रोमन विधिज्ञों ने यह विश्वास प्रकट किया था कि सम्राट् की शक्ति का स्रोत जनता है। मध्ययुग में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मार्सीलियो ऑफ पेडुआ (Marsiglio of Padua) विलियम ऑफ ओकम (William of Ockam), जार्ज बुकानन (George Buchanan) और एलूथियस (Allhusius) प्रभृति ने किया। लॉक ने भी लोक प्रभुसत्ता के विचार को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। किन्तु निर्भीक रूसो ने, अठारहवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की घोषणा 'डंके' की चोट पर की। रूसो ने कहा कि प्रभुसत्ता जनता में सन्निहित है जिसका प्रतीक सामान्य इच्छा है। उसके ये ही विचार भावी विचारकों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने। फ्रांसीसी क्रान्ति का यह जयघोष बना और जेफरसन (Jefferson) ने अमरीकी संविधान में इस सिद्धान्त के औचित्य पर बल दिया और कहा कि शासक अपनी शक्ति शासितों की अनुमति से उपलब्ध करते हैं। यही "जनवाद की आधार-पीठिका एवं आदर्श है।" (गार्नर)। रिची (Ritchie) भी इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों में से हैं। उनका कथन है कि जनता प्रत्यक्षतः इस सर्वोपरि शक्ति को अपनी निर्वाचन-शक्ति के द्वारा प्रयुक्त करती है जबकि अप्रत्यक्षतः वह दूसरा प्रयोग अपने प्रभाव, आतङ्क और क्रान्ति की सम्भावना द्वारा करती है। राजा को भी अन्ततः अपने आदेशों के परिपालनार्थ पाशविक शक्ति का सहारा लेना पड़ता है और यह पाशविक शक्ति भी जन-समाज की ही होती है। एतदर्थ जनता ही प्रभु होती है। जनता अपनी इस शक्ति के बल पर कानून तथा उच्चतम शक्ति को भी अपनीत कर सकती है और यदि आवश्यक समझे तो अपदस्थ भी कर सकती है। किसी भी वैधानिक प्रभुसत्ता को दीर्घकाल तक जन-भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हुए प्रतिष्ठित रहना सम्भव नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में, जनता अन्ततोगत्वा शक्ति का अवलम्बन ले क्रान्ति करके, एक नव शासन की प्रतिष्ठा कर सकती है। 'लोकप्रिय शासन' (Popular government) और जन-नियन्त्रण (Public Control) जो जनवाद के पर्याय-वाची शब्द हैं जनता की प्रभुसत्तात्मक भावना की अभिव्यक्ति करते हैं।

लोक-प्रभुसत्ता की परिभाषा करना निस्सन्देह बड़ा ही जटिल कार्य है। लोक प्रभुसत्ता में, 'लोक' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है—प्रथम के अनुसार असंगठित, अनिश्चित मानव-समुदाय है और द्वितीय के अनुसार,

कुल जनता का वह भाग जिसे मताधिकार प्राप्त है और जो इसे प्रयुक्त करते हैं। गार्नर का कथन है, 'वैधानिक रीति से प्रभुसत्ता का प्रयोग एकमात्र वे ही व्यक्ति कर सकते हैं और वे भी केवल *वैधानिक मार्गों* से, जिनको विधि द्वारा मताधिकार अथवा विशेषाधिकार दिया गया हो। असंगठित जनमत, चाहे कितना ही *शक्तिसम्पन्न* हो, उस समय तक वह प्रभुसत्तात्मक नहीं हो सकता जब तक कि उसे वैधानिक कलेवर प्रदान नहीं किया जाय—ठीक उसी भाँति, जिस प्रकार विधान-मण्डलीय सदस्यों का अनौपचारिक एवं वैयक्तिक प्रस्ताव विधि नहीं बन सकता।'[1]

लोक प्रभुसत्ता और राजनीतिक प्रभुसत्ता में विभेद (Difference between Popular Sovereignty and political Sovereignty)—लोक-प्रभुसत्ता और राजनीतिक प्रभुसत्ता के विवेचन से ऐसा आभासित होता है कि दोनों में कोई विभेद नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। *राजनीतिक प्रभुसत्ता का अर्थ किसी लघु समुदाय* बुद्धिमानों और निम्न संगठित शक्ति से हो सकता है। यह व्यवस्थित जनसमूह की शक्ति अथवा इच्छा है जबकि लोक प्रभुसत्ता समस्त जनता की होती है। फिर भी राजनीतिक प्रभुसत्ता और लोकप्रभुसत्ता में जनवाद तथा मताधिकार के विस्तार के कारण विभाजक रेखा बड़ी ही संकीर्ण हो गयी है। गिलक्राइस्ट के मतानुसार, "लोक प्रभुसत्ता एक शासक अथवा वर्गों की शक्ति के विरुद्ध जनसाधारण की शक्ति है, जिसमें दो बातें सन्निहित हैं—व्यापक मताधिकार और जन प्रतिनिधियों द्वारा विधान-सभाओं पर नियंत्रण।"[2]

---

1 "Sovereign power can be legally exercised only by those upon whom the Law confers the right or privilege of voting, and then only through legal channels. Unorganised public opinion, however powerful, is not Sovereignty *unless it is clothed in legal form* no more so than the informal or unofficial resolutions of the members of the legislative body is law." (Garner)

2 "Popular sovereignty roughly means the power of the masses as contrasted with the power of an individual ruler or of the classes. It implies universal sufferage and the control of the legislature by the *representatives of the* people." (Gilchrist)

लोक-प्रभुसत्ता का महत्त्व

यद्यपि यह सिद्धान्त पर्याप्तरूपेण अस्पष्ट-सा प्रतीत होता है किन्तु इस प्रभुसत्ता के होने पर भी यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

यह सिद्धान्त जनहित-भावना पर बल देता है। सरकार का अस्तित्व स्वयं किसी कल्याण की अपेक्षा जन कल्याण के लिए है। यदि जन भावनाओं का दमन होता है, उसके प्रति उपेक्षणीय दृष्टिकोण अपनाया जाता है तो क्रांति की सम्भावना बनी रहती है। अतः यह आवश्यक है कि वैधानिक प्रभु को जनमत का अनवरत ध्यान रखना चाहिए। जनमत की अभिव्यक्ति के लिए उचित वैधानिक उपाय होने चाहिए। जनता के हित अपेक्षाकृत वर्ग-विशेष के हितों के अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जनतन्त्र में शासन जनता का, जनता के लिए और जनता के द्वारा ही होता है।

इस सिद्धान्त की उपादेयता के बावजूद इसमें कुछ गम्भीर दोष भी हैं। सर्वप्रथम, यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि जनता उच्च नैतिक बल से सम्पन्न होती है। किन्तु आधुनिक वैधानिक युग में शक्ति से युक्त छोटा-सा मानवसमूह असंगठित विशाल जन-समुदाय को बड़ी सरलता से नियंत्रित कर सकता है। द्वितीय, यह सिद्ध करना भी दुष्कर है कि प्रभुसत्ता का अधिवास मतदाताओं में है, क्योंकि अधिकांश मतदाता अपने मतों का प्रयोग नहीं करते और जो प्रयोग भी करते हैं उनमें निर्णय-शक्ति का अभाव होता है और वे बहुधा उच्चकोटि के वक्ताओं अथवा दलीय नेताओं के आकर्षक प्रलोभनों से प्रभावित हो मतदान करते हैं। फलतः प्रभुसत्ता इन मतदाताओं में सन्निहित न होकर प्रभावकारी तत्त्वों में सन्निहित होती है। अतः यदि हम व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य से देखें तो असंगठित जनसमाज अथवा साधारण मतदाताओं की प्रभुसत्ता का कोई औचित्य ही नहीं है।

(४) वैधानिक और यथार्थ प्रभुसत्ता (De Jure and De facto)—प्रभुसत्ता केवल सैद्धान्तिक ही न होकर राजनीति की एक प्रत्यक्ष वस्तु है। यही आधार है जिसके कारण इन दोनों में विभेद किया जाता है। वैधानिक प्रभुसत्ता वैधानिक दृष्टि से सर्वोपरि होती है और समस्त कानून राज्य में उसी के नाम से प्रचलित किए जाते हैं। इसका आधार भौतिक शक्ति (Physical power) नहीं होता। विधि की दृष्टि में यही प्रभुसत्ता मान्य होती है और वैधानिक प्रभु के अपदस्थ किए जाने पर भी, [illegible] आदेश देने और आदेश-परिपालन के अधिकार

से सम्पन्न होता है। यथार्थ प्रभुसत्ता विधि की दृष्टि में अमान्य होती है। विधि उसे यह अधिकार नहीं प्रदान करती कि वह अपने आदेशों को प्रसारित करे और जनता को इनके परिपालनार्थ बाध्य करे। जनता इसके आदेशों को भयाक्रान्त होकर ही मानती है। यथार्थ प्रभुसत्ता का आधार सर्वथा एकमात्र भौतिक ही नहीं होता प्रत्युत आध्यात्मिक भी होता है। इतिहास यथार्थ प्रभुसत्ता के उदाहरणों से परिपूर्ण है। अनेक अधिनायक शासकों अथवा सेनापतियों ने क्रान्ति करके वैधानिक प्रभुसत्ता की परिणति यथार्थ प्रभुसत्ता में की है। उदाहरणार्थ—रूस की १९१७ की क्रान्ति, १९३९ में स्पेन में गृह-युद्ध के उपरान्त जनरल फ्रांको का सत्ताधिपत्य, मिस्र में जनरल नजीब द्वारा शक्ति हस्तगत करना और अफगानिस्तान में नादिर शाह द्वारा शक्ति ग्रहण करना। कुछ काल बाद इस प्रकार का अधिनायक वैधानिक प्रभु का रूप धारण कर लेता है। जो यथार्थ प्रभु देश में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने में सफलीभूत हो जाते हैं उन्हें अन्ततः जनता श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगती है और उनके आदेशों का पालन करने लगती है। फिर जनता के लिए वही वैधानिक प्रभु बन जाते हैं। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने इन दोनों प्रभुसत्ताओं के विभेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—(१) जब वैधानिक प्रभुसत्ता की स्थिति सुदृढ़ रहती है तब यथार्थ प्रभुसत्ता भी उसमें सन्निहित होकर दृढ़ होती है। (२) वैधानिक प्रभुसत्ता के अनिश्चित होने पर यथार्थ प्रभुसत्ता भी अनिश्चित होती है। (३) यथार्थ प्रभुसत्ता के दृढ़ होने पर कुछ काल के लिए वैधानिक प्रभुसत्ता अनिश्चित रहती है, किन्तु अन्ततः प्रकट होती है और यथार्थ प्रभुसत्ता के साथ एकाकार हो जाती है और फिर वैधानिक प्रभु की संज्ञा से अभिहित होती है। (४) यथार्थ प्रभुसत्ता की अव्यवस्थित स्थिति में वैधानिक प्रभुसत्ता भी भयंकर स्थिति में आ पड़ती है।

आस्टिन का प्रभुसत्ता-सम्बन्धी सिद्धान्त

(Austin's theory of Sovereignty)

वैधानिक प्रभुसत्ता के आधुनिक व्याख्याकार बोदाँ और बेन्थम हैं। बोदाँ के अनुसार, 'विधि द्वारा शासित प्रत्येक स्वतंत्र समाज में किसी ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है, चाहे यह सत्ता एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों के हाथ में हो, जो विधि का निर्माण और कार्यान्वयन करे। यह सत्ता विधि का स्रोत होने के कारण विधि से उच्चतर रहनी चाहिए, कर्तव्य और नैतिक उत्तरदायित्वों में उच्चतर न होकर।" बेन्थम के शब्दों में, "वैधानिक दृष्टि से प्रभुसत्ता असीम

है और ऐसी स्थितियाँ पैदा हो जाती हैं जिनमें नैतिक दृष्टि से प्रतिरोध होना ठीक होता है।" किन्तु बेन्थम तथ्य पर अधिक बल देता है कि 'सम्प्रभु के लिए यह परम आवश्यक है कि वह अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिक सुख की दृष्टि से सामञ्जस्य कानूनों का निर्माण कर अपनी सत्ता का औचित्य सिद्ध करे।" जान आस्टिन ने जो उन्नीसवीं शताब्दी का प्रख्यात न्यायशास्त्री (Jurist) था, वैधानिक प्रभुसत्ता की विशद व्याख्या अपनी पुस्तक (Lectures on Jurisprudence) में की है। हॉब्स और बेन्थम का स्पष्ट प्रभाव उस पर दृष्टिगोचर होता है। आस्टिन की प्रभुसत्ता की परिभाषा उसकी कानून की परिभाषा से सम्बन्धित है। कानून की परिभाषा उसके मत में, 'प्रत्येक कानून पूर्णरूपेण उचित अर्थ में एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह की एक स्वतंत्र राजनीतिक समाज के सदस्य या सदस्यों को, जिसमें व्यक्ति या व्यक्ति-समूह सम्प्रभु है, प्रदत्त आज्ञा है।'[1] कानून की इस परिभाषा के उपरान्त आस्टिन के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह सम्प्रभु (Sovereign) के स्वरूप एवं लक्षणों का विवेचन करे। उसके कथनानुसार "यदि एक सुनिश्चित श्रेष्ठतर मानव जिसे उसी प्रकार के किसी अन्य अधिकारी के आज्ञा-पालन का अभ्यास न हो और जिसकी आज्ञा का समाज के अधिकांश व्यक्ति स्वभावतः पालन करते हों, तो वह अधिकारी उस समाज का राजप्रभु है, और वह समाज (उस राजप्रभु सहित) एक राजनीतिक और स्वतंत्र समाज है। प्रभु के आदेश कानून होते हैं।"[2]

आस्टिन के इस प्रभुसत्ता-विषयक सिद्धान्त में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह

1 "Every positive Law or every Law Sunply or Strictly so called, is set directly or cerculiously, by a sovereign person or body to a member or members of the independent political society wherein that person or body is sovereign or Supreme" (John Austin)

2 If a determinate human superior not in a habit of obedience to a like Superior, receive habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is Sovereign in that society- and the society, (including the Superior) is a society political and independent. The Command of the sovereign is law' (John Austin)

है कि यह शक्ति को निर्णायक तत्व मानता है। ग्रीन 'इच्छा' पर बल देता है जब कि आस्टिन शक्ति पर। बोसांके (Bosanquet) का कथन है कि, 'आस्टिन की प्रभुसत्ता-सम्बन्धी धारणा की आधार-पीठिका शक्ति है, हम आदर्शवादियों के विचार में प्रभुसत्ता आधारित है समस्त जनसमाज की इच्छा पर।'[1] टी० एच० ग्रीन ने प्रयास किया है आस्टिन और रूसो के परस्पर विरोधी विचारों में सन्धि स्थापित करने का।

आस्टिन की इस प्रभुसत्ता की परिभाषा का सार निम्नलिखित चार प्रमेयों (Propositions) में है—

(१) प्रत्येक राज्य (जो आस्टिन के अनुसार एक स्वतंत्र राजनीतिक समाज है) में एक सुनिश्चित उच्चतर मानव होता है जिसकी आज्ञा का परिपालन समाज में अधिकांश नागरिक स्वभावतः करते हैं।

(२) यह उच्चतर मानव जो कुछ भी आज्ञा देता है वही कानून होता है और उसकी आज्ञा के बिना किसी कानून का निर्माण नहीं हो सकता।

(३) इस उच्चतर मानव की शक्ति, जिसे प्रभुसत्ता कहते हैं, अविभाज्य है।

(४) यह प्रभु की शक्ति, निरपेक्ष होती है, और यह प्रतिबन्धित नहीं की जा सकती।

आलोचना

आस्टिन की प्रथम मान्यता यह है कि प्रत्येक राज्य में एक सुनिश्चित उच्चतर मानव होता है जिसकी आज्ञा का परिपालन राज्य के नागरिकों का अधिकांश भाग स्वभावतः करता है। हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने अपनी पुस्तक 'Early Institutions' में इसकी आलोचना की है। उसके कथनानुसार पूर्व के अनेक साम्राज्यों में आस्टिन के 'सुनिश्चित उच्चतर मानव' जैसी सत्ता का कोई अस्तित्व ही नहीं है। उसने पंजाब के राजा रणजीत सिंह का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उस के मत में रणजीत सिंह ने अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकारों का प्रयोग किया था और उसके छोटे से आदेश का उल्लंघन करने पर अंग-भंग का दण्ड अथवा मृत्यु-दण्ड मिलता था। किन्तु ऐसे निरंकुश राजा ने भी कभी सामाजिक परम्प

1 "Austinian sovereignty is based on the idea of force; Sovereignty in our sense (the idealistic) is based on the will of the whole."

रागत कानूनों (Customary laws) का प्रतिपादन नहीं किया। रूढ़ियों और परम्पराओं का विकास अनेक युगों में होता है और किसी 'निश्चित वर्ग अथवा व्यक्ति-समूह' को उनकी उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता। अतः इससे यह स्पष्ट है कि आस्टिन ने जिस प्रभु का उल्लेख किया है वह राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं है। फिर, जॉन चिपमेन ग्रे (John Chipman gray) का कथन है कि समाज के वास्तविक शासक खोजे नहीं जा सकते। जहाँ संघात्मक शासन-प्रणाली प्रतिष्ठित है वहाँ किसी 'सुनिश्चित उच्चतर मानव' की ओर संकेत करना और भी कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त आस्टिन की यह प्रभुसत्तात्मक विचार-धारा जन-प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) के आधुनिक सिद्धान्त के अनुकूल नहीं प्रतीत होती। गार्नर के शब्दों में, "वह उच्चतर मानव (अर्थात् आस्टिन का प्रभु) जैसा कि उसी ने विचार किया था, न तो सामान्य इच्छा ही हो सकती है और न जन-समूह, न निर्वाचक-मण्डल, न जनमत, न नैतिक भावना, न सामान्य विवेक और न परमात्मा की इच्छा आदि ही।

(२) आस्टिन की द्वितीय प्रस्थापना यह है कि प्रभु जो आदेश देता है वही कानून है और उसके बिना कोई कानून नहीं है। वही सर्वोच्च विधान निर्माता है। किन्तु आलोचकों का मत है कि प्राचीन साम्राज्यों में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। इन साम्राज्यों में शासक का प्रमुख कार्य राजस्व-कर एकत्र करना और सैन्य-संगठन करना था। 'समय-समय पर प्रदत्त विशिष्ट आदेशों' के अतिरिक्त वह अन्य किसी प्रकार के कानूनों को लागू नहीं करते थे और न कभी परम्परागत विधान को न्यायालयों द्वारा ही लागू किया गया। यह अधिकार-सत्ता सामान्यतः स्थानीय ग्राम-पंचायतों में ही सन्निहित थी। आस्टिन के प्रभुसत्ता-सम्बन्धी सिद्धान्त में मुख्य दोष यह है कि सभी प्रकार के कानूनों को केवल आदेश मान लिया गया है और केवल शक्ति पर ही विशिष्ट बल दिया गया है। प्रो॰ लास्की (Prof Laski) के शब्दों में "कानून को एकमात्र एक आदेश मानना न्याय विद् के लिए, परिभाषा को शीलता की सीमा तक खींचना है, कानून में एक प्रकार की एकरूपता होती है, जिसमें आदेश का तत्त्व लगभग अदृश्यप्राय हो जाता है।"[1] उदाहरणार्थ यह कहा जा सकता है कि मताधिकार-कानून आदेश

---

1 'To think of law as simply a Command is, even for the jurist, to strain definition to the verge of decency for, there is a charactor of uniformity in law in which the element of Command is, practically speaking, pushed out of sight."
(Laski)

नहीं है। दुग्वी (Duguit) तो यहाँ तक कहता है कि कानूनों का निर्माण राज्य द्वारा नहीं होता, प्रत्युत कानून ही राज्य का निर्माण करते हैं। वे तो सामाजिक आवश्यकता की एकमात्र अभिव्यक्ति हैं।

(३) आस्टिन की तीसरी मान्यता यह है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है। किन्तु यह कथन भी तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में जहाँ एकात्मक शासन प्रणाली (Unitary form of government) प्रतिष्ठित है और परिवर्तनशील संविधान लागू है, वहाँ किसी सीमा तक यह स्वीकार किया जा सकता है कि व्यवस्थापिका ही सम्प्रभु है और प्रशासन के शेष दो भाग कार्यपालिका और न्यायपालिका उसके अन्तर्गत हैं। किन्तु जिन देशों में संघात्मक शासन-पद्धति को अपनाया गया है—जैसे, अमरीका, वहाँ कैसे प्रभुसत्ता को अविभाज्य कहा जायगा। वस्तुतः वहाँ तो केन्द्र और राज्यों के मध्य क्षेत्रीय सीमाएँ सुनिश्चित हैं और परस्पर क्षेत्रीय अतिक्रमण सम्भव नहीं है।

(४) आस्टिन का चतुर्थ प्रमेय यह है कि प्रभुसत्ता निरपेक्ष और असीम होती है तथा नैतिक वैधानिक दृष्टि से प्रतिबन्धित नहीं की जा सकती। आलोचकों ने आस्टिन के इस विचार से भी अपनी असहमति प्रकट की है। ब्लंटश्ली (Bluntschli) का कथन है कि, "राज्य अपने समग्र रूप में सर्व सत्तात्मक नहीं है, क्योंकि बाह्य दृष्टि से यह अन्य राज्यों के अधिकारों और आन्तरिक दृष्टि से स्वयमेव निजी प्रकृति एवं व्यक्तिगत सदस्यों के अधिकारों से परिसीमित है।[1]" लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen) ने ब्रिटिश संसद की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कहा है कि यह बाहर और भीतर दोनों ओर से परिसीमित है। भीतर से यह इस कारण परिसीमित है, क्योंकि व्यवस्थापिका कुछ निश्चित सामाजिक परिस्थितियों की उपज है और समाज का निर्धारण करने-वाली शक्तियों से यह भी निर्धारित है। बाहर से परिसीमित होने का कारण यह है कि कानून लागू करने की उसकी शक्ति व्यक्तियों की कानून-परिपालन करने की प्रेरणा पर निर्भर है और यह प्रेरणा स्वयमेव सीमित है। यदि व्यवस्थापिका यह निर्णय ले कि नीली आँखों वाले सभी बच्चों की हत्या कर देनी चाहिए, तो ऐसे बच्चों को बचाए रखना अवैध हो जायगा, किन्तु व्यवस्थापिका ऐसा कानून पारित

---

1 "The state as a whole is not almighty, for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and by the rights of its individual members." (Bluntschli)

करने पूर्व विक्षिप्त हो जाएगी और जनता ऐसे कानून के सम्मुख नतमस्तक होने से पूर्व मूढ़ एवं मूर्ख हो जाएगी।"[1] किन्तु तथ्य यह है कि परमपूर्ण एवं असीमित प्रभुसत्ता का अस्तित्व कहीं भी नहीं है। जेम्स स्टिफन (James Stephen) के मत में, "जिस प्रकार प्रकृति में कोई पूर्ण वृत्त नहीं है, उसी प्रकार प्रकृति में कोई ऐसा प्रभु नहीं है जो परमपूर्ण हो। अधिनायकवादी राज्यों में ऐसे अनेक प्रभाव होते हैं जो प्रभुसत्ता को प्रभावित करते रहते हैं।

ऑस्टिन के प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीयतावादी और बहुलवादी दोनों ने कटु आलोचना की है। प्रथम के अनुसार अमर्यादित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त विश्वशान्ति के साथ मेल नहीं खाता जैसा कि लास्की का कथन है, 'निश्चित ही बाह्य दृष्टि से एक ऐसे निरपेक्ष और स्वतंत्र सर्वसत्तात्मक राज्य—जो अपने सदस्यों से अपनी सरकार के प्रति पूर्ण राज-निष्ठा की माँग करता हो और अपनी शक्ति के बल पर उसका परिपालन कराता हो, की परिकल्पना मानवता के हितों से मेल नहीं खाती। सर्जनात्मक सभ्यता में राज्यों के पृथक्-पृथक् होने की ऐतिहासिक घटना की महत्ता नहीं है, अपितु संसार की पारस्परिक निर्भरता के वैज्ञानिक तथ्य की महत्ता है। विश्व ही निष्ठा की वास्तविक इकाई है। आज्ञाकारिता का वास्तविक दायित्व मानव मात्र के समग्र हितों के प्रति है।"[2]

---

1 It is "limited both from within and without, from within because the legislature is the product of a certain social condition, and determined by whatever determines society, and from without because the power of imposing law is dependent upon the instinct of subordination which is itself limited. If a legislature decided that all blue-eyed babies should be murdered, the preservation of blue eyed babies would be illegal, but legislatures must go mad before they could pass such a law and subjects be idiotic before they could submit to it" (Leslie stephen)

2 "Externally, surely the concept of an absolute and independent sovereign state which demands an unqualified allegiance to government from its members and enforces the allegiance by the power at its command is incompatible with the interests of humanity In a creative civilization what is important is not the historical accident of separate states but the scientific fact of interdependence The real unit of allegiance is the world The real obligation of obedience is to the total interests of our fellowmen" (Laski)

। १७ ।

कानून (Law)

कानून की आवश्यकता—राज्य का प्रमुख उद्देश्य जन-कल्याण करना है। इस ध्येय की उपलब्धि तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि जन साधारण के कुछ समान नियम निर्धारित न कर दिए जायें। कानून के अभाव में सामाजिक जीवन की परिकल्पना अपूर्ण ही रहेगी, क्योंकि ऐसी अवस्था अव्यवस्थित और अराजक होगी। अतः राज्य अपने आदर्शों की प्राप्ति एकमात्र कानून के माध्यम से ही कर सकता है। लास्की के शब्दों में, "कानून ही सामाजिक शान्ति का मूल अथवा उद्गम है।" प्रभुसत्ता भी सर्वपूर्ण तभी है जब कि वह कानून के रूप में अभिव्यक्त होती है और इसका उपयोग कानून के द्वारा होता है। वस्तुतः मानव समाज को प्रारम्भ में ही यह अनुभूति हो गयी थी कि सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए सर्वमान्य नियमों की परम आवश्यकता है। ये सामान्य अथवा एकरूप नियम प्रारम्भ में सामाजिक रूढ़ियों एवं प्रथाओं के रूप में थे, किन्तु कालान्तर में जब इनको राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो गयी तो ये सामाजिक जीवन के अविच्छिन्न अंग बन गये। आज जितनी कानून की आवश्यकता है उतनी प्राचीन काल में नहीं थी, क्योंकि प्रारम्भिक जीवन सरल, सुगम और अविषम था जब कि आज असमान, विषम और जटिल है। अतः आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के लिए आज कानून परम आवश्यक ही नहीं है, प्रत्युत लोक कल्याणकारी ध्येय की प्राप्ति के लिए भी यह आवश्यक है।

कानून का अर्थ—गिलक्राइस्ट का कथन है कि कानून (*Law*) शब्द की व्युत्पत्ति पुरातन ट्यूटन (जर्मन) भाषा की Lag धातु जिसका अर्थ है' —"वह जो स्थिर और सर्वत्र समान रहे" से हुई है। अंग्रेजी में Lag का अर्थ है, 'वह जो एक-सा (uniform) रहे।'[1] कानून शब्द अनेकार्थी है। प्रथम, वैज्ञा-

1 "The word 'Law' comes from an old Teutonic root *lag*, which means something which lies fixed or evenly. In the English language the word is used to denote that which is uniform." (Gilchrist)

फिक कानून (Scientific law) जिसका अर्थ कार्य और कारण के निश्चित क्रम (Definite sequence of cause and effect) से होता है। उदाहरणार्थ गुरुत्वाकर्षण नियम (Law of gravitation)। द्वितीय नैतिक नियम वे कानून हैं जिनका सम्बन्ध जनता के अन्तःकरण या विवेक से तथा भिन्न-भिन्न कार्यों के मानसिक प्रेरकों (motives) से होता है। तृतीय, राजनीतिक कानून का अर्थ उन कानूनों से होता है जो नागरिकों के व्यवहार को नियमित एवं पथप्रदर्शित करते हैं। जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के बाह्य आचरण से है अर्थात् उसके ऐसे कार्य जो अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करते हों। राज्य जिन्हें बलात् मनवाता हो और न मानने पर दण्ड देता हो।[1] किन्तु सामाजिक कानूनों और राजनीतिक कानूनों में विभेद है। सामाजिक कानून के परिपालन में उस प्रकार की शक्ति का प्रयोग नहीं होता जैसा कि राजनीतिक कानून में होता है। मैकाइवर के मतानुसार, "एक विकसित राज्य में राज्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं के कानून अपने सदस्यों को तभी तक नियंत्रण में रख सकते हैं जब तक कि वे सदस्य संस्था की सदस्यता से उपलब्ध लाभों को खोने की अपेक्षा उन नियन्त्रणों को अंगीकार करना पसन्द करते हैं।" "राज्य के कानून ही स्वतन्त्र एवं उन्नत समाज में दण्ड दे सकते हैं।" इस प्रकार प्रत्येक कानून एक अनिवार्यता की व्यवस्था है। कानून के अभाव में व्यवस्था सम्भव नहीं है और बिना व्यवस्था के मनुष्य भटक जाते हैं, क्योंकि वे जान नहीं पाते कि उनका क्या लक्ष्य है और उन्हें क्या करना है? प्रत्येक स्तर पर एक व्यवस्थित सम्बन्धों की पद्धति का होना मानवीय जीवन की प्राथमिक शर्त है।[2]

कानून की परिभाषा—कानून को परिभाषित करना निस्सन्देह बड़ा दुष्कर कार्य है। सर हेनरी मेन का कथन है, कानून की परिभाषा करना

---

1 "A law is a rule of behaviour for the members of a state the disregard of which meets with a penalty which will be enforced by the state s machinery of power " (R H S lau)

2 'Without Law, there is no order, without order men are lost, not knowing where they go or what they do A system of ordered relationship is a primary condition of human life " (Maclver)

सम्भव नहीं है।" प्रो० एस० लन के मत में, कानून की परिभाषा करना ठीक उसी भांति है जिस भांति कि "हम वृत्त के चारों ओर परिक्रमा लगाते हैं और जिसका फल यह होता है कि जहां से हमने प्रस्थान किया था, वहीं आ जाते हैं। सी० के० एलन ने तो निराश होकर कहा था कि 'अच्छा यही होगा कि कानून को परिभाषित ही नहीं किया जाए, क्योंकि इसकी परिभाषा या तो अधिक लघु होगी या फिर अधिक दीर्घ।" फिर भी, एक राजनीति के विद्यार्थी के लिए कानून की निम्नांकित परिभाषाओं पर विचार करना आवश्यक है जो विभिन्न विचारकों ने अपनी बुद्धि के अनुसार की हैं—

(१) सामण्ड (Salmond)—'कानून नियमों का वह समूह है जिसे राज्य मान्यता देता है और न्याय-व्यवस्था के प्रशासन में लागू करता है।'

(२) आस्टिन—'प्रभु की आज्ञा ही कानून है।

(३) ब्लैकस्टोन—"कानून नागरिक-आचरण का नियम होता है, जिसका निर्माण राज्य की सर्वोच्च सत्ता करती है। और यह भी विहित करती है कि क्या ठीक है, और गलत को करने से मना करती है।"

(४) बेन्थम—'कानून एक ऐसी आज्ञा है जिसमें दण्ड के भाव सन्निहित होते हैं।"

(५) विलोबी—"व्यवहार में वे नियम कानून के अन्तर्गत आते हैं जिनके अनुसार न्यायालय न्याय करते हैं और ये नियम समाज में प्रचलित नियमों से पूर्णतः भिन्न होते हैं और जिनका पालन मनुष्य राज्यीय पूर्ण सत्ता के दबाव के कारण करता है।"

(६) सिजविक—"वे सामान्य आदेश कानून कहे जाते हैं जिनके द्वारा सामान्य व्यक्तियों का व्यवहार निर्धारित किया जाता है, जिनका पालन न

---

1 "Laws are the commands of a sovereign" (Austin)

2 "Laws may be defined as those rules of conduct that control courts of justice in the exercise of their jurisdiction As distinguished from all other rules of conduct, that obtain more or less general recognition in community of men, they are such as have for their ultimate enforcement the entire power of the state" (Willaughby)

करने के कारण राजकीय शक्ति किसी-न-किसी प्रकार का दण्ड साधारणतः देती है।"[1]

(ब) विल्सन—"प्रतिष्ठित विचारों एवं आदतों के उस अंश को कहते हैं जिसे शासन सत्ता और शक्ति द्वारा समर्थित सामान्य नियमों के रूप में स्पष्ट और औपचारिक मान्यता उपलब्ध हो चुकी है।"[2]

(स) हालैण्ड—"कानून हमारे बाह्य व्यवहार को निर्धारित करने वाले वे सामान्य नियम हैं जिनको सत्ता लागू करती है। यह सत्ता मानवीय है, और मानवीय सत्ताओं में भी वह जो एक राजनीतिक समाज में सर्वोच्च होती है या संक्षेप में, कानून हमारे बाह्य आचरण को निर्धारित करने वाले वे सामान्य नियम हैं जिनको एक प्रभुत्वपूर्ण राजनीतिक सत्ता लागू करती है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कानून की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) कानून किसी राज्य की सामाजिक दशा को प्रतिबिम्बित करता है।

(२) कानून एक नियमों का समूह है।

(३) कानून व्यक्ति के बाह्य आचरण को नियन्त्रण करने वाली शक्ति है।

(४) कानून में दबाव सम्मिलित है, जो नैतिक न होकर शारीरिक है।

कानून के विभिन्न सिद्धान्त

१—विश्लेषणात्मक सिद्धान्त (The Analytical School)—जॉन आस्टिन (John Austin) को विश्लेषणात्मक विचारधारा का जनक कहा जाता है। वस्तुतः आस्टिन ने ये विचार हॉब्स और बेन्थम से ग्रहण किए थे। आस्टिन ने कहा है "प्रभु की आज्ञा ही कानून है।" व्यक्ति कानून का पालन दण्ड के कारण

---

1 "Laws are the general directions as to the conduct of members of the community, for obedience to which a penalty of some kind will normally be inflicted by the authority of government." (Sidgwick)

2 "Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of government." (Dr. Woodrow Wilson)

3 "A Law is a general rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority

से करता है कि इसके पीछे राज्य शक्ति है और प्रभु की आज्ञा के निषेध पर दण्ड भोगना पड़ेगा। फलतः कानून का निर्माण एवं कार्यान्वयन प्रभुसत्ता में निहित है। इस सिद्धान्त के अन्य प्रतिपादक बोदां, हॉब्स, मैकेयावली, बेन्थम, हॉलैण्ड और विलोबी हैं। हॉलैण्ड और विलोबी के विचारों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

किन्तु आलोचकों का कथन है कि परम्पराओं का आज्ञा सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है और प्रारम्भिक समाज में कानून निर्मात्री सत्ता क्या थी? पाउण्ड का कथन है कि, "कानून-व्यवस्था चाहे प्राचीनकालीन हो अथवा मध्यकालीन या आधुनिक, उसका निर्माण ही कानून-व्यवस्था का मूलाधार नहीं है।" सेट (Salt) ने आस्टिन के विचार का केवल प्रमुख दोष यह बताया है कि, "उसने सर्वसाधारण के जनमत के प्रभाव को निषेधात्मक स्वीकार किया था जब कि वह सकारात्मक होता है।" अतः कानून का आधार शक्ति नहीं है अपितु सदिच्छा और जनमत की शक्ति है। इसके अतिरिक्त उसके अध्ययन की पद्धति विकासात्मक नहीं है। वे कानून को प्रगतिशील की अपेक्षा स्थायी और स्थिर मानते हैं।

२—ऐतिहासिक सिद्धान्त (The Histor.cal School)—इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और जर्मनी इसकी जन्मस्थली थी। फ्रेडरिक वॉन सेवाइनी (Frederick Van Savigny) इसका प्रथम प्रतिपादक था। इसके प्रबल समर्थकों में सर हेनरीमेन, मेटलैण्ड सर फ्रेडरिक पोलक प्रमुख थे। इस सिद्धान्त के अनुसार कानून प्रभु की आज्ञा का परिणाम न होकर विकासशील चिरकालीन सामाजिक एवं धार्मिक प्रक्रिया का प्रतिफल है। हेनरी मेन की दृष्टि में कानून के तीन स्रोत हैं—(१) सार्वजनिक स्वीकृति (२) रूढ़ियाँ एवं परिपाटियाँ और (३) राजनीतिक सत्ता जिसमें कानून-निर्माण की सत्ता सन्निहित है। जेन (Zane) का कहना है, "शासक सदा कानून का शासन इस कारण प्रचलित हुआ है क्योंकि उसके प्रति सर्वसम्मति की मूक स्वीकृति रही है। तथ्य यह है कि सभी को यह मालूम है कि जब भी बहुमत किसी कानून के विरुद्ध रहता है तो ऐसे कानून का शासन अपंगवत् रहता है

---

which authority is human and among human authorities is that which is paramount in a political society; or, briefly, a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority" (Prof Holland)

चाहे कानूनों का निर्माण किसी भी प्रकार हो। उदाहरणार्थ, चाहे विधान-मण्डलों द्वारा, चाहे न्यायालयों के निर्णयों द्वारा उनकी उत्पत्ति हो चाहे वे शासकों की आज्ञा के रूप में लगते हों, किन्तु कानून तभी कानून होंगे जब उन्हें समाज का बहुमत अंगीकार कर ले।"

उपर्युक्त ऐतिहासिक सिद्धान्त के विवेचन से हमें विधसन को परिभाषा अधिक उपादेय प्रतीत होती है जिसका उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं। ब्राइस का कथन है, "कानूनी संस्थाओं की प्रकृति उनकी परिवर्तनशीलता है, अर्थात् कानून समयानुकूल अपनी उपयोगिता खरीदते हैं। इसलिए उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन, संशोधन एवं परिवर्द्धन की सदैव आवश्यकता बनी रहती है।"

इस सिद्धान्त का दोष यह है कि इसके समर्थक साधारणतः कानून-परिवर्तन के विरोधी होते हैं और कानूनी इतिहास पर अत्यधिक बल देते हैं। परिणामतः न्यायिक दर्शन (Philosiphy of law) उपेक्षित रह जाता है। वे कानून और परिपाटियों तथा धार्मिक सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं कर पाते और न कानून के नैतिक पक्ष पर ही दृष्टिपात करते हैं। विधसन ने भी अपनी कानून की परिभाषा में दोनों सिद्धान्तों का सामंजस्य किया है।

१ दार्शनिक सिद्धान्त (The Philosophical school)—इस विचार के प्रतिपादक भूतकालीन अथवा आधुनिक विधियों का स्वरूप जैसा था और है, उसकी अपेक्षा वे कानून के अमूर्त (Abstract) रूप का अनुशीलन करते हैं। वे नैतिक कानूनों पर विशिष्ट बल देते हैं। वे सार्वभौमिक कानूनों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इसके समर्थक रूसो, कान्ट, हीगल प्रभृति हैं। ये विचारक १८वीं शताब्दी में प्राकृतिक कानूनों (Natural laws) पर, जिनका निर्माण मानवीय बुद्धि के अनुसार हुआ है, और उन्नीसवीं सदी में कानून के नैतिक पक्ष पर बल देते थे, जबकि बीसवीं शताब्दी में उनका ध्येय सामाजिक न्याय की प्रबल माँग हो गया है। किन्तु यह सिद्धान्त रहस्यवादी विवेचन तक ही परिसीमित रहा। आधुनिक व्यवहारवादी प्रणाली के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि इसमें बल भावना का किंचित् मात्र महत्त्व नहीं है।

२ तुलनात्मक सिद्धान्त (The comparative school)—यह एक नया सिद्धान्त है जिसमें विभिन्न देशों की कानूनी व्यवस्थाओं और प्रथाओं का चाहे वे अतीतकालीन या आधुनिक हों, सभी का अध्ययन, समीक्षा एवं तुलना कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यह ऐतिहासिक सिद्धान्त का विकसित स्वरूप है। कुछ विद्वानों ने, जिनमें मार्टनी तथा हमलो व पौण्ड प्रमुख हैं, इसे नैतिक

सिद्धान्त भी कहा है। उनकी दृष्टि में कानूनों का परिपालन प्रभु की आज्ञा या प्रचलित परम्पराओं के कारण न होकर इसलिए होता है, क्योंकि वे हमारी नैतिक प्रकृति के अनुरूप होते हैं। इसके समर्थक सर पाल वीनो ग्राडोफ, वैकेरीयम, मार्गन, मैक्समूलर और स्पेन्सर आदि हैं। हेनरी मेन और पोलक ने भी इसका समर्थन किया है। निस्सन्देह इस सिद्धान्त का कानून-शास्त्र के परिज्ञान में विशिष्ट योगदान रहा है। इसके द्वारा यह विकसित हुआ है।

५ समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त (The Sociological School)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में ड्यूगी (Duguit), क्रेब (Krabbe) और लास्की हैं। इन विचारकों की दृष्टि में, कानून की आधार-पीठिका है मानव-जीवन के सुख और सामाजिक भावना। वे सामाजिक शक्ति की देन हैं, अतः उन्हें सामाजिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति का साधन होना चाहिए। कानून का निर्माण किसी संगठित संघ द्वारा नहीं हुआ है प्रत्युत समाज में विभिन्न एजेन्सियाँ हैं जो निर्णय करके आदेश निकालती हैं और जिन्हें समाज का बहुसंख्यक समुदाय स्वीकार करता है। कानून मानव-व्यवहार के वे नियम हैं जिनके परिपालन से प्रत्येक व्यक्ति के सुख में वृद्धि होती है। उनका पालन इसलिए नहीं किया जाता कि वे आदेश हैं, और दण्ड इनमें समाविष्ट है, अपितु उनके पालन के पीछे मूलभूत भावना यह है कि वे सामाजिक जीवन की दशाएँ हैं जिनके परिपालन बिना मानव-जीवन निर्वाह करने योग्य नहीं है। ड्यूगी के मत में कानून की स्वीकृति प्रधानतः मनोवैज्ञानिक है। वे सामाजिक आवश्यकताओं पर आधारित हैं और सामाजिक एकता की उपज हैं। व्यक्ति सामाजिक सहवास का मूल्यांकन करता है। वह सामाजिक उपयोगिता को जानता है और सौजन्य है इस भावना से। अतः स्वार्थवशात् व्यक्ति कानूनों का पालन करता है। इससे समाज सुदृढ़ एवं सबल होता है, और राज्य का पुनीत कर्तव्य यह है कि वह ऐसे कानूनों की रचना करे। इस प्रकार कानून का निर्माता राज्य नहीं करता प्रत्युत उन विकसित नियमों को, जो सामूहिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं, वैधानिक कलेवर प्रदान करके कानून में परिणत कर देता है। क्रेब के मत में, 'कानून उन सामान्य या विशेष लिखित या अलिखित नियमों का कुल योग है जो मनुष्य के भावों या न्याय भावना से पैदा होते हैं।'[1]

---

1 "Law is the sum total of all those rules, general or particular, written or unwritten which spring from men's feeling or sense of right" (Krabbe)

"मानवों द्वारा अपनी प्रकृति और स्वभाव के कारण किए गये अनेक निर्णयों में से किसी एक की अभिव्यक्ति ही कानून है।"[1] कानून राज्य से उच्चतर एवं स्वतंत्र है। लास्की के विचार में, कानून का स्रोत व्यक्ति का अनुमतिदाता मन है। व्यक्ति कानून का परिपालन अपनी इच्छाओं की परिपूर्ति के कारण करते हैं। अतः श्रेष्ठ कानून वही है जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों की अधिकतम आकांक्षाओं की पूर्ति होती है।

इस सिद्धान्त में त्रुटि यह है कि यह आदर्शवादी भावनात्मक स्वरूप से प्रभावित होता है। कानून जनसाधारण का केवल साधन हो जाता है, जिसमें जब चाहे परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार कानून का स्थायित्व एवं सर्वोच्चता अमहत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

कानून के विभिन्न सिद्धान्तों में सत्यांश है, किन्तु वे अपूर्ण हैं। वैसे वे एक-दूसरे के पूरक हैं। राज्य प्रभुसत्ता कानून को वैधानिक मान्यता प्रदान करती है। कानून की आधारभूमि रूढ़ियाँ, धार्मिक एवं नैतिक सिद्धान्त होने चाहिए। साथ ही कानून विकसित एवं प्रगतिशील भी हो, जो जनता के नैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक अवस्थाओं को प्रतिबिम्बित करता हो।

कानून के स्रोत (Sources of law)

हॉलैण्ड के अनुसार कानून के निम्नलिखित प्रमुख स्रोत हैं —

१ रीति रिवाज (Customs and usages)—प्रत्येक समाज में कानून का सर्वप्रथम स्वरूप रीति-रिवाज है। प्रारम्भिक कबीलों में सभी विवादों का निर्णय तत्कालीन प्रचलित परिपाटियों के अनुसार ही किया जाता था और रीति-रिवाज कबीले या कौम के उपयोगी अनुभव पर आधारित होते थे। इंग्लैण्ड और भारत जैसे विकसित राज्यों में भी प्रथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इंग्लैण्ड में आज भी अभिसमय ब्रिटिश तंत्र के चलाने-वाले बने हैं। रीति रिवाजों के पालन का कारण प्रथम तो उन्हें मानने का एक स्वभाव बन जाता है और दूसरे उनके परिपालन से सुरक्षा की अनुभूति होती है। वस्तुतः सामाजिक बाध्यता ही उनका परिपालन कराती है। जब इन दीर्घकालीन प्रथाओं को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती है और इनके परिपालन के लिए शक्ति प्रयुक्त की

---

1 Law is, "the expression of one of the many judgement of value which we human beings make by virtue of our disposition and nature" (Krabbe)

जाती हैं तब ये कानून में परिणत हो जाते हैं। कोई भी राज्य अपने देश के रीति रिवाजों की उपेक्षा करने की धृष्टता नहीं कर सकता। यदि राज्य ऐसी अनधिकार चेष्टा करता है तो जनमत का उसे उग्र विरोध सहना होगा। मैकाइवर का कथन है—"कानून के विशाल ग्रन्थ में राज्य केवल नये वाक्यों को लिखता है और यत्र-तत्र पुराने को मिटा देता है। ग्रन्थ का अधिकांश भाग राज्य द्वारा कभी भी नहीं लिखा गया और राज्य उसे पूर्णतः मानने के लिए स्वयमेव विवश होता है, एकमात्र इस कारण कि वह पीढ़ी-दर पीढ़ी उसके कानून का संशोधन कर देता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने शरीर का पुन निर्माण नहीं कर सकता उसी प्रकार राज्य भी कानून का किसी भी समय समग्ररूपेण पुनः निर्मित नहीं कर सकता।"

२ धर्म (Religion)—प्राचीन काल में रीति रिवाजों की भाँति ही धर्म भी कानून का एक विशिष्ट स्रोत रहा है। धार्मिक प्रथाओं के पीछे दैविक शक्ति रहती थी। धार्मिक प्रभाव के कारण ही ईश्वर को भी कानून का उद्गम समझा जाने लगा। धर्म कानून के परिपालन में एक महत्त्वपूर्ण शक्ति रहा है और अनेक समुदायों में कानून का आधार धर्म ही रहा है। ईश्वरीय कानून, वे कानून हैं जिन्हें ईश्वर की ओर से उसके अवतारों ने प्रकट किया है।[1] मैकाइवर का मत है कि पश्चिम में कानून की प्रवृत्ति राजनीतिक स्वरूप को धारण करने की रही है, और पूर्व में धार्मिक स्वरूप को ग्रहण करने की। हिन्दुओं के कानून का स्रोत मनुस्मृति में है और मुस्लिम कानून का शरीयत में है। मनु द्वारा रचित मनुस्मृति हिन्दुओं की एक पवित्र धार्मिक पुस्तक है। पाकिस्तान में आज भी इस्लाम धर्म वहाँ की संवैधानिक एवं कानूनी व्यवस्था की आधारशिला है।

(३) न्यायिक निर्णय (Judicial decisions)—गैटेल का विचार है कि, 'राज्य की आवश्यकता कानून-निर्माता के रूप में नहीं हुई, अपितु कानून-व्याख्याता एवं कार्यान्वयक के रूप में हुई।" जैसे-जैसे सामाजिक ढाँचा जटिल

---

1 'Early laws were a mixture of customs and religion Religion has importance in law not only as giving a concurrent sanction to law based on other principles such as custom, but religion in itself is a basis of law in most communities. Divine law in its proper sense is law revealed through man form God ' (gilchrist, R. N)

और विषम होता गया वैसे-वैसे रीति रिवाज विवादों के निर्णय में अनुपयोगी सिद्ध होने लगे। और विभिन्न कबीलों में व्यापारिक वैवाहिक तथा अन्य कार्यों के लिए सम्पर्क स्थापित हो गये तो वैसे-वैसे ही विभिन्न कबीलों के रीति-रिवाजों में संघर्ष सामान्य हो गये। इन समस्याओं को समाज के सर्वाधिक प्रबुद्ध व्यक्तियों को सौंपा गया। उनके निर्णय भविष्य में होने वाली वैसी ही समस्याओं के लिए मान्य समझे जाने लगे। इस प्रकार न्यायाधीश कानून की स्पष्ट व्याख्या करके निर्णय ही नहीं देते, अपितु कानून को वे विस्तृत करते हैं और फलतः वे नूतन कानूनों की रचना करते हैं। ये निर्णय अन्ततोगत्वा अन्य न्यायाधीशों के लिए दृष्टान्त बन गये। विलोबाइस्ट का मत है कि पहले ये न्यायिक निर्णय मौखिक होते थे किन्तु फिर परिपाटियों द्वारा एक पीढ़ी से अन्य पीढ़ी को उपलब्ध होने लगे और अन्त में वे लिखित रूप धारण करने लगे। जस्टिस होम्स (Justice Holmes) के कथनानुसार, 'न्यायाधीश नियमों को निर्मित करते हैं और उन्हें निर्माण करना चाहिए।" इंग्लैण्ड के संविधान को तो न्यायाधीश द्वारा निर्मित (Judge made constitution) भी कहा जाता है।

(४) वैज्ञानिक टीकाएँ (Scientific commentaries)—प्रख्यात न्यायविदों की टीकाएँ और कानूनी-व्याख्या भी कानून के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। न्यायशास्त्री और महान लेखक अपने विचार टीकाओं के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं और जब इन विचारों को स्वीकृति मिल जाती है तो उन्हें न्यायिक निर्णयों से भी अधिक प्रामाणिक और शक्ति-सम्पन्न समझा जाता है। इंग्लैण्ड में कोक और ब्लैकस्टोन तथा भारत में मिताक्षरा और दायभाग प्रभृति की कानूनी सम्मतियों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। विलोबाइस्ट का कथन है कि टीकाकार कानून-सिद्धान्तों, रीति-रिवाजों और निर्णयों का संकलन करके उनकी एक-दूसरे से तुलना करके और उन्हें क्रमबद्धता प्रदान करके सम्भावित प्रश्नों के लिए मार्ग-निर्देशन के सिद्धान्तों का कार्य करता है। वह आधुनिक कानूनों के दोषों की ओर संकेत करता है और उनके निवारण के उपायों पर प्रकाश डालता है।"[1]

---

1 "The commentator by collecting, comparing and logically arranging legal principles customs, decisions and laws, lays down guiding principles for possible cases He shows the omissions and deduces principles to govern them," (Gilchrist)

भारत में मनु और याज्ञवल्क्य से हिन्दू-संहिता (Hindu code) में पर्याप्त संशोधन उपस्थित किये हैं।

(५) न्याय-भावना (Equity)—यदा-कदा न्यायाधीशों के सम्मुख ऐसा भी अभियोग आ जाता है जिसके सम्बन्ध में कानून अस्पष्ट एवं मौन होता है। ऐसी विषम स्थिति में न्यायाधीश को अपने ही विवेक से निर्णय देने के लिए विवश होना पड़ता है। इन्हीं निर्णयों से न्याय भावना के कानून विकसित होते हैं।[1] ऐसे अवसर स्वाभाविक होते हैं क्योंकि सामाजिक परिवर्तन जितने द्रुत गामी होते हैं वैसा द्रुत परिवर्तनशीलता कानून-संहिता में नहीं होती। हेनरी मेन का कथन है कि न्याय भावना का कानून में हस्तक्षेप प्रकट और निश्चित है। यह केवल कानून की परिपूरक ही न होकर उसे परिवर्तनशील भी बनाती है। यह नवीन कानून की अन्यदायी और पुरातन के परिवर्तन की अनियमित पद्धति है। मिलफ्राइस्ट न्याय भावना को तीन भागों में विभक्त करते हैं—(१) बाह्य विषयक (exclusive), (२) समविषयक (concurrent) और (३) सहायक (auxiliary)। जब न्याय-भावना उन अधिकारों को अंगीकार करती है जो सामान्य कानून में स्वीकृति नहीं दिये गये हैं तो उसे बाह्य विषयक की संज्ञा दी जाती है। जब सामान्य कानून अधिकारों को स्वीकृत तो करता है किन्तु उसकी उपलब्धि या सुरक्षार्थ पर्याप्त नहीं होता तो वह समविषयक कहलाता है। न्याय भावना सहायक तब कहाती है जहाँ आवश्यक साक्ष्य (evidence) नहीं मिल सकता।

६ व्यवस्थापन (Legislation)—व्यवस्थापिकाएँ कानून के सर्वाधिक एवं महत्वपूर्ण स्रोत हैं। वे प्रतिनिधि संस्थाएँ हैं जहाँ जनेच्छा की अभिव्यक्ति उनके द्वारा होती है। जैसे-जैसे जनवाद का प्रचार और प्रसार होता जाता है वैसे-वैसे व्यवस्थापक मण्डलों का प्रभाव बढ़ता जाता है। विधान-मण्डल जन कल्याण के कानून बनाते ही रहते हैं और पुरानों में संशोधन कर उन्हें वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप बनाए रखते हैं। व्यवस्थापिकाओं के कारण कानूनी

1 Equity is, "any body of rules, existing by the side of the original civil law, founded on distinct principles and claiming incidentally to supersede the civil law in virtue of a superior sanctity inherent in those principles."

(Sir Henry Maine)

के अन्य स्रोतों की महत्ता कम हो गयी है। बुकरो विलसन ने कानून के विकास की विधि का सुन्दर विवेचन इस प्रकार किया है, "रीति रिवाज कानून का सर्वाधिक आदि स्रोत है, किन्तु धर्म समकालीन है और उसी के सहश ही सफल स्रोत है और राष्ट्रीय विकास की समस्त अवस्था में प्रायः ये दोनों ही घुले मिले रहते हैं। दंड-निर्णय (Adjudication) स्वतः अधिकार सत्ता के रूप में आता है और अति प्राचीन काल से न्याय भावना का सहगामी है। कानून का संचित और वैचारिक संग्रह अर्थात् कानून निर्माण एक राजनीतिक परिपक्व समाज में ही सम्भव हो सकता है। वैज्ञानिक विचार-विमर्श और उसके सिद्धान्तों का तर्क संगत विकास, कानून निर्माण में सभी सक्रिय साहाय्य प्रदान करता है जबकि समाज समुचित रूपेण विकसित हो जाता है।"

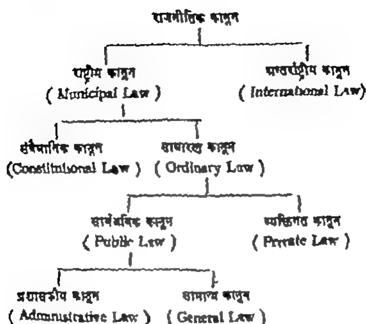
कानून के विभिन्न प्रकार
(Various Kinds of Law)

कानूनों का वर्गीकरण विभिन्न राजनीतिक चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। हॉलैण्ड ने कानून की प्रकृति, क्षेत्र और मानव-विशिष्टताओं की दृष्टि में रखते हुए कानून को दो भागों में विभाजित किया है—(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून (Municipal law) और फिर वह इन राष्ट्रीय कानूनों का भी विभाजन दो भागों-व्यक्तिगत (Private) और सार्वजनिक (Public) में करता है। जिन कानूनों के द्वारा नागरिकों के परस्पर सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, उन्हें निजी या व्यक्तिगत कानून कहते हैं और जो कानून व्यक्तियों और राज्यों के सम्बन्धों को निश्चित अथवा स्थिर करते हैं वे सार्वजनिक कहे जाते हैं।

स्रोत अथवा निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार गिलक्राइस्ट ने कानूनों को वर्गीकृत किया है—(१) संवैधानिक कानून (२) साधारण अथवा वैधिक कानून (Statute law) (३) सामान्य कानून (Common law) (४) अध्यादेश (Ordinances) (५) प्रशासकीय कानून और (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून।

मेकाइवर ने कानून का वर्गीकरण अपनी पुस्तक (The Modern state) में निम्नलिखित रूप में किया है।

(१) संवैधानिक कानून—संवैधानिक कानून मूलतः साधारण कानून से भिन्न होता है। प्रथम के द्वारा राज्य स्वयं नियन्त्रित होता है और दूसरे के द्वारा राज्य जनता पर शासन करता है। संवैधानिक कानून मेकाइवर के अनुसार, सरकार के विभिन्न विभागों के कार्यों को निर्धारित करता है और शासक एवं



शासित के मध्य परस्पर सम्बन्धों को निश्चित करता है। इसकी उत्पत्ति सामाजिक एकता के परिणाम-स्वरूप होती है, जो स्पष्टतः यह स्थिर और तय करती है कि राज्य के क्या कर्तव्य हैं और उसके संगठन का स्वरूप कैसा होना चाहिए। संवैधानिक कानून यह भी निश्चित करता है कि विधि की दृष्टि में सरकार और जनता एक बराबर हैं और सरकार को कोई विशिष्टाधिकार उपलब्ध नहीं है। संवैधानिक कानून लिखित और अलिखित दोनों ही रूपों में हो सकता है। इसके निर्माण एवं संशोधन के लिए एक विशिष्ट प्रक्रिया को अपनाते हैं, जैसा कि साधारण कानून के साथ नहीं होता। इसका निर्माण विधिपूर्वक संविधान-निर्मात्री सभा द्वारा होता है और संशोधन भी संविधान में उल्लिखित पद्धति के अनुसार होते हैं।

(२) साधारण कानून (Ordinary Law)—जेकाक्स ने कहा है, 'राज्य कानून का जनक और उत्पत्ति दोनों है। जनक की दृष्टि से राज्य अपनी व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा कानून का निर्माण करता है। ये कानून राज्य के साथ नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों और नागरिकों के परस्पर सम्बन्धों को निश्चित करते हैं। इन्हें साधारण (Ordinary) या लिखित (Statute) कानून भी

संरक्षण प्रदान करते हैं। न्यायालय केवल साधारण कानून को मानते हैं और उनके उल्लंघन पर दण्ड देते हैं।

(३) व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक कानून—हॉलैण्ड ने राष्ट्रीय कानून को दो भागों में विभक्त किया है, जैसा कि ऊपर कहा गया है—व्यक्तिगत (Private) और सार्वजनिक (Public) कानून। व्यक्तिगत कानून व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों का नियमन करता है। यह नागरिकों के अधिकारों एवं दायित्वों को निर्धारित करता है। इसमें दोनों पक्ष वैयक्तिक ही होते हैं। राज्य निर्णायक का कार्य करता है। किन्तु राज्य व्यक्ति की समस्त व्यक्तिगत बातों का नियमन नहीं करता। वह उन्हीं को नियमित करता है जिनकी महत्ता सामाजिक दृष्टि से होती है।

सार्वजनिक कानून राज्यीय संगठन, राजकीय कार्यों के परिसीमन और राज्य के सम्बन्धों को नागरिकों के साथ वर्णित करता है। मेकाइवर के शब्दों में 'सार्वजनिक कानून समाज को व्यवस्थित करता है और राज्य की सुरक्षा के साथ साथ राज्य के विरुद्ध नागरिकों के अधिकारों को भी सुरक्षा प्रदान करता है।

(४) राष्ट्रीय कानून—सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत कानूनों का सामञ्जस्य ही राष्ट्रीय कानून (Municipal Law) कहाता है। इसका कार्यान्वयन राज्यीय सर्वोपरि सत्ता द्वारा होता है और राज्य के समस्त व्यक्तियों एवं समुदायों पर यह लागू होता है।

(५) प्रशासकीय कानून—सार्वजनिक कानून को प्रशासकीय और सामान्य कानून में विभक्त किया जाता है। प्रशासकीय कानून राज्य का अपने कर्मचारियों के साथ सम्बन्धों को निर्धारित करता है। यह सार्वजनिक कानून का वह भाग है जो संगठन को सुदृढ़ करता है और राज्यीय कर्मचारियों की योग्यता की जाँच करता है तथा नागरिकों को निर्देशित करता है कि शासक द्वारा उनके स्वार्थों के उल्लंघन पर शासन सम्बन्धी उनके क्या कर्तव्य हैं। प्रशासकीय कानून फ्रांसीसी न्याय व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। फ्रांस में जब कोई सरकारी कर्मचारी अपने प्रदत्त अधिकारों का उल्लंघन या अतिक्रमण करता है तो प्रशासनीय न्यायालयों में प्रशासकीय कानून के ही अन्तर्गत उसके विरुद्ध कार्यवाही होती है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—"अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों का संकलन

है जो सभ्य राज्यों के परस्पर व्यवहारों को नियमित करते हैं।"[1] ओपेनहाइम की दृष्टि में, "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रथाओं एवं परम्परागत नियमों का समूह है जिन्हें सभ्य राज्य परस्पर व्यवहार में एक-दूसरे पर वैधानिक बन्धनकारी मानते हैं।"[2] स्टार्क के मत में, अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह कानून है जिसमें अधिकतम व्यवहार के नियम और सिद्धान्त रहते हैं और जिनका परस्पर व्यवहार में पालन भी करते हैं। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय संघों एवं संगठनों के संचालन उनके परस्पर सम्बन्धों और उनके राज्यों तथा व्यक्तियों के साथ सम्बन्धों के बारे में नियम रहते हैं। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून में व्यक्तियों से सम्बन्धित कानूनी नियमों का भी समावेश रहता है जो ऐसे व्यक्तियों के उन अधिकारों एवं कर्तव्यों से भी सम्बन्ध रखते हैं जो कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए महत्व के विषय हैं।"

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून वस्तुतः एक कानून है? आस्टिन, वेटेल (Vetiel), हालैण्ड, बेन्थम और हॉब्स (Hobbes) प्रभृति विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक कानून नहीं मानते, क्योंकि इसके पीछे कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो इसके परिपालन के लिए राज्यों को बाध्य कर सके। आस्टिन के शब्दों में, 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून एकमात्र यथार्थ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता है, जिसमें राष्ट्रों के मध्य सामान्यतः प्रचलित मत और भावनाएँ विद्यमान हैं।"[1]

---

1 "International law is the body of rules which determine the conduct of the general body of civilised states in their mutual dealings." (Lawrence)

2 "International law is the name for the body of customary and conventional rules which are considered legally binding by civilised states in their intercourse with one-another" (Oppenheim)

3 "International law may be defined as that body of law which is composed for its greater part of the principles and rules of conduct which states feel themselves bound to observe, and therefore do commonly observe in their relations with each-other, and which includes also the rules of law relating to the functioning of internaloinal institutions or organisations, their relations with each-other and their

हालैण्ड ने इन्हें केवल शिष्टतावश कानून माना है।[1] किन्तु इसके विपरीत हॉल (Holl), लारेन्स (Lawrence) जैसे मनीषि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक सच्चा विकसित कानून मानते हैं, क्योंकि अधिकांश राज्य साधारण परिस्थितियों में उनका पालन करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की व्याख्या करता है और उसी के अनुसार परम्पराओं के विवादों का निर्णय किया जाता है। इसके अतिरिक्त पारस्परिक समझौते, संधियाँ और परम्पराएँ इसे विकसित कर रही हैं। इसके द्वारा कुछ निश्चित सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हो रही है, जिन्हें राज्य साधारणतः मानते ही हैं। ओपेनहाइम के शब्दों में, "कानून समाज के अन्तर्गत मानवीय व्यवहार के उन नियमों का समूह है जो समाज की सामान्य सहमति से बाह्य शक्ति द्वारा लागू किए जाते हैं।"[2] इस प्रकार कानून के लिए चार बातें आवश्यक हैं—(१) समाज (२) समाज के अन्तर्गत मानव आचरण के कुछ नियम (३) एक बाह्य शक्ति, जिसके द्वारा ये लागू किए जाते हैं और (४) समाज की सामान्य सहमति।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में ब्रीली (Briely) का यह कथन युक्तिसंगत है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व का श्रेष्ठतम प्रमाण यही है कि प्रत्येक यथार्थ राज्य इसके अस्तित्व को अंगीकार करता है और अपना यह कर्तव्य समझता है कि उसका पालन करे। जिस प्रकार व्यक्ति सदा सदा राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन कर सकते हैं किन्तु जिस प्रकार व्यक्ति यह नहीं कर सकते कि वे कानून से ऊपर हैं उसी प्रकार राज्य भी स्वयं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बड़ा

---

relations with states and individuals and certain rules of law relating to individuals so far as the rights or duties of each individuals are the concern of the international community." (Sterke)

1 "International law is positive international morality consisting of opinions and sentiments current among nations generally." (Auston)

2 "Such rules as are voluntarily though habitually, observed by every state in its dealings with the rest can be called law only by courtsey." (Halland)

तर सिद्ध नहीं कर सकती।"[1] फिर भी, गिलक्राइस्ट का यह विचार तर्क-बुद्धि के अधिक उपयुक्त है—"इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून अर्द्ध कानून और अर्द्ध नैतिक नियम है।"[2]

कानूल और नैतिकता

यद्यपि कानून राजशास्त्र और नैतिकता नीतिशास्त्र का विषय है फिर भी, दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों शास्त्र मानव का अध्ययन समाज में नैतिक शासन के रूप में करते हैं। गिलक्राइस्ट का कथन है, "राज्य की स्थापना उसके नागरिकों के हितों में होती है और नागरिक उसके नैतिक प्रतिनिधि होते हैं।" कानून समाज की सुसंगठित शक्ति का प्रतीक है जब कि नैतिकता हमारे आदर्शों की द्योतक है और सामान्यतः लोकमत की अभिव्यक्त करती है।

प्राचीनकाल में राजनीतिक चिन्तकों ने कानून और नैतिकता के मध्य कोई विभेदकारी रेखा नहीं खींची। उनका अटूट विश्वास था कि यदि नागरिक भले हैं तो राज्य भी भला होगा और यदि राज्य भला है तो नागरिक भी भले ही होंगे। प्लेटो का कहना है, "सर्वोत्तम राज्य वह है जिसमें इतने गुण हों जितने कि एक व्यक्ति में हो सकते हैं। यदि राज्य का कोई अंग उत्पीड़ित होता है तो सम्पूर्ण राज्य की क्षति होती है।" यह निर्विवाद सत्य है कि मानव प्रयास ही आत्मोद्धार को सम्भव बनाते हैं, किन्तु मनुष्य का विकास स्थान तो राज्य ही है। मेकाइवर का विचार है कि, "राज्य सामाजिक व्यवस्था की सर्वव्यापी

---

1 "The existence of some kind of international law is simply one of the inevitable consequences of this co-existence in the world of a plurality of states necessarily brought into relations with one-another. The best evidence for the existence of International law is that every actual state recognises that it does exist and that it is itself under obligation to observe it. States may often violate international law, just as individuals often violate municipal law, but no more than individuals to states defend their violations by claiming that they are above the law." (J. L. Brierly)

2 "International law is in this way half law half morality." (Gilchrist)

बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करता है, जो स्वतंत्र एवं नैतिक व्यक्तित्व के विकास तथा प्रकटीकरण के लिए आवश्यक है।" बिना राज्य के मनुष्य का नैतिकोत्थान नहीं हो सकता, क्योंकि "राज्य द्वारा प्रदत्त व्यवस्था समानता और न्याय के अभाव में आत्मा घुटने लगेगी।" अतः कानूनों का आधार समाज के नैतिक सिद्धान्त होने चाहिए। जो कानून जनता के नैतिक मनोभाव को आहत करते हैं वे सफलीभूत नहीं हो सकते। लास्की के इस कथन में यथार्थ अधिक है कि कानून की वास्तविक शक्ति के पीछे समाज की दमनकारी शक्ति नहीं होती, वरन् उसमें एक सामाजिक उद्देश्य निहित होता है जिसके कारण उसकी परिपूर्ति होती है। जोड के शब्दों में "जो कानून सामाजिक उद्देश्यों से हीन होता है और जो किसी नैतिक ध्येय की परिपूर्ति नहीं करता वह एक शव के समान अनुपयोगी होता है।" इस प्रकार कानून और नैतिकता सदैव एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। नागरिकों के नैतिक मापदण्ड उनके कानूनों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। कानून एक प्रकार का दर्पण है जिसमें जनता की नैतिकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। किन्तु कानून कभी-कभी ऐसी बातों को स्वीकृत कर लेता है जो नागरिकों के नैतिक मापदण्ड से अधिक आगे की होती हैं और जनता के परिपालन में कठिनाई का अनुभव करती है। जैसे, शारदा कानून, जिसके अन्तर्गत १४ वर्ष की लड़की और १८ वर्ष के लड़के की आयु से कम के विवाह अवैध घोषित किया गया था। यह भारतीय जनता के नैतिक विश्वासों के प्रतिकूल था अतः असफल सिद्ध हुआ। कभी-कभी कानून व्यक्तियों की नैतिकता में सुधार करता है, उदाहरणार्थ सती-प्रथा। सती-प्रथा को भारतीय एक आदर्श परम्परा के रूप में मानते थे, किन्तु सतीप्रथा विरोधी कानून ने उनके इस चिर संचित नैतिक विचार में शनैः-शनैः सुधार कर उन्हें इसका समर्थक बना दिया। अतः मिलक्राइस्ट का कहना है कि "राज्य नैतिक प्रहरी के रूप में एक ओर ऐसी कानूनों को निर्मित करता है जो जन हित के अनुकूल हों और दूसरी ओर उन कानूनों में संशोधन भी करता है जो नागरिकों के लिए अहितकर हो गए हैं। अतः राज्य को दो प्रकार के कार्य करने चाहिए—(१) सकारात्मक (Positive), जिनसे नागरिकों का हित सम्पन्न होता हो और जो उनके नैतिकोत्थान में सहायक हों तथा (२) नकारात्मक (Negative) जो ऐसी परिस्थितियों को दूर करता हो जिनके द्वारा नागरिकों का अहित होता हो। लेकिन यदा-कदा यह कठिनाई होती है कि कानून और नैतिकता के मध्य इतनी घनिष्ठता होती है कि "वैध और अवैध के बीच का अन्तर सदा

स्पष्ट नहीं हो पाता। जो आज अवैध है वह कल अनैतिक हो सकता है और इसके विपरीत। अतः राज्य को एक साध्य मान लेने में बड़ी भूल होगी। वह स्वयं में साध्य न होकर एक अनुपम साधन है। "हम राज्य को नैतिकता की शर्त के रूप में अंगीकार करते हैं। राज्य और कानून सदा लोकमत और कार्य दोनों को प्रभावित करते हैं; इसके बदले में कानून जनमत को अभिव्यक्त करता है और इस प्रकार कानून नैतिकोत्थान के सूचनांक (Index) के रूप में कार्य करता है।"

दोनों में विभेद

कानून और नैतिकता में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध के साथ-साथ विभेद भी पर्याप्त है, जो निम्नलिखित हैं :—

प्रथम विभेद यह है कि कानून व्यक्ति के बाह्य आचरण से सम्बन्धित है। वह मनुष्य के आन्तरिक भावों एवं चिन्तन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि अन्तस्तल के मामलों में किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के समस्त जीवन से होता है। वह न केवल बाह्य आचरण का अध्ययन करती है अपितु मानव-चित्तवृत्तियों का उसकी भावनाओं, प्रेरक शक्तियों और इच्छाओं का भी अनुशीलन करती है। नैतिकता का पुनीत लक्ष्य व्यक्ति की सद्वृत्तियों को जाग्रत कर उसे आदर्श नागरिक जीवन के लिए अनुप्रेरित करना है। ईर्ष्या, द्वेष मिथ्या भाषण एवं निर्लज्ज कार्य आदि नैतिक दृष्टि से अनैतिक हो सकते हैं, किन्तु कानूनी दृष्टि से उन्हें अनैतिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे कानून भंग नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब तक एक व्यक्ति अपने क्रोध को अपने तक ही परिमित रखता है और उसकी अभिव्यक्ति केवल शब्दों तक ही सीमित रहती है तो वह किसी कानून का उल्लंघन नहीं करता। किन्तु आक्रोश के वशीभूत होकर जब वह आक्रामक हो जाता है और किसी को आहत कर देता है तो वह कानून को भंग करता है और दण्ड का भागी होता है। इस प्रकार नैतिकता का क्षेत्र कानून की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तृत है। द्वितीय, कानून का क्षेत्र अपेक्षाकृत नैतिकता के यथार्थ, स्पष्ट और सुनिश्चित है तथा सभी के लिए समान होता है। कानून का निर्माण एक संगठन के द्वारा होता है और उसके अनेकार्थी होने के अवसर अत्यल्प होते हैं। उसका एक निश्चित अर्थ होता है। किन्तु नैतिकता अस्पष्ट, अनिश्चित और अनेकार्थी होती है। एक कार्य को एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र नैतिक समझता है किन्तु अन्य व्यक्ति

और अन्य राष्ट्र उसे अनैतिक समझते हैं। मेकाइवर का मत है, "नैतिकता और कानून के क्षेत्र पूर्णतः भिन्न हैं। नैतिकता सर्वथा व्यक्तिगत होती है और उसका निर्णय सम्पूर्ण स्थिति का अध्ययन करके ही किया जा सकता है, जब कि राजनीतिक परिवेश इसका एक मात्र एक पहलू ही है।" तृतीय कानून सार्वभौम होता है और यह सभी पर समान दशाओं में लागू होता है। किन्तु नैतिकता निश्चयतः वैयक्तिक और असमान होती है। एक ही राज्य में विभिन्न प्रजातियाँ विभिन्न संहिताओं (Codes) का पालन कर सकती हैं, जैसा कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों विभिन्न प्रजातियाँ अपनी-अपनी संहिताओं का पृथक्-पृथक् पालन करती हैं। किन्तु कानून में नैतिकता जैसी वैयक्तिकता और असमानता नहीं है। यह सभी पर समान रूप से लागू होता है। सभी उसकी परिधि में आते हैं। मेकाइवर के शब्दों में "नैतिकता चयन-स्वतंत्रता पर आधारित है और आन्तरिक है जब कि वैधानिक कार्यों में चुनाव विषयक स्वतंत्रता के अवसर निश्चित मात्र भी नहीं हैं। कानून का कानून के रूप में पालन किया जाना आवश्यक है। यह चयन पर आधारित नहीं है।' चतुर्थ कानून का आधार आदर्श की अपेक्षा व्यावहारिकता और उपयोगिता पर है। उदाहरणार्थ, यातायात विधि। सड़क पर बाईं ओर चलने का नियम किसी आदर्श का प्रतीक नहीं हो सकता बल्कि दुर्घटनाओं से रक्षा करने के कारण इसे लागू किया गया है। नैतिकता आदर्शों की द्योतक होती है, यह सदा आदर्शों की द्योतक होती है, यह सदा आदर्शों को इंगित करती है–व्यक्ति को अमुक कार्य करना चाहिए। अन्त में, दोनों के कार्यान्वयन में भी विभेद है। कानून राज्य द्वारा कार्यान्वित किए जाते हैं और उनको भंग किए जाने पर दण्ड भी मिलता है। इस प्रकार कानून की आधार विधा शक्ति है। किन्तु नैतिकता राज्य द्वारा लागू नहीं की जाती और न ऐसा करना राज्य के लिए सम्भव ही हो सकता है। यदि किसी नैतिक आदर्श की अवहेलना होती है तो दण्ड का विधान नहीं है। इस प्रकार नैतिकता के पीछे कोई राज्य-बल नहीं है। सद् विवेक, ईश्वरीय कोप और और सार्वजनिक भर्त्सना का भय ही नैतिक कार्यों के सम्पादन के लिए विवश करता है। "सभी नैतिक उत्तरदायित्वों को कानूनी दायित्वों का रूप देने का अर्थ होगा—नैतिकता को विनष्ट करना।" न तो राज्य नैतिक आदेश दे ही सकता है और न हम राज्य द्वारा निर्दिष्ट नैतिकता को नैतिकता की संज्ञा प्रदान ही कर सकते हैं। नैतिकता स्वतः प्रेरित वस्तु है। उसका उद्गम अन्तःकरण से है। हमारी आन्तरिक निष्ठाओं का यह प्रतिरूप है।

—o—

अभिप्राय है, अपराध का निवारण। कठोर दण्ड का भय मनुष्य की अपराध प्रवृत्ति को रोकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड इतना कठोर हो कि मनुष्य दण्ड भय के कारण अपराध ही नहीं करे। दण्ड एक चेतावनी के रूप में हो जिससे कि अपराध ही नहीं हो सके।[1] और यह एक दृष्टान्त के रूप में भी हो जो शिक्षा का आधार बन सके। इसी कारण इसे दृष्टान्त सिद्धान्त (Theory of exemplary punishment) की संज्ञा देते हैं। प्राचीन और मध्ययुग में विशेषरूप से निवारक सिद्धान्त प्रचलित था। छोटे छोटे अपराधों के लिए भी कठोर दण्ड देने की प्रथा थी मौर्यकालीन भारत में साधारण चोरियों के लिए मृत्यु-दण्ड अथवा अंग-भंग का दण्ड दिया जाता था। चाणक्य ने १८ प्रकार के कठोर दण्डों की एक सूची बनायी थी जिसके आधार पर किंवप्रति एक नवीन कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी थी। इंगलैण्ड के मध्ययुग में भी गर्म लोहे से दागना, नाक-कान काट देना सार्वजनिक रूप से फाँसी देना या जीवित जला देना आदि कठोर दण्ड दिए जाते थे। निरोधात्मक सिद्धान्त का औचित्य एक न्यायाधीश के इस कथन से भलीभाँति सिद्ध होता है। उसने दण्ड की घोषणा करते हुए एक चोर से कहा "तुम्हें दण्ड इसलिए नहीं दिया जाता कि तुमने भेड़ चुरायी थी वरन् इसलिए दिया जाता है कि भेड़ों की भविष्य में चोरी न हो सके।"[2]

किन्तु यह सिद्धान्त भी दोषरहित नहीं है। इसके द्वारा अपराधी सुधरने की अपेक्षा और अपनी अपराध प्रवृत्ति में परिपक्व हो जाता है। यह सिद्धान्त अपराधी को साध्य न मानकर अन्य व्यक्तियों की शिक्षा का साधन मानता है। ग्रीन ने भी इसी आधार पर इसे अमान्य ठहराया है। यही नहीं इसके द्वारा दण्ड भी अपराध के मान से अधिक कठोर दिया जाता है। यह सिद्धान्त अन्य व्यक्तियों को अपराध से विरत करने में सफलीभूत भी नहीं हो सका।

---

1 "According to the preventive or deterrent theory, the aim of punishment is to prevent the criminal himself and others from committing similar offences in future to make the consequ nces of wrong doing so terrible that the offender would thereby be deterred from a repetition of this offence and others from any imitation of it." (Ibid)

2 That he was being punished not for having stolen the sheep but that sheep may not be stolen for future,"

सुधारात्मक सिद्धान्त (The Reformative Theory)—यह सिद्धान्त सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसका उद्देश्य अपराधी का सुधार करके राष्ट्र का एक उपयोगी नागरिक बनाना है। अपराध-सम्बन्धी विज्ञान (The Modern Science of Cremenology) ने अपराधों के कारणों की खोज करके यह सिद्ध कर दिया है कि अपराधी ही केवल अपराध के लिए उत्तरदायी नहीं है बल्कि यह सामाजिक वातावरण और मानसिक विकृति भी है जो उसे अपराध प्रवृत्ति की ओर विवश करती है। इसमें सच्चाई अधिक है कि अनेक अपराध व्यक्ति अपने चारों ओर व्याप्त दूषित वातावरण के कारण करता है। उदाहरणार्थ आर्थिक वैषम्य, बेकारी असुरक्षितता अवैज्ञानिक संवर्द्धन, सामाजिक परिस्थितियाँ आदि। अतः अपराध के दो कारण हैं—(१) सामाजिक विषमताएँ और (२) शारीरिक एवं मानसिक दौर्बल्य। इस प्रकार प्रत्येक अपराधी मानसिक रोग का शिकार है और हमारी सहानुभूति का पात्र है। हमें उन कारणों का अनुशीलन करना चाहिए, जिन्होंने उसे अपराध करने के लिए प्रोत्साहित किया है। हमें उसे तिरस्कृत उपेक्षित और परित्यक्त नहीं समझना चाहिए। उसे जीवन-निर्वाह के साधन देने चाहिए और उसकी मानसिक रुग्णता का समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। अतः दण्ड देने का परिणाम होगा कि वह अधिक पथभ्रष्ट और अनैतिक बने। इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य अपराधी को अपराध प्रवृत्ति से विमुख करना है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त के समर्थक जेलों को आदर्श गृह बनाने के पक्ष में हैं। अपराधी को सुधारने की दृष्टि से दण्ड देते समय हमें उसकी आयु, उसकी प्रेरक स्थिति, उसके उद्देश्य और अपराध की पुनरावृत्ति पर ध्यान देना चाहिए। साथ ही कारागार का वातावरण स्वस्थ, रोचक शिक्षाप्रद और स्नेहपूर्ण होना चाहिए। कारागार अपराधी की मानसिक रुग्णता के दूर करने में सहायक हों, तभी वांछित लक्ष्य की उपलब्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। उत्तर-प्रदेशीय सरकार के इस प्रकार प्रयोग कर रही है और ये प्रयोग कहाँ तक सफल होते हैं यह भविष्य ही बतलाएगा।

इस सिद्धान्त के आलोचकों का कथन है कि सभी अपराधी मानसिक रोगी नहीं होते और न उन्हें जेलों में सुखद वातावरण ही मिलना चाहिए, अन्यथा उनकी अपराध प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिलेगा। अतः राज्य का सुधारात्मक उद्देश्य के साथ-साथ निरोधात्मक उद्देश्य भी होना आवश्यक है। बोसांके (Bosanquet) के शब्दों में, दण्ड का अर्थ यह है कि अपराधी को यह अनुभूति हो कि भविष्य में, मैं केवल इसी कारण कोई अपराध नहीं करूँगा क्योंकि फिर से मैं उसके फलस्वरूप उत्पीड़न की अनुभूति करने को तत्पर नहीं हूँ, प्रत्युत

बिना किसी शर्त के तैयार हो गए। यद्यपि पुलिस इस सत्कार्य में अवरोधक रही और इस सामाजिक क्रान्ति का उसने स्वागत नहीं किया फिर भी, विनोबा का यह ऐसा अद्भुत प्रयोग था जो मानव-इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता।

वैसे अधिकांश राष्ट्र मृत्यु-दण्ड का औचित्य सिद्ध करते हैं और यह व्यवस्था वहाँ प्रतिष्ठित है। प्राण-दण्ड की अपनी एक उपादेयता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि जघन्य कृत्यों के लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था नहीं रहे तो निस्सन्देह हत्याएँ दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ हो जाएँगी और जीवन असुरक्षित हो जाएगा। मेरी दृष्टि में, दोनों विचार-सरणियों के सामंजस्य में ही इस समस्या का हल है।



सुधारात्मक सिद्धान्त (The Reformative Theory)—यह सिद्धान्त सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसका उद्देश्य अपराधी का सुधार करके राष्ट्र का एक उपयोगी नागरिक बनाना है। अपराध-सम्बन्धी विज्ञान (The Modern Science of Cremenology) ने अपराधों के कारणों की खोज करके यह सिद्ध कर दिया है कि अपराधी ही केवल अपराध के लिए उत्तरदायी नहीं है, बल्कि वह असामाजिक वातावरण और मानसिक विकृति भी है जो उसे अपराध प्रवृत्ति की ओर विवश करती है। इसमें सन्देह नहीं है कि अनेक अपराध व्यक्ति अपने चारों ओर व्याप्त दूषित वातावरण के कारण करता है। उदाहरणार्थ आर्थिक वैषम्य, बेकारी मानसिक सन्तुलन अस्तव्यस्त, सामाजिक परिस्थितियाँ आदि। अतः अपराध के दो कारण हैं—(१) सामाजिक विषमताएँ और (२) शारीरिक एवं मानसिक दौर्बल्य। इस प्रकार प्रत्येक अपराधी मानसिक रोग का शिकार है और हमारी सहानुभूति का पात्र है। हमें उन कारणों का अनुशीलन करना चाहिए, जिन्होंने उसे अपराध करने के लिए प्रोत्साहित किया है। हमें उसे तिरस्कृत उपेक्षित और अपवित्र नहीं समझना चाहिए। उसे जीवन-निर्वाह के साधन देने चाहिए और उसकी मानसिक दुर्बलता का समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। अतः दण्ड देने का परिणाम होगा कि वह अधिक पथभ्रष्ट और अनैतिक बने। इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य अपराधी को अपराध-प्रवृत्ति से विमुख करना है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त के समर्थक जेलों को आदर्श गृह बनाने के पक्ष में हैं। अपराधी को सुधारने की दृष्टि से दण्ड देते समय हमें उसकी आयु, उसकी प्रेरक स्थिति, उसके उद्देश्य और अपराध की पुनरावृत्ति पर ध्यान देना चाहिए। साथ ही कारागार का वातावरण स्वस्थ, रोचक शिक्षाप्रद और स्नेहपूर्ण होना चाहिए। कारागार अपराधी की मानसिक दुर्बलता के दूर करने में सहायक हों, तभी वांछित लक्ष्य की उपलब्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने इस प्रकार प्रयोग कर रही है और ये प्रयोग कहाँ तक सफल होते हैं यह भविष्य ही बताएगा।

इस सिद्धान्त के आलोचकों का कथन है कि सभी अपराधी मानसिक रोगी नहीं होते और न उन्हें जेलों में सुखद वातावरण ही मिलना चाहिए, अन्यथा उनकी अपराध प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिलेगा। अतः राज्य का सुधारात्मक उद्देश्य के साथ-साथ निरोधात्मक उद्देश्य भी होना आवश्यक है। बोसांके (Bosanquet) के शब्दों में, 'दण्ड का अर्थ यह है कि अपराधी को यह अनुभूति हो कि भविष्य में मैं केवल इसी कारण को" अपराध नहीं करूँगा क्योंकि फिर से मैं उसके फलस्वरूप उत्पीड़न की अनुभूति करने को तत्पर नहीं हूँ, प्रत्युत

इस कारण से भी कि अब मैं सचैतन्य हो गया हूँ और मैं यह सम्यक् रूपेण समझ गया हूँ कि ऐसी भूल करना अनुचित है।' ग्रीन का मत है कि वास्तविक सुधार तो स्वेच्छा अथवा आन्तरिक प्रेरणा से होता है।

तीनों सिद्धान्तों का सामञ्जस्य आवश्यक

यद्यपि सुधारात्मक सिद्धान्त को अधिक महत्त्व तथा प्राथमिकता मिलनी चाहिए, फिर भी, तीनों सिद्धान्तों का समन्वय एक सम्यक् दण्ड-सिद्धान्त के निर्धारण के लिए आवश्यक है। ग्रीन भी समन्वयवादी है जबकि वह प्रधानतः सुधारात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादक है। उसने उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों को उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त नहीं किया जैसा कि उल्लिखित है। उसके मतानुसार दण्ड का एक नैतिक उद्देश्य (Moral purpose) होता है और वह है एक रचनात्मक गुण (positive quality)। इसका अन्तिम ध्येय है कि समाज के प्रत्येक सदस्य की नैतिक इच्छा (Moral will) के लिए काम करने की स्वतंत्रता सुरक्षित रहे।[1] यदि अपराधी को यह अनुभूति होती है कि दण्ड के रूप में जो उसे उपलब्ध हुई है वह उसका पाप है और उसका अपना ही कार्य दण्डस्वरूप उस पर आ रहा है तो वह प्रतिकारात्मक हो जाता है। किन्तु जब वह अपने द्वारा किए गये कार्य के समाज विरोधी स्वरूप को जानकर प्रायश्चित्त करने लगता है तो वह सुधारात्मक हो जाता है। वास्तव रूप में दण्ड एक ऐसा आघात है जिससे अपराधी की इच्छा का सुधार होता है (or rather a shock which makes possible the criminal's reformation of his own will) इस अर्थ में दण्ड निरोधात्मक है और केवल बाधाओं को दूर करता है।[2]

मृत्यु दण्ड (Capital punishment)

मृत्यु-दण्ड जघन्यतम अपराध के लिए दिया जाता है। निःसन्देह यह शासन-सत्ता द्वारा अपराधी को जानबूझ कर हत्या कर देने की प्रथा है। प्राचीन छोटी आदिम प्रजातियों में मृत्यु-दण्ड कबीले के सदस्य पशु के वध, ईश्वरीय

---

1 'Its ultimate aim is to secure freedom of action for the moral will of every member of the community' (Green)

2 "Even in this latter aspect punishment is still 'a removal of obstacles' for the obstacles which the criminal opposes is not only a force, but a will" (Green)

बिना किसी शर्त के तैयार हो गए। यद्यपि पुलिस इस सत्कार्य में अवरोधक रही और इस सामाजिक क्रान्ति का उसने स्वागत नहीं किया, फिर भी, विनोबा का यह ऐसा अद्भुत प्रयोग था जो मानव-इतिहास में अन्यत्र नहीं मिलता।

वैसे अधिकांश राष्ट्र मृत्यु-दण्ड का औचित्य सिद्ध करते हैं और यह व्यवस्था वहां प्रतिष्ठित है। प्राण-दण्ड की अपनी एक उपादेयता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि जघन्य कृत्यों के लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था नहीं रहे तो निस्सन्देह हत्याएँ दिन-प्रतिदिन की घटनाएँ हो जाएँगी और जीवन असुरक्षित हो जाएगा। मेरी दृष्टि में, दोनों विचार-सरणियों के सामंजस्य में ही इस समस्या का हल है।